इकाई-1

भारतीय स्थापत्य (Indian Architecture)

कला से आशय (Meaning of Art)

विद्वानों के अनुसार 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति 'संस्कृत' की 'कल्' धातु से हुई है। इसका अर्थ 'संख्यान' से है। शब्द संख्यान का आशय है–स्पष्ट वाणी में प्रकट करना। यानी कला शब्द से यह अर्थ निकला कि जिसे स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया जा सके। तब हम कह सकते हैं कि कला ऐसी प्रक्रिया है जिसका प्रमुख लक्षण प्रकटीकरण है। ऐसी कृति का निर्माण जिससे कुछ प्रकट हो सके, कला है। कला का दूसरा अर्थ चंद्रमा के अंशों, शोभित होने या अलंकरण करने से है। इस शब्द के अंग्रेजी अनुवाद 'आर्ट' का आशय भी कौशल या निपुणता से है। इससे एक अर्थ यह निकाला जा सकता है कि कला में प्रकटीकरण, अलंकरण और कौशल की विशेषताएँ सम्मिलित होती हैं। कला की एक शाखा 'ललित कला' है। ललित कला से आशय सर्जनात्मक और सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से प्रेरित कला से है। इसमें ऐतिहासिक रूप से पाँच प्रकार की कलाओं चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, काव्य और स्थापत्य को रखा गया है। आधुनिक समय में इसे दृश्यकला और प्रस्तुतिपरक कला में विभाजित करते हुए इसमें फोटोग्राफी, वीडियो आर्ट, कैलीग्राफी आदि को शामिल कर लिया गया है। इनमें स्थापत्य कला का अपना ही महत्त्व है। इसे वास्तुकला भी कहा गया है।

वास्तु शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के शब्द 'वस्' से मानी गई है। इसका आशय बसने या रहने से है। इसी से वास, आवास, निवास आदि शब्द बने हैं। वास्तु शब्द का अर्थ भी इसी 'बसने की जगह' से है। 'स्थापत्य' शब्द वास्तु का ही पर्यायवाची है और दोनों ही शब्द पर्याप्त प्रचलित हैं। स्थापत्य शब्द का मूल भी संस्कृत में देखा जा सकता है। स्थापत्य 'स्थपति' से बना है। इसी से 'स्थिति, स्थावर, स्थान आदि शब्द विकसित हुये हैं। स्थपति द्वारा की गई रचना ही स्थापत्य है। देश में वास्तुकला का इतिहास काफी पुराना है। विद्वानों के अनुसार देश की प्राचीन पुस्तकों में से करीब 180 पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें स्थापत्य संबंधी बातों का दिशा-निर्देश दिया गया है। इनमें समरांगण-सूत्रधार, शिल्परत्नसार आदि प्रमुख हैं। पुराणों में भी वास्तुकला संबंधी सामान्य जानकारी मिलती है।

भारतीय स्थापत्य कला की विशेषताओं को उनके काल के संदर्भ में देखना ज्यादा उपयोगी होगा। इन विशेषताओं को निम्नलिखित काल खंडों में बांटा गया है।

सिंधु कालीन स्थापत्य (Indus Architecture)

हड़प्पाकालीन स्थलों से मिले प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यह सभ्यता वास्तुकला के क्षेत्र में अति उन्नत अवस्था में थी। सिंधु सभ्यता की नगर योजना में दुर्ग योजना, स्नानागार एवं अन्नागार जैसे विशाल भवनों की योजना से पता चलता है कि प्राचीन काल में ही भारत ने वास्तुकला के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। हड़प्पा सभ्यता के समकालीन अन्य सभ्यताओं में इतनी उन्नत नगर नियोजन व्यवस्था नहीं मिलती। नगर के सभी क्षेत्र एक-दूसरे के समांतर और सड़कें समकोण के आधार पर बनाई गई हैं। आधुनिक वास्तुकला में इसे 'ग्रिड प्लानिंग' की संज्ञा दी गई है। इन्हीं क्षेत्रों में आवासीय सुविधा का विकास किया गया। भवनों में पक्की और निश्चित आकार की ईंटों के प्रयोग के अलावा लकड़ी और पत्थर का भी प्रयोग है। कुछ मकान दोमंजिला हैं और उनमें बरामदे एवं कई कमरे बने हैं। बरामदा घर के बीचोंबीच बनाया गया और कमरों के द्वार इसी बरामदे की ओर खुलते हैं। नगर के गंदे पानी की निकासी के लिए ढंकी हुई नालियां बनाई गयीं और इन्हें परस्पर जोड़ा गया। इससे प्रत्येक घर के पानी की निकासी मुख्य नाले से जुड़ गई। हड़प्पा सभ्यता के नगरीय क्षेत्र के दो हिस्से हैं–एक दुर्ग का तथा दूसरा निचला हिस्सा। धौलावीरा में ऐसे तीन स्तर मिले हैं–निचला, मध्य और दुर्ग स्तर। दुर्ग नगर के पश्चिम में है। इसकी दीवारें मोटी थीं और जिनके बीच-बीच में बुर्ज बनाये गये। मोहनजोदड़ो में मिला विशाल जलाशय/स्नानागार बहुत प्रसिद्ध है। यह 39 फुट लंबा, 23 फुट चौड़ा और 8 फुट गहरा है। इसके किनारे कुछ कमरे बने हैं जिनमें संभवतया स्नान के बाद वस्त्र बदले जाते होंगे। जलाशय का फर्श पक्का और चूने के प्लास्टर से युक्त है। इसमें उतरने के लिए उत्तर एवं दक्षिण दिशा में सीढ़ियां बनी हैं।

इस सभ्यता की कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना कमर पर हाथ रखे लड़की की लघु कांस्य मूर्ति है, जिसने अपने हाथों में एक कटोरा पकड़ा हुआ है। इसके अलावा एक व्यक्ति संभवतया 'एक पुजारी की मूर्ति' का ऊपरी हिस्सा मिला है जिसमें ऊँचा सिर और कंधा, जिसके चेहरे पर छोटी सी दाढ़ी और बारीक कटी हुई मूंछें हैं तथा उसका शरीर एक शॉल में लिपटा है जो बाएं कंधे के ऊपर और दाईं बाँह के नीचे से होकर गया है। **टेराकोटा** की कई वस्तुएं मिली हैं जिनमें छोटे-छोटे खिलौने जैसी कई तरह की आकृतियाँ और अलग-अलग आकारों के बर्तन मिले हैं। इन बर्तनों पर प्राकृतिक आकृतियाँ बनाई गयी हैं। हड़प्पा सभ्यता में मिलीं मुहरों का आकार प्रायः चौकोर है जिनमें कई प्रकार की आकृतियाँ मिलती हैं। कुछ मुहरों में बैल तथा अन्य मुहरों में दूसरे जानवरों की आकृतियाँ बनाई गयी थीं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मौर्य कालीन स्थापत्य *(Mauryan Architecture)*

प्रथम मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल से भारतीय स्थापत्य में उन्नति होनी प्रारंभ हो गई। उसके दरबार में रहे यूनानी राजदूत 'मेगास्थनीज' ने लिखा है कि पाटलीपुत्र में चंद्रगुप्त मौर्य का महल समकालीन 'सूसा' साम्राज्य के प्रासाद को भी मात करता है। तीसरे मौर्य सम्राट अशोक महान के शासनकाल में भारतीय स्थापत्य का नया इतिहास रचा गया। अशोककालीन स्थापत्य में राज्याश्रित कला में स्तंभ लेख, शिलालेख, स्तूप एवं गुफाएँ तथा लोककला में कुछ अन्य प्रकार की मूर्तियाँ आदि शामिल हैं। इनके विशेष अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें यहां अलग-अलग बिंदुओं में बांटा गया है-

A. महान अशोक की सात स्तंभ राजाज्ञों (Seven Pillar Edicts) वाले स्तंभों की संख्या तीस तक बताई गयी है लेकिन अभी तक कुछ ही ऐसे स्तंभ मिले हैं। इन स्तंभों की भाषा प्राकृत और लिपि ब्राह्मी है। इन स्तंभों पर एक खास तरह की पॉलिश 'ओप' की गई है जिससे इनकी चमक धातु जैसी हो गई। पॉलिश की यह कला समय के साथ विलुप्त हो गई। कुछ विद्वानों का मानना है कि पत्थरों की विशेष घिसाई के कारण उनमें चमक आ गई है। इन स्तंभों की अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. हरियाणा के अंबाला जिले के तोपरा गाँव में मिला स्तंभ एकमात्र ऐसा स्तंभ है जिसपर अशोक की सातों राजाज्ञायें एक साथ मिलती हैं। जबकि कुछ स्तंभों पर इससे कम राजाज्ञायें यानी किसी पर छह तो किसी पर पाँच या चार राजाज्ञायें ही देखने को मिलती हैं। इस स्तंभ को दिल्ली सल्तनत के तुगलक वंश का सुल्तान फिरोज शाह तुगलक दिल्ली ले आया था। मेरठ में मिले स्तंभ में केवल एक से छह तक ही राजाज्ञों का उल्लेख है। इस स्तंभ को भी फिरोज शाह तुगलक ने दिल्ली मंगवा लिया था। इलाहाबाद में मिले स्तंभ लेख को इलाहाबाद-कोसम, प्रयाग स्तंभ, रानी राजाज्ञायें, कौशांबी स्तंभ भी कहा जाता है। यह स्तंभ पहले कौशांबी (कोसम) में स्थित था। इसमें एक से छह तक ही राजाज्ञायें मिलती हैं। इसी स्तंभ पर गुप्त वंश के प्रतापी शासक समुद्रगुप्त ने अपनी विजयों का वर्णन किया है। इस पर मुगल बादशाह जहांगीर के बारे में भी जानकारी उत्कीर्ण है। बिहार के चंपारण में तीन जगहों से लौरिया नंदनगढ़, लौरिया अराराज और रामपुरवा से जो स्तंभ लेख मिले हैं उन सभी पर एक से छह राजाज्ञायें उत्कीर्ण हैं। कंधार (अफगानिस्तान) में मिले स्तंभ में केवल सातवीं राजाज्ञा का उल्लेख मिला है जबकि वैशाली (बिहार) में मिले स्तंभ में राजाज्ञा उत्कीर्ण नहीं है। इसके अलावा सांची (रायसेन, मध्यप्रदेश) सारनाथ (वाराणसी) संकिस्सा (फर्रुखाबाद) आदि जगहों से भी स्तंभ लेख मिले हैं। दो लघु स्तंभ लेख नेपाल के रूपानदेई जिले के लुम्बिनी (रूमन्नदेई) और निगालीसागर (निगलीवा) में मिले हैं।
2. इन स्तंभों पर जो राजाज्ञायें लिखीं हैं वे सभी 'देवानांमप्रिय राजा पियदस्सी' (Beloved-of-the-Gods, King Piyadasi) से शुरु होती हैं। यानी उनमें अशोक महान का नाम नहीं है। ऐसा केवल दो जगहों पर रायचूर कर्नाटक के मास्की और दतिया (मध्य प्रदेश) में मिले गुर्जरा लघु शिलालेख में है। इसी से यह स्पष्ट हुआ कि देवानांमप्रिय राजा पियदस्सी कोई और नहीं बल्कि स्वयं अशोक ही है।
3. पहली राजाज्ञा में धम्म का संरक्षण, धम्म के जरिए प्रसन्नता का संदेश दिया गया है। दूसरी राजाज्ञा में धम्म क्या है, यह बताया गया है। तीसरे में अशोक लोगों का आह्वान करता है कि वे खुद के पापों और हिंसा की ओर देखें। चौथे में अशोक राज्जुकों की नियुक्ति के बारे में लोगों को बताते हुए कहता है कि उन्हें कल्याण और देश के लोगों की खुशी के लिए नियुक्त किया गया है। पाँचवें में वह कुछ पशुओं और पक्षियों को मारने पर प्रतिबंध और उपोस्थ आदि पर्वों के अवसर पर ऐसे ही कुछ और निषेध एवं बंदियों को माफी देने की घोषणा करता है। छठे में अशोक इन धम्म राजाज्ञाओं का उद्देश्य स्पष्ट करता है। सातवीं और अंतिम राजाज्ञा में वह धम्म और उसके विधान के बारे में विस्तार से बताता है।
4. ये स्तंभ मिर्जापुर (उ. प्र) के चुनार के लाल पत्थरों से बनाये गये और वहीं से देश के बाकी हिस्सों में पहुँचाये गये। इनकी ऊँचाई 35 से 50 फुट तक और वजन 50 टन तक का है। ये स्तंभ एक ही शिला को काट कर बनाये गये हैं यानी इनमें कहीं जोड़ नहीं है। मोमबत्ती के शक्ल वाले ये स्तंभ आधार की तरफ मोटे और ऊपर की तरफ क्रमशः पतले होते गये हैं। लाट की टीक के ऊपर इकहरी या दोहरी मेखला होती है। मेखला के ऊपर की आकृति उल्टे एवं खिले हुए कमल के फूल की तरह बनाई गई और उसकी पंखुड़ियों में अलंकरण किया गया। इसे बैठकी या घंटाकृति कहा गया है। फूल के सिरे पर बनी आकृति को कंठा या कंठी और उसके ऊपर तथा थोड़ी बड़ी आकृति को चौकी कहते हैं। इसी चौकी पर बने शीर्ष पर पशुओं की आकृति बैठाई गयी। इन पशुओं में संकिस्सा का हाथी, रामपुरवा के दो स्तंभों में एकल सिंह और बैल तथा अन्य प्रकार की पशु आकृति मिलती है। इन पशु आकृति में सबसे महत्वपूर्ण आकृति सारनाथ से मिले चार सिंहों के शीर्ष की है जिसे बाद में भारत सरकार ने राष्ट्रीय चिह्न के रूप में भी अपनाया। यह स्तंभ अशोक ने भगवान बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश के स्मारक के रूप में लगाया था। इसकी सिंह आकृतियों के थोड़ा ऊपर एक धर्मचक्र भी बना था लेकिन वह अब टूट चुका है। इसकी गोल चौकी पर चार धर्मचक्र अंकित है और उनके बीच में चार पशु घोड़ा, हाथी, सिंह और बैल अंकित हैं जो कि चार दिशाओं में दौड़ रहे हैं। इन मूर्तियों की सबसे बड़ी विशेषता उनका प्राणवान अंकन है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

B. बौद्ध ग्रंथ 'महावंश' के अनुसार अशोक ने 84 हजार स्तूप बनवाये। स्तूप का आशय एक समाधिनुमा निर्माण से है जिसमें मृत व्यक्ति के अवशेष रखे जाते हैं जैसे मिस्र के पिरामिडों में मृतक का लेप किया हुआ पूरा शरीर रखने की परंपरा थी। भारत में भी ऐसा किया गया पर अंतर यह था कि यहाँ पर मृतक के शरीर के बजाए उसके अवशेष ही लिये गये। स्तूप का मूल ढांचा 'उल्टी कटोरी' की तरह होता है, जिसे गर्भगृह कहते हैं। इस गर्भगृह के शिखर पर चौकोर आकृति 'हर्मिका' बनाई जाती है। इसी हर्मिका में प्राय: अवशेष रखे गये। गर्भगृह का चक्कर लगाने के लिए एक परिक्रमा पथ 'मेधि' बनाया जाता है। इस मेधि तक पहुँचने के लिए सीढियां होती हैं। स्तूप के चारों ओर एक घेरा होता है जिसे 'वेदिका' कहते हैं। इसी वेदिका के चारों दिशाओं में अलंकृत 'तोरण द्वार' बनाये जाते हैं। हाल ही में एक विश्व शांति स्तूप (Vishwa Shanti Stupa/ World Peace Pagoda) दिल्ली में सराय काले खां के पास मिलेनियम इंद्रप्रस्थ पार्क (2008) में बनाया गया है। स्तूप कई प्रकार के भी होते हैं। तिब्बती बौद्ध धर्म में बुद्ध के जीवन से जुड़ी घटनाओं के आधार पर आठ प्रकार के स्तूपों का वर्णन है। स्तूप का एक और प्रकार 'कालचक्र स्तूप' ऐसा स्तूप होता है कि जिसका महात्मा बुद्ध के जीवन से कोई संबंध नहीं होकर वह तंत्रवाद से संबंधित होता है। गौरतलब है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अवशेषों को आठ भागों में बांट कर उन्हें विभिन्न जगह भेजा गया और उन अवशेषों पर स्तूप बनवा दिये गये थे। अशोक महान ने इन्हें दोबारा बाहर निकलवाया और फिर इनके कई अन्य स्तूप बनवाये। अशोक के समय के प्रसिद्ध स्तूप 'सांची का स्तूप' और 'भरहुत' के स्तूप हैं। इनके तोरणों पर बुद्ध के जीवन से संबंधित घटनाओं का अंकन किया गया है।

C. मौर्य शासकों ने बिहार के जहानाबाद में कुछ गुफाओं का निर्माण करवाया। ये गुफाएँ बराबर पहाड़ी और नागार्जुनी पहाड़ियों के एक हिस्से को खोदकर बनाई गयी हैं। अशोक महान ने बराबर पहाड़ी गुफा में चार गुफाएँ लोमश ऋषि गुफा, कर्णचौपड़ और विश्व झोपड़ी गुफा जबकि अशोक के पौत्र दशरथ ने नागार्जुनी पहाड़ी में तीन गुफाएँ गोपी, वदथीक का कुभा, वहिजक या वापिया का कुभा बनवाई। ये गुफाएँ आजीवक संप्रदाय के लोगों को दान दी गई। इससे मौर्य शासकों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पता चलता है। इनमें लोमश ऋषि की गुफा का स्थापत्य की दृष्टि से ज्यादा महत्त्व है। इसमें प्राचीनतर दारूकार्य (काष्ठ) का पत्थर के माध्यम में विस्तार है। नागार्जुनी गुफाओं में मौखरी शासक अनंतवर्मन का भी लेख उत्कीर्ण है।

D. मौर्य काल में शासकीय कला के अलावा लोककला के उन्नत होने के भी प्रमाण मिलते हैं। इस काल में मंदिर निर्माण का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है और न ही हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण का साक्ष्य मिला है। इस लोककला में यक्ष और यक्षिणी की मूर्तियाँ प्रमुख हैं। ये मूर्तियाँ मथुरा, बेसनगर, शिशुपालगढ़ (ओडिशा) आदि जगहों से मिली हैं। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध दीदारगंज से मिली और पटना संग्रहालय में रखी 'चंवर धारिणी' यक्षिणी की मूर्ति है। इस मूर्ति में नारी अंगों में लालित्य बहुत दक्षता के साथ उकेरा गया है। उसके दाएं हाथ में चंवर है और बाल ढंग से काढ़े गये हैं। कमर में पाँच लटों वाली मेखला बांधी गयी है और उसकी गर्दन, शीर्ष, पैरों, कानों हाथों में आभूषणों का अंकन किया गया है। यह प्रतिमा कटि से ऊपर वस्त्र विहीन है जबकि पैरों में पहने वस्त्रों में चुन्नटें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। इनके अलावा टेराकोटा की भी कुछ मूर्तियाँ एवं जैन तीर्थंकरों की भी मूर्तियाँ मिली हैं।

> *टेराकोटा (Terra-cotta) इतालवी भाषा का शब्द है। इसका आशय है 'पकी हुई मिट्टी'। इसका शाब्दिक अर्थ अग्नि में पकाई गई किसी भी प्रकार की मिट्टी है। साधारण प्रयोग में टेराकोटा का अर्थ ऐसी वस्तु से है, जिसे अपरिष्कृत और रंधित मिट्टी से बनाया जाता है। जैसे बर्तन, प्रतिमा या कोई संरचना। इस प्रकार बनी वस्तुओं को आग में पकाने के बाद उनका रंग हल्का गेरुआ लाल हो जाता है। इनमें चमक नहीं होती। टेराकोटा की बनी वस्तुएं सस्ती, बहुउपयोगी तथा टिकाऊ होने के कारण लोकप्रिय हैं।*

शुंग- सातवाहन-कुषाण काल *(Shunga-Satvahna-Kushana Period)*

शुंग-सातवाहन काल में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनों धर्मों से संबंधित स्थापत्य कलाकृतियों की रचना हुई। मौर्यकाल में भवनों के निर्माण में काष्ठ, कच्ची ईंटों एवं मिट्टी का प्रयोग हुआ है लेकिन शुंग-सातवाहन काल में इस परंपरा में बदलाव आया और इनकी जगह पत्थर प्रयुक्त होने लगे। मौर्यकाल में हमें शैल उत्कीर्णन के कुछ उदाहरण तो प्राप्त होते हैं लेकिन यह काम विशद रूप में शुंग-सातवाहन काल में हुआ। मौर्यकालीन प्रस्तर स्तंभ कला का प्रयोग इस काल में भी जारी रहा जैसा कि हम हेलियोडोरस के स्तंभ में देखते हैं लेकिन उनमें मौर्यकालीन प्राणवान अंकन नहीं है। दूसरा अहम बदलाव यह हुआ कि मौर्यकालीन कला मुख्यत: राजकीय है लेकिन शुंग-सातवाहनों में कला का विषय राजकीय से हटकर लोककलाओं या आम जीवन के ज्यादा नजदीक हो गया। एक नजरिए से इस काल की कला मौर्यकाल की कला का विस्तार भी है। जिन स्तूपों का निर्माण मौर्य युग में होना प्रारंभ हुआ था अब उनके अलंकरण का काम इस युग में होना शुरु हुआ। जैसे सांची, भरहुत और बोध गया के स्तूपों के तोरणों आदि में गहन अलंकरण इस काल की देन है। कार्ले, भाजा, अजंता आदि जगहों पर कला के नए स्वरूप पल्लवित हुये। इस युग के शिल्पकारों ने पहले दौर में मनुष्य, फूल, पत्ती और पशु-आकृतियों का अधिक प्रयोग किया और इस युग के उत्तरार्द्ध में मूर्तिकला पर ज्यादा

Copyright– Drishti The Vision Foundation

[illegible] काल में महात्मा बुद्ध की मूर्तियों या हिन्दू मंदिरों का निर्माण नहीं हुआ। यह परंपरा इस काल में भी जारी रही और [illegible] निर्माण के बजाए उनसे जुडे धार्मिक प्रतीकों जैसे चक्र, पीपल का पेड, बुद्ध के जन्म एवं जीवन से जुड़ी अन्य [illegible]तिक कथाओं का अंकन हुआ।

[illegible] शासकों ने बुद्ध धर्म को संरक्षण दिया लेकिन शुंग वंशीय शासकों ने इन नीतियों में परिवर्तन करके ब्राह्मण धर्म को प्रश्रय [illegible] की तुलना में बौद्ध धर्म का संरक्षण बेहद कम होने का प्रभाव कला पर भी पड़ा। हालाँकि सांची आदि जगहों के [illegible] अलंकरण इसी युग में हुआ लेकिन ऐसे कार्यों में मौर्यकालीन उत्साह नहीं दिखता। अशोक के काल में बना सांची का [illegible] केवल ईंटों का था बाद में शुंग राजाओं ने उसके चारों ओर पत्थर की वेदिका बनवा दी और सातवाहन राजाओं ने इसके तोरणद्वार [illegible]वा दिये। इन अलंकरणों की विषयवस्तु बुद्ध के जीवन और उनके पूर्व जन्मों सम्बंधी गाथाएं, मायादेवी का स्वप्न, जेतवन दान, जातक कथाएं, पारिवारिक दृश्य, अनेक प्रकार के पशु, नृत्य आदि के दृश्य हैं। इनके अलावा गजलक्ष्मी, मोटे पैरों वाले बौनों, यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियाँ, इंद्रसभा की अप्सराएँ, देवता एवं नाग संबंधी कलाकृतियां मिली हैं।

सांची के समकालीन कला की उत्कृष्टता का महत्त्वपूर्ण उदाहरण ओडिशा के जैन धर्म संरक्षक राजा खारवेल के युग में जैन श्रमणों के लिए भुवनेश्वर के निकट बनाई गयीं उदयगिरि और खंडगिरि की गुफाएँ हैं। उदयगिरि की पहाड़ी में 18 गुफाएँ और खंडगिरि में 15 गुफाएँ बनाई गयीं। हालाँकि जानकारों में इनकी संख्याओं को लेकर मतभिन्नता बनी है। दूसरे मतानुसार इनकी संख्या क्रमशः 19 और 16 है। इनमें कई गुफाएँ प्राकृतिक हैं और कुछ पत्थरों को काट कर बनाई गयीं हैं। यहाँ उकेरे गये शिलालेखों में इन गुफाओं को 'लेना' कहा गया है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में बनीं उदयगिरि की गुफाएँ लगभग 135 फुट और खंडगिरि की गुफाएँ 118 फुट ऊंची हैं। ये गुफाएँ ओडीशा क्षेत्र में बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रभाव को दर्शाती हैं। इनमें से अधिकतर गुफाएँ लंबाई में छोटी हैं और इनका प्रयोग केवल सोने के लिए होता था। अलग-अलग गुफाओं पर उनके राजकीय संरक्षकों के नाम उत्कीर्ण हैं। उदयगिरि गुफाओं में रानीगुम्फा या रानी नूर गुफा ध्वनि संतुलन की विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध है और समझा जाता है कि इसका प्रयोग मंत्रोच्चार के लिए और नाट्य प्रदर्शनों के लिए किया जाता है। यहाँ पर रथ पर सवार सूर्य देवता की भी मूर्ति है। दीवारों पर चित्र-बेलें और प्रवेश स्थल पर दो संतरियों की मूर्तियों सहित इसमें कुछ सुंदर वास्तुकला के दृश्य हैं। अन्य गुफाओं के नाम बाजाघर, छोटा हाथी गुम्फा, जय-विजय गुम्फा, पनासा गुम्फा, ठकुरानी गुम्फा, गणेश गुम्फा, मंचापुरी, स्वर्गपुरी, पातालपुरी गुम्फा आदि हैं। हाथीगुम्फा में ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण राजा खारवेल का शिलालेख मिला है। इसी प्रकार खंडगिरि की गुफाओं के नाम तातोवा, अनंत, तेनतुली, ध्यान, नयमुनि, बाराभुजा, त्रिशूल, अम्बिका और ललतेंदुकेसरी गुम्फा आदि हैं।

इसी तरह पश्चिमी भारत में स्थापत्य कला का बहुत विकास हुआ। यहाँ के काठियावाड़ इलाके में मिली बौद्ध गुफाएँ सबसे प्राचीन हैं। इसके बाद खंभात की खाड़ी के पार के इलाके में कला-सौष्ठव से युक्त गुफाओं का निर्माण हुआ। ये गुफाएँ हीनयान और बाद में महायान संप्रदाय के श्रमणों के अधिकार में आई। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पुणे के लोनावला इलाके में सह्याद्रि की पहाडियों में कार्ले (या कार्ला) एवं भज (या भाजा), औरंगाबाद जिले (महाराष्ट्र) में अजंता (या अजिंठा) आदि क्षेत्रों में गुफाएँ हैं। ईसा की पहली सदी के आसपास यह क्षेत्र दक्षिण और उत्तर भारत के बीच की कड़ी के रूप में माना गया। इसी क्षेत्र से व्यापारिक मार्ग गुजरते थे। भारत के सबसे बड़े चैत्यों या पूजागृहों में शामिल कार्ले का चैत्य करीब 45 मीटर लंबा, 15 मीटर चौड़ा और 14 मीटर ऊँचा है। इसके मुख्य कमरे में स्त्री, पुरुष सहित शेर एवं हाथी का अलंकरण मिलता है। कार्ले के परिसर में कुछ अन्य चैत्य और विहार (आवासीय क्षेत्र) भी मिले हैं। इसके निकट ही बनीं भज की गुफाओं में निर्मित चैत्य एवं विहार एवं इसके आसपास बने अन्य चैत्य और जल संग्रहण का तरीका पोडिस (podhis or water cisterns) भी उत्कृष्ट स्थापत्य का नमूना हैं। इसी तरह वहाँ पर कोंडन, बेडसे और जुन्नार में विहार एवं चैत्य हैं। जुन्नार की गुफाओं में मूर्तियाँ नहीं हैं केवल कुछ गुफाओं में श्रीलक्ष्मी, कमल, गरुड़ आदि आकृतियों का अलंकरण दिखता है। पुणे के निकटवर्ती जिले औरंगाबाद में अजंता और पीतलखोरा की गुफाएँ मिली हैं। अजंता में कुल 29 गुफाएँ हैं जिनमें चार चैत्य और 25 विहार हैं। इनमें गुफा संख्या दस सबसे प्राचीन है। अजंता से दक्षिण-पश्चिम में 50 मील दूर सातमाला की पहाड़ियों में पीतलखोरा की गुफाएँ मिली हैं। इस चैत्य में लकड़ी का भी प्रयोग किया गया था।

कुषाण काल में मूर्ति कला के दो प्रमुख स्कूल या पद्धतियां विकसित हुई। इन्हें गंधार कला (या गांधार कला) और मथुरा कला कहा गया। इनका विवरण इस प्रकार है-

गंधार कला *(Gandhar Art)*

पहली सदी से लेकर तीसरी सदी तक का इतिहास उथल पुथल भरा रहा है। राजनीति में नई शक्तियों के आगमन और धर्म के क्षेत्र में आये परिवर्तनों ने कला क्षेत्र पर भी प्रभाव डाला। विदेशी शासकों के भारत में आगमन और यहाँ बस जाने के कारण दो बातें हुईं। एक तो यह कि अनेक यवन जातियाँ भारतीय धर्मों में दीक्षित होने लगीं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण ग्रीक राजदूत हेलियोडोरस का विदिशा में लगा वह स्तंभ है जिसमें वह खुद को 'भागवत' कहता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि भारतीय संस्कृति और कला का भारत से बाहर प्रचार होने लगा। उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में ग्रीकों का शासन स्थापित होने के बाद यवन देशों से संपर्क की आवृति बढ़ गई। इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में अफगानिस्तान और पश्चिमी पंजाब के बीच के बसे गंधार या आज

के पेशावर से लेकर जलालाबाद तक के क्षेत्र में विकसित हुई कला की शैली को 'गंधार शैली' कहा गया। यानी यह शैली ऐसी है जिसमें हिन्दुस्तान और ग्रीक कला दोनों के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। इस युग में विकसित वास्तु की दृष्टि से तक्षशिला का महत्त्वपूर्ण स्तूप 'धर्मराजिका' या चीरस्तूप है। दूसरा महत्त्वपूर्ण स्तूप 'मणिक्याला का स्तूप' है। वास्तुकला की दृष्टि से तक्षशिला के सिरकप और सिरमुख क्षेत्र महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। सिरकप में दो सिर वाले गरुड़पंक्षी देवालय को हिन्द-यूनानी स्थापत्य के प्राचीनतम नमूनों में एक माना जाता है। इसी तरह तक्षशिला में मिला 'जांडियाल का मंदिर' तख्त-ए-बाही का बौद्ध स्तूप भी स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पाकिस्तान के पेशावर क्षेत्र में शाहजी की ढेरी से भी हिन्द-यूनानी स्थापत्य प्रभावों से युक्त बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले हैं।

स्थापत्य के अलावा इस शैली में बनी मूर्तियाँ हिन्दूकुश की पहाड़ियों से लेकर मथुरा तक पर्याप्त संख्या में मिली हैं। कुषाण काल में इस शैली में बनी मूर्तियाँ संख्या और गुणवत्ता की दृष्टि से ज्यादा उत्कृष्ट हैं। इस शैली का प्रमुख विषय महात्मा बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ हैं। कई विद्वान महात्मा बुद्ध की पहली मूर्ति के निर्माण का श्रेय गंधार कला को ही देते हैं। इनके अनुसार बुद्ध की पहली मूर्ति इसी शैली में बनी और इसी का अनुसरण मथुरा एवं अन्य कलाओं में किया गया। कुछ विद्वान इससे असहमत हैं। गंधार शैली में बुद्ध के जीवन की घटनाएँ और बौद्ध धर्म से जुड़ी कथाओं के विषय आदि से ही इस कला को विस्तार मिला। इस कला की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. मूर्तियों में महात्मा बुद्ध और बौद्ध धर्म संबंधी विषयों से प्रेरणा दिखाई पड़ती है। इस कला में तत्कालीन जैन और ब्राह्मण धर्म से संबंधित मूर्तियों संबंधी प्रमाण नहीं हैं।
2. मूर्तियों में ग्रीक शिल्प केवल बाहरी प्रभाव में परिलक्षित होता है जबकि मूर्ति के आंतरिक और बाह्य भावों में भारतीय पक्षों की अधिकता है। यानी मूर्तियों की मुद्राएं तो बौद्ध हैं लेकिन उनका चित्रण ग्रीक से प्रेरणा पाता है। जैसे बुद्ध कमलासन में बैठे हैं लेकिन उनके हाव-भाव ग्रीक देवताओं जैसे हैं।
3. इस शैली के मूर्तिकारों ने 'भूरे एवं धूसर' पत्थरों का प्रयोग किया है हालांकि कुछ उदाहरण चूना और बालू के मिश्रण से तैयार मूर्तियों के भी मिलते हैं।
4. इस शैली में ऊँचे घुटने तक के जूते, चुन्नटों वाले वस्त्र, महीन सलवटों वाले वस्त्र की सज्जा का प्रयोग किया गया है।
5. गंधार कला में अलंकरण की प्रवृत्ति ज्यादा मिलती है। इस कला में महात्मा बुद्ध का स्वरूप आध्यात्मिक न होकर राजसी ज्यादा प्रतीत होता है। अन्य प्रकार की मूर्तियों में इसी राजसी वैभव के दर्शन होते हैं।
6. महात्मा बुद्ध की मूर्तियों में मूंछें भी उकेरी गयी हैं। यह एक विशिष्ट लक्षण है जो किसी अन्य भारतीय मूर्तिकला में मिलना दुर्लभ है। इसी तरह उनके होठ मोटे बनाए गये हैं।
7. बालों को जटाओं के बजाए घुंघराला स्वरूप दिया गया है। केश सज्जा का विधान भी विशिष्ट है।
8. गंधार की मूर्तियों में 'प्रभामंडल' बनाया गया। भारतीय मूर्तिशिल्प में यह नया कदम आगे चलकर बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ और इसने चित्रकारी की कला में लोगों को चित्रांकन में प्रभामंडल बनाने की प्रेरणा दी।
9. ग्रीक कला में देवताओं की मूर्तियाँ शारीरिक सौष्ठव से युक्त बनाई गयीं। इसका प्रभाव गंधार कला पर भी दिखता है। महात्मा बुद्ध कृशकाय नहीं बनाये गये अपितु उनकी कद काठी मजबूत रखी गयी। शरीर और मुखमंडल को संतुलित बनाने के कारण चेहरे पर आध्यात्मिक भाव नहीं आये हैं।

मथुरा कला *(Mathura Art)*

प्राचीन काल के शौरसेन या आधुनिक मथुरा के क्षेत्र में विकसित हुई इस शैली को क्षेत्र के नाम पर ही 'मथुरा कला' कहा जाता है। इस कला शैली का सर्वाधिक विकास कुषाण काल में हुआ। यहाँ की कला शैली में बौद्ध धर्म के अलावा ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म से संबंधित मूर्तियाँ भी मिलती हैं। जहाँ गंधार कला में विदेशज प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है वहीं मथुरा कला में भारतीय प्रकार की परंपरागत शैली सामने आई। मथुरा कला में भारतीय आदर्शमयता, भावों का चित्रण और कल्पना का आयाम सभी पूर्णरूप से भारतीय हैं। इस शैली की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. मथुरा की कुषाणकालीन मूर्तियों का विषय बौद्ध ही रहा है लेकिन इसके साथ-साथ लोकजीवन भी इन मूर्तियों में बहुतायत में दिखाई पड़ता है।
2. मथुरा की मूर्तियाँ वहीं आसपास मिलने वाले सफेद चित्तीदार लाल रवेदार पत्थर से बनाई गयी हैं।
3. गंधार कला में बुद्ध की जो बैठी हुई मूर्तियाँ मिली हैं वे ज्यादातर पद्मासन या कमलासन पर हैं जबकि मथुरा कला शैली में बनाई गयी बुद्ध की मूर्तियों में उन्हें सिंहासन पर आसीन दिखाया गया है और पैरों के समीप सिंह की आकृति बनाई गयी है।
4. इस शैली में बनी मूर्तियों का कमर से ऊपर का हिस्सा वस्त्र विहीन है जबकि हस्त अभय मुद्रा में है। मूर्तिकार ने जो वस्त्र पहनाए हैं उनमें सिलवटें स्पष्ट दिखती हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

5. गंधार शैली की तरह आभामंडल का तरीका इस शैली में भी बनाया गया लेकिन यह आभामंडल गंधार शैली की तरह अलंकृत नहीं है।
6. मूर्तियों में भाव की कल्पना और अलंकरण पूरी तरह भारतीय है।
7. मथुरा शैली में वेदिकाओं में बनाई गयी यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियों का बौद्ध धर्म से कोई संबंध नहीं है और उनके विषय प्रायः प्रधान हैं। ऐसी ही एक मूर्ति 'प्रसाधिका की मूर्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।

जिस समय में गंधार और मथुरा शैली पनप रही थीं उसी समय लगभग 200 ई.पू. में दक्षिण भारत में अमरावती नामक स्थान स्थापत्य और मूर्ति शिल्प के रूप में उभर रहा थीं। वर्तमान में यह क्षेत्र आंध्र प्रदेश के गुंटूर जिले में स्थित है। यहाँ की मूर्तिकला अपनी विशिष्टता और उत्कृष्ट कला-कौशल के कारण काफी प्रसिद्ध हुई है। अमरावती के विशाल स्तूप या स्मृति-टीले के खंडहरों के साथ-साथ यह शैली आंध्र प्रदेश के जगय्यापेट, नागार्जुनकोंडा और गोली में तथा महाराष्ट्र राज्य के 'तेर के स्तूप' के अवशेषों में भी देखी जाती है। यह शैली श्रीलंका (अनुराधापुरा में) और दक्षिण-पूर्व एशिया के कई भागों में भी फैली हुई है।

इस शैली के तहत बने अमरावती स्तूप का निर्माण लगभग 200 ई.पू. में प्रारंभ किया गया था और उसमें कई बार नवीनीकरण तथा विस्तार हुए। यह स्तूप बौद्ध काल में बनाए गए विशाल आकार के स्तूपों में से एक था। इसका व्यास लगभग 50 मीटर तथा ऊँचाई 30 मीटर थी। इस स्तूप में सांची और भरहुत के समान ही बुद्ध के जीवन से संबंधित दृश्य एवं जातक कथाएं उकेरी गई हैं। स्तूप का अधिकांश भाग नष्ट हो गया है लेकिन इसके अवशेषों के आधार पर कहा जा सकता है कि अमरावती में वास्तुकला और मूर्तिकला की स्थानीय मौलिक शैली विकसित हुई थी। यहाँ से प्राप्त मूर्तियों की कोमलता एवं भाव-भंगिमाएँ दर्शनीय हैं। प्रत्येक मूर्ति का अपना आकर्षण है। कमल पुष्प का अंकन बड़े स्वाभाविक रूप से हुआ है। अनेक दृश्यों का एक साथ अंकन इस काल के अमरावती शिल्प की प्रमुख विशेषता मानी जाती है। बुद्ध की मूर्तियों को मानव आकृति के बजाय प्रतीकों के द्वारा गढ़ा गया है। यह इस बात का संकेत है कि अमरावती शैली, मथुरा शैली और गंधार शैली से पुरानी है। गुंटूर जिले में ही नागार्जुनकोंडा नामक जगह से भी एक स्तूप के अवशेष मिले हैं। इन स्तूपों को इक्ष्वाकु वंश के राजाओं ने बनवाया था। अमरावती शैली को यूनानी प्रभाव से पूर्णतया मुक्त माना जाता है पर कुछ विद्वान नागार्जुनकोंडा की मूर्तियों को रोमन प्रभाव से युक्त मानते हैं। संभवतया इसका कारण दक्षिण भारत से रोम का मजबूत व्यापारिक संबंध है।

इसी तरह नाग-भारशिव और वाकाटक काल (185 ईस्वी से 320 ईस्वी) में भी भिन्न प्रकार का स्थापत्य और मूर्ति शिल्प देखा जा सकता है। इस शैली के प्रारंभिक काल के उदाहरणों में भरहुत और मथुरा से निकटता दिखाई देती है लेकिन आगे चलकर इसमें विशिष्ट लक्षणों का विकास हुआ। कुषाणकालीन गोल मंडल के स्थान पर लम्बे अंडाकार मुख बनाये जाने लगे। चूंकि भारशिव शैव मत समर्थक थे इसलिए यहाँ की मूर्तियों में शिव की मूर्तियों की प्रधानता है। इस कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'एकमुखी शिवलिंग' और भूमरा का मंदिर है। वाकाटक भी शैव थे और उन्होंने भारशिवों की परंपरा को आगे बढ़ाया। उनके काल में बने भव्य मंदिर सबसे प्रसिद्ध हैं। वाकाटकों के काल में मंदिरों की वास्तुशैली में अलंकरण और उनके विस्तार की प्रवृत्ति बढ़ गई।

गुप्त काल *(Gupta Period)*

गुप्तों के काल में कला को एक नई दृष्टि एवं दिशा मिली। गुप्त शासकों ने बौद्ध धर्म को वैसा प्रश्रय तो नहीं दिया जैसा इस धर्म को मौर्यों के काल में मिला था, तब भी गुप्त साम्राटों ने ब्राह्मण धर्म के संप्रदायों वैष्णव और शैव को महत्त्व दिया। इस युग में बौद्ध धर्म से प्रेरित वास्तुकला और मूर्तिकला में उन्नति होती रही और जैन धर्माचार्यों की भी मूर्तियाँ पर्याप्त संख्या में बनी। इतिहासकारों ने इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर गुप्त काल की कला को सहिष्णुता का प्रसार करने वाली कला के रूप में स्वीकारा है। इसी सहिष्णुता का परिणाम यह हुआ कि इस काल में कई स्तूप, गुहा-चैत्य, मंदिर, राजप्रासाद, देशी-विदेशी शासकों की मूर्तियाँ निर्मित की गईं।

गुप्त काल में भी स्तूप बनाने का सिलसिला जारी रहा। इस काल के दो प्रमुख स्तूप सारनाथ में धमेख (धर्माख्य) स्तूप और दूसरा राजगीर में बना जरासंध की बैठक का स्तूप (पिप्पाला गुफा) हैं। इसके अलावा गंधार क्षेत्र में तक्षशिला और जौलियान (मोहडा मोराद्) में भी कई स्तूपों की जानकारी सामने आई है। अजंता और बाघ की कुछ गुफाओं में भी स्तूप और चैत्य आदि बनाये गये।

इस युग में ब्राह्मण धर्म के मंदिरों के निर्माण में तीन प्रकार की शैलियों नागर, द्राविड़ और वेसर शैली का प्रयोग किया गया। इनके अलावा स्थापत्य संबंधी अन्य शैलियों के नाम जैसे लतिनसाभर, भूमि, विमान आदि के नाम भी प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:

Copyright- Drishti The Vision Foundation

नागर शैली (Nagar Style)

नागर शैली में मंदिरों का निर्माण चौकोर या वर्गाकार रूप में किया जाता है। प्रमख रूप से उत्तर भारत में इस शैली के मंदिर पाये जाते हैं। इसी के साथ-साथ बंगाल, ओडिशा से लेकर गुजरात एवं महाराष्ट्र तक इस शैली के उदाहरण मिलते हैं। ये मंदिर ऊँचाई में आठ भागों में बांटे गये हैं। ये हैं- मूल (आधार), मसरक (नींव और दीवारों के बीच का भाग), जंघा (दीवारें), कपोत (कार्निस), शिखर, गल (गर्दन), वर्तुलाकार आमलासारक (आमंलक) और कुंभ (शूल सहित कलश)। इस शैली में बने मंदिरों को ओडिशा में 'कलिंग', गुजरात में 'लाट', और हिमालयी क्षेत्र में 'पर्वतीय' कहा गया है।

द्रविड़ शैली (Dravidian Style)

द्रविड़ शैली के मंदिर कृष्णा नदी से लेकर कन्याकुमारी तक पाये जाते हैं। द्रविड़ मंदिरों का निचला भाग वर्गाकार और मस्तक गुंबदाकार, छह या आठ पहलुओं वाला होता है। गर्भगृह (मूर्ति रखने का स्थान) के ऊपर का भाग (विमान) सीधे पिरामिड के आकार का होता है। उनमें अनेक मंजिलें पाई जाती हैं। आंगन के मुख्य द्वारा को गोपुरम कहते हैं। यह इतना ऊँचा होता है कि कई बार यह प्रधान मंदिर के शिखर तक को छिपा देता है। एक मंदिर एक लंबे-चौड़े प्रांगण से घिरा रहता है जिसमें छोटे-बड़े अनेक मंदिर, कई अन्य कक्ष, तालाव, प्रदक्षिणा पथ आदि बनाये जाते हैं।

बेसर शैली (Baser Style)

वेसर शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है- दो जातियों से जन्मा जैसे- खच्चर। नागर और द्रविड़ शैलियों के मिले-जुले रूप को वेसर शैली कहते हैं। इस शैली के मंदिर विंध्याचल पर्वत से लेकर कृष्णा नदी तक पाये जाते हैं। वेसर शैली को चालुक्य शैली भी कहते हैं। चालुक्य तथा होयसल कालीन मंदिरों की दीवारों, छतों तथा इसके स्तंभ द्वारों आदि का अलंकरण बड़ा सजीव तथा मोहक है। इस शैली के मंदिर विन्यास में दक्षिण भारत की द्रविड़ शैली और उत्तर भारत की नागर शैली से मिश्रित मंदिर बनाये गये, जैसे वृंदावन का वैष्णव मंदिर जिसमें गोपुरम बनाया गया।

गुप्त काल में अनेक मंदिरों के उदाहरण मिलते हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट झांसी जिले में देवगढ़ का दशावतार मंदिर है। यह गुप्त काल में वैष्णव धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण इसलिए माना जाता है क्योंकि इसमें इस कला की स्थापत्य कला अपने पूर्ण विकसित रूप में मिलती है। इसका शिखर भारतीय मंदिर निर्माण में शिखर बनाने का संभवतया पहला उदाहरण है। इसमें एक के बजाए चार मंडप हैं जो गर्भगृह की चारों दिशाओं में स्थित हैं। मूर्ति प्रकोष्ठ के दरवाज़ों के स्तंभ भी मूर्तियों से अलंकृत हैं। इसी तरह जबलपुर (मध्य प्रदेश) के तिगवा में एक चपटी छत वाला और दूसरा एक शिखर वाला मंदिर बनाया गया। तिगवा के मंदिर का व्यास आठ फुट है और उसके समक्ष एक मंडप बनाया गया है। ईंटों से बने मंदिर में कानपुर के भीतरगांव और रायपुर (छत्तीसगढ़) के सिरपुर में लक्ष्मण मंदिर भी महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। इसके अलावा एरण में वराह और विष्णु मंदिर, उदयगिरि का ब्राह्मण गुहा मंदिर भी प्रसिद्ध हैं।

गुप्तकाल में बनीं प्रसिद्ध मूर्तियों में मथुरा संग्रहालय में रखी बुद्ध की खड़ी प्रतिमा, सारनाथ संग्रहालय में रखी धर्म चक्र प्रवर्तन वाली बुद्ध की बैठी प्रतिमा और सुल्तानगंज से मिली बुद्ध की तांबे की बोधिसत्व-अवलोकितेश्वर की प्रतिमा हैं। ब्राह्मण धर्म की मूर्तियों में अजंता की नागराज की प्रतिमा, कला भवन काशी में रखी कार्तिकेय की प्रतिमा, देवगढ़ के मंदिर में रखी शेषशायी विष्णु की प्रतिमा एवं नर व नारायण की प्रतिमा, कौशांबी से मिली सूर्य प्रतिमा, मथुरा से मिली ध्यान में खड़े विष्णु की ध्यान मुद्रा की मूर्ति, सारनाथ में रखे लोकेश्वर शिव की प्रतिमा का मस्तक जिसके बालों का विन्यास विशिष्ट है, आदि हैं। इसके अलावा जैन तीर्थंकरों की जो मूर्तियाँ मिली हैं उनमें वक्षस्थल पर 'श्री-वत्स' लिखा मिलता है। अधिकांश जैन मूर्तियाँ नग्न हैं और उन्हें पद्मासन की मुद्रा में दर्शाया गया है।

गुप्तोत्तर काल का स्थापत्य (Post-Gupta Period Architecture)

गुप्त काल के बाद देश में स्थापत्य को लेकर क्षेत्रीय शैलियों के विकास, में एक नया मोड़ आता है। इस काल में ओडिशा, गुजरात एवं राजस्थान और बुंदेलखंड का स्थापत्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इन स्थानों में मंदिरों का निर्माण आठवीं से लेकर 13वीं सदी के बीच हुआ। इसी तरह दक्षिण भारत में चालुक्य, राष्ट्रकूटकालीन और चोलयुगीन स्थापत्य अपने वैशिष्ट्य के साथ सामने आया। दक्षिण भारत के स्थापत्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापत्य पल्लव शासकों का माना गया। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:

ओडिशा का स्थापत्य (Architecture in Odisha)

ओडिशा के मंदिर मुख्यतः भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क में स्थित हैं। भुवनेश्वर के मंदिरों के मुख्य भाग के सामने चौकोर कमरा बनाया गया। इसके भीतरी भागों में अलंकरण कम है लेकिन बाहरी दीवारों पर अनेक प्रकार की प्रतिमायें और अलंकरण बनाए गये

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

हैं। मंदिरों में स्तंभों के बजाए लोहे के शहतीरों का प्रयोग किया गया है। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर इस शैली का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसके अलावा पुरी का जगन्नाथ मंदिर, कोणार्क का सूर्य मंदिर भी श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इस सूर्य मंदिर या ब्लैक पैगोडा का निर्माण गंग राजा नरसिंह देव प्रथम ने करवाया था। इसमें एक सभा भवन तथा शिखर का निर्माण एक चौड़ी एवं ऊँची चौकी पर किया गया जिसके चारों ओर बारह महीनों के प्रतीक के रूप में 24 पहिये बनायें गये। मंदिर में दौड़ते हुए 7 घोड़ों प्रतिमायें सूर्य के आगमन को दर्शाती हैं। कोणार्क के अतिरिक्त एक अन्य सूर्य मंदिर उत्तराखंड के अल्मोड़ा में कटारमल नामक स्थान पर भी स्थित है। इस कारण इसे 'कटारमल सूर्य मन्दिर' कहा जाता है।

गुजरात का स्थापत्य *(Architecture of Gujarat)*

गुजरात और राजस्थान में चालुक्य (सोलंकी) राजाओं ने अन्हिलवाड़ तथा माउंट आबू पर जैन धर्म से संबंधित कई भव्य मंदिरों और सोमनाथ के प्रसिद्ध शिव मंदिर का निर्माण कराया। अन्य प्रसिद्ध उदाहरणों में कर्णमेरु, रूद्रमाल आदि शामिल हैं। माउंट आबू पर बने कई मंदिरों में संगमरमर के दो प्रसिद्ध मंदिर हैं, जिन्हें दिलवाड़ा के जैन मंदिर कहा जाता है। पहले में जैन तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति, प्रवेशद्वार पर छह स्तंभ और दस गज प्रतिमायें हैं। इसकी बारीक नक्काशी और अपूर्व मूर्तिशिल्प बेजोड़ हैं। दूसरा मंदिर तेजपाल का मंदिर है। यह मंदिर भी अपने स्थापत्य में अतुलनीय है। इन क्षेत्रों के मंदिरों का निर्माण एक ऊँचे चबूतरे पर हुआ है और भीतरी हिस्सों को खोदकर चित्रकारी और भव्य नक्काशी की गई है।

बुंदेलखंड का स्थापत्य *(Architecture of Bundelkhand)*

बुंदेलखंड के छतरपुर जिले के खुजराहो में चंदेल राजाओं के बनवाये और शैव, वैष्णव एवं जैन धर्मों से संबंधित विश्व प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण एक ऊँची चौकी पर किया गया है। ग्रेनाइट एवं लाल बलुआ पत्थर से बने इन मंदिरों के ऊपरी भाग को अलंकरणों से सजाया गया है। खजुराहो के मंदिरों का भू एवं ऊर्ध्वविन्यास विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ के मंदिर बिना किसी परकोटे के ऊँचे चबूतरे पर बने हैं। इनमें गर्भगृह, अंतराल, मंडप तथा अर्ध मंडप देखे जा सकते हैं। मंदिर की प्रतिमाओं में देवता एवं देवी, अप्सरा के अलावा संभोगरत प्रतिमायें तथा पशुओं की आकृतियाँ है। मैथुनरत प्रतिमायें उच्च कोटि के शिल्प का उदाहरण हैं और उन्हें पूरे विश्व में अपार ख्याति मिली है। खजुराहो के पश्चिमी समूह में लक्ष्मण, कंदरिया महादेव, मतंगेश्वर, लक्ष्मी, जगदम्बी, चित्रगुप्त, पार्वती तथा गणेश मंदिर, वराह व नन्दी के मंडप तथा पूर्वी समूह के मंदिरों में ब्रह्मा, वामन, जवारी व हनुमान मन्दिर और जैन मंदिरों में पार्श्वनाथ, आदिनाथ घंटाई मंदिर शामिल हैं। खजुराहो के दक्षिणी समूह के मंदिरों में चतुर्भुज और दुल्हादेव मंदिर शामिल हैं। कंदारिया महादेव मंदिर खजुराहो के मंदिरों में सबसे बड़ा, ऊँचा और कलात्मक मंदिर है। यह मंदिर 109 फुट लम्बा, 60 फुट चौड़ा 116 फुट ऊँचा है। इसके अर्द्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप, अन्तराल तथा गर्भगृह आदि बेजोड़ स्थापत्य है। प्रदक्षिणायुक्त गर्भगृह से युक्त यह मंदिर भगवान शिव को समर्पित है। उनके अलावा कई अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियां इसमें बनी हैं। मंदिर में प्रवेश सोपान द्वारा अलंकृत कीर्तिमुख, नृत्य दृश्य से युक्त तोरण द्वार से होता है। समानुपातिक योजना, आकार, सुंदर मूर्तिशिल्प एवं भव्य वास्तुकला के कारण यह मंदिर विशिष्ट बन पड़ा है।

इनके अलावा कर्नाटक के होयसल शासकों की कला का भी विशिष्ट स्थान है। इसे कर्नाटक द्रविड़ कला भी कहा जाता है। होयसल कला का विकास एहोल, बादामी और पट्टदकल के प्रारंभिक चालुक्य कालीन मंदिरों मे देखा जा सकता है। इन मंदिरों के विमानों को उनके विशिष्ट अलंकरण की वजह से जाना जाता है। होयसलों की कला में बेलूर का चिन्नाकेशव मंदिर और हलेबिड का होयसलेश्वर मंदिर, सोमनाथपुरम मंदिर विशिष्ट उदाहरण हैं। इनमें एक कक्ष के चारों ओर कई मंदिरों की शृंखला पाई जाती है जो कि एक तारे की शक्ल में है। इसी तरह पाल राजाओं के स्थापत्य को विशेष प्रसिद्धि मिली। इनके शासन काल में विक्रमशिला विहार, ओदंतपुरी विहार और जगडल्ला विहार आदि विहारों का निर्माण किया गया। इनमें सबसे प्रसिद्ध विहार धर्मपाल द्वारा निर्मित सोमपुरा महाविहार (पहाड़पुर, जिला-नौगांव, बांगलादेश) का है। यह विहार भारतीय उपमहाद्वीप का सबसे बड़ा बौद्ध विहार है। इसे यूनेस्को की विश्व विरासत सूची में शामिल किया गया है।

चालुक्य कालीन स्थापत्य *(Architecture of Chalukya Period)*

बादामी के चालुक्यों की कला की शुरुआत एहोल से मानी जाती है जिसका चरमोत्कर्ष हमें बादामी और पट्टडकल में दिखता है। एहोल को स्थापत्य कला का विद्यालय, बादामी को महाविद्यालय तो पट्टडकल को विश्वविद्यालय तक कहा जाता है। इन चालुक्य शासकों ने नागर और द्रविड़ शैली की विशेषताओं से युक्त विशेष प्रकार की चालुक्य शैली का विकास किया। उनके मंदिरों में दो प्रकार की खास विशेषताएँ, चट्टानों को काटकर स्तंभयुक्त कक्ष और विशेष ढांचे वाले मंदिरों का निर्माण देखने को मिलता है। एहोल में तीन वैदिक, बौद्ध और जैन धर्म से जुड़े गुफा मंदिर मिलते हैं। इन्हीं का विकसित रूप हमें बादामी में देखने को मिलता है। पट्टडकल में कला बादामी से आगे अपने शिखर पर चली जाती है।

एहोल को प्राचीन हिन्दू मंदिर स्थापत्य कला का पालना और मंदिरों का नगर तक कहा गया है। यहाँ पर 70 से अधिक मंदिर हैं। यहाँ रविकीर्ति द्वारा बनवाया गया मेगुती जैन मंदिर है। यहाँ के अधिकतर मंदिर विष्णु एवं शिव के हैं। यहाँ के मंदिरों में लाढ़ खां का सूर्य मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ के मंदिर ऊँचे चबूतरे पर निर्मित हैं और उनकी चपटी छतों एवं खंबों पर सुंदर नक्काशी की गई है। इन मंदिरों में अधिक लंबाई तथा कम चौड़ाई का अनुपात रखा गया। यहाँ के अन्य प्रसिद्ध मंदिरों में हुचिअप्पाईयागुडी मंदिर, हुचिअप्पा मठ, दुर्गा मंदिर, रावणपहाड़ी, गौड़ा मंदिर आदि हैं। बादामी के गुफा मंदिरों में खंभों वाला बरामदा, मेहराब युक्त कक्ष, छोटा गर्भगृह और उनकी गहराई प्रमुख विशेषताएँ हैं। यहाँ के गुफा मंदिर एहोल की तुलना में ज्यादा सुघड़ता का परिचय देते हैं। यहाँ मिली चार गुफाओं में पहली गुफा शिव को, दूसरी विष्णु (वामन, वराह और कृष्ण), तीसरी भी विष्णु अवतारों को (नरसिंह, वराह, हरिहर, वामन या त्रिविक्रम), चौथी गुफा जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ को समर्पित है। इसके अलावा यहाँ बने भूतनाथ, मल्लिकार्जुन और येल्लमा के मंदिरों के स्थापत्य को सराहना मिली। इन गुफाओं का बरामदा तो साधारण है लेकिन भीतरी कक्ष में सघन नक्काशी मिलती है। विश्व विरासत स्थल की सूची में दर्ज पट्टडकल के मंदिरों में चालुक्यकालीन स्थापत्य पूरे निखार पर है। यहाँ मिले मंदिरों में कुछ में द्रविड़ और कुछ में नागर शैली की विशेषताएँ मिलती हैं। इनमें एक जैन मंदिर भी है। इनमें विरुपाक्ष के मंदिर का स्थापत्य सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इसके अलावा यहाँ के मंदिरों में संगमेश्वर, पापनाथ आदि हैं। बादामी के चालुक्यों की स्थापत्य कला ने विजयनगर साम्राज्य की कला को भी प्रभावित किया। इन तीनों स्थलों के अलावा आंध्र प्रदेश के अलमपुर में नवब्रह्मा मंदिरों का स्थापत्य भी प्रशंसनीय है।

राष्ट्रकूटकालीन स्थापत्य *(Architecture of Rashtrakuta Period)*

राष्ट्रकूट युग के स्थापत्य में महाराष्ट्र के औरंगाबाद में एलोरा नामक स्थल और मुंबई के निकट द्वीपीय स्थल एलीफेंटा की गुफाएँ सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं।

विश्व विरासत स्थलों की सूची में शामिल एलोरा गुफाओं का स्थापत्य भारतीय शैली के तहत प्रस्तर काट कर बनाए गये स्थल का बेहतरीन नमूना है। यहाँ बनीं 34 गुफाओं में से 17 गुफाएँ हिन्दू, 12 गुफाएँ बौद्ध और पाँच गुफाएँ जैन धर्म को समर्पित हैं। यहाँ अधिकतर बौद्ध विहार बने हैं। इनमें महात्मा बुद्ध, बोधिसत्व और अन्य बौद्ध महात्माओं की प्रतिमाएँ उकेरी गयीं हैं। इनमें हुआ नक्काशी का काम, लकड़ी पर उकेरी गई नक्काशी की तरह बारीक है। इनमें सबसे प्रसिद्ध दसवीं बौद्ध गुफा है जिसे चंद्रशाला या विश्वकर्मा गुफा या बढ़ई गुफा भी कहा गया है। इनके अलावा पाँचों जैन गुफाएँ दिगम्बर संप्रदाय को समर्पित हैं। इनमें छोटा कैलाश, इंद्रसभा और जगन्नाथ सभा को ज्यादा प्रशंसा मिली है। एलोरा की गुफाओं की प्रसिद्धि हिन्दू धर्म को समर्पित गुफाओं को लेकर ज्यादा है। इनमें कैलाश गुहा मंदिर (गुफा संख्या -16) की गणना विश्व स्तर की भव्यतम कलाकृतियों में की जाती है। इनके तीन हिस्से हैं मंडप, कक्ष और गर्भगृह। गर्भगृह में रखे गये शिवलिंग को घुश्मेश्वर भी कहा गया है। इसके गलीयारों में भी शिव और विष्णु की अनेक प्रतिमाएँ मिलती हैं। इसकी तुलना एथेंस के प्रसिद्ध मंदिर, पार्थेनन से की गई है। इनके अलावा दशावतार गुफा, रामेश्वर गुफा, नीलकंठ गुफा, गोपी गुफा, सूर्य देवता वाली कुंभखाड़ा गुफा, सीता की नहानी गुफा भी प्रसिद्ध हैं। इस परिसर में दो ध्वज लगे स्तंभ भी प्रस्तर पर उकेरे गये।

विश्व विरासत में शामिल एलीफेंटा में मिली गुफाओं में अधिकतम हिन्दू धर्म को और शेष बौद्ध धर्म को समर्पित हैं। एलीफेंटा द्वीप पर स्थित इन गुफाओं में शैव मतावलम्बियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि शिव के विभिन्न रूपों वाली कई अदभुत प्रतिमाएँ यहाँ मौजूद हैं। इन गुफाओं के निर्माताओं में शिलाहार शासकों और राष्ट्रकूट शासकों दोनों का नाम आता है। कोंकणी मौर्यों के समय तक इस द्वीप को घारापुरी कहा जाता था। बाद में पुर्तगालियों ने यहाँ एक हाथी की विशाल प्रतिमा मिलने से इसे एलीफेंटा कहा। एलीफेंटा गुफाओं को इस तरह से गढ़ा गया था कि प्रतिमाओं समेत साठ हजार वर्ग फुट में फैला समूचा परिसर ही दर्शनीय है। चट्टानों को काट-काटकर अन्दर की जगह, बारीक काम वाले स्तम्भ और दीवारों पर मूर्तियाँ उकेरी गई और गलियारे एवं कक्ष बनाये गये। यहाँ शिव की ज्यादातर प्रतिमाएँ आदमकद या उससे भी बड़ी हैं। पूर्वी व पश्चिमी द्वारों को जोड़ने वाले गलियारे में 20 स्तंभ हैं। एलीफेंटा में बनी त्रिमूर्ति विश्व प्रसिद्ध है। यद्यपि हिंदू धर्म में त्रिमूर्ति का आशय ब्रह्मा, विष्णु, महेश से है पर यहाँ बनी त्रिमूर्तियाँ शिव के ही तीन रूपों की हैं। एक चेहरे में शिव को उत्तेजक होठों वाले युवा के रूप में दिखाया गया है। यह छवि सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा की है दूसरा चेहरा गुस्से वाले मूंछधारी युवा का है। यह छवि विनाशक रुद्र से मिलती है। तीसरा चेहरा जो मध्य में है, वह पालक सरीखे शान्त और ध्यानमग्न व्यक्ति का है। यह विष्णु की छवि दर्शाता है। यानी पारम्परिक रूप से जो छवियाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की रही हैं, वे तीनों छवियाँ शिव के ही रूपों में दिखाई गई हैं। इनके अलावा एलीफेंटा गुफाओं की दक्षिण दीवार पर कल्याणसुंदरा, गंगाधरा, अर्द्धनारीश्वर व उमा-महेश्वर के रूप में शिव की प्रतिमाएँ हैं। उत्तरी प्रवेश द्वार के बाईं ओर नटराज और दायीं ओर योगीश्वर के रूप में भी शिव की मूर्तियाँ हैं। यहाँ महेश शिवलिंग के रूप में भी हैं और विभिन्न रूपों में भी। मुख्य मन्दिर के पूरब में एक अन्य मन्दिर के कक्ष में शिव पुराण से जुड़ी कहानियाँ दर्शाई गई हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

पल्लवकालीन स्थापत्य

पल्लव शासकों का काल कला एवं स्थापत्य के लिए बहुत प्रसिद्ध है। उनकी कला वास्तव में भारतीय कला के सर्वाधिक गौरवशाली अध्यायों में शामिल है। पल्लव कला के विकास की शैलियों को हम क्रमशः महेंद्र शैली (610-640 ई.), मामल्ल शैली (640-674 ई.) और राजसिंह शैली (674-800 ई.) में अलग-अलग देख सकते हैं।

'महेंद्र शैली' में प्रस्तर काट कर गुफा मंदिरों (Rock-cut temple) का निर्माण किया गया। इन्हें मंडप कहा गया। ये मंडप खंभों वाले बरामदे हैं और जिनके दूसरे सिरे पर गर्भगृह बनाया गया है। इन मंडपों में मंडगपट्टु का त्रिमूर्ति मंडप, महेंद्रवाड़ी का महेंद्रविष्णु गृहमंडपम, मामंडूर का विष्णुमंडप, त्रिचुरापल्ली का ललितांकुर ग्रहमंडप विशेष उल्लेखनीय हैं। 'मामल्ल शैली' में मंडप के अलावा एक ही पत्थर या एकाश्मक (Monolithic) मंदिर या रथ बनाये गये। स्थापत्य कला के ये नमूने मामल्लपुरम (तमिलनाडु के जिला कांचीपुरम में महाबलीपुरम) में हैं। इनमें आदि-वाराह, महिषमर्दिनी, पंचपांडव, रामानुज आदि मंडप विशेष प्रसिद्ध हैं। इन मंडपों में उकेरे गये महिषमर्दिनी, अनंतशायी विष्णु, त्रिविक्रम, ब्रह्मा, गजलक्ष्मी, हरिहर आदि की मूर्तियाँ प्रशंसनीय हैं। मामल्लपुरम मंडपों को अपेक्षाकृत अपने रथ मंदिरों के लिए जाना जाता है। ये रथमंदिर मूर्तिकला का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन्हें कठोर चट्टान काट कर बनाया गया है। इनमें प्रमुख रथ मंदिर के नाम हैं- द्रौपदी रथ, नकुल-सहदेव रथ, अर्जुन रथ, भीम रथ, गणेश रथ, पिडारि रथ तथा वलैयंकुट्टै रथ। इनमें नकुल-सहदेव के रथ के अलावा अन्य सभी रथों पर दुर्गा, इंद्र, शिव, गंगा, पार्वती ब्रह्मा, आदि की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। इन रथों को सप्त पैगोडा भी कहा गया है। पल्लव कला की अंतिम एवं महत्त्वपूर्ण 'राजसिंह शैली' में एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि गुफा मंदिरों के स्थान पर पत्थर, ईंट आदि की सहायता से मंदिरों का निर्माण किया जाने लगा। इस शैली के तीन उदाहरण महाबलीपुरम के तटीय मंदिर (Shore Temple), ईश्वर मंदिर और मुकुंद मंदिर हैं। इनके अलावा उत्तरी अर्काट का पनमलाई, कांची का कैलाशनाथ और बैकुंठ पेरुमल का मंदिर भी उल्लेखनीय है। इनमें तटीय मंदिर अद्भुत शिल्पकारी का नमूना है। इसकी दीवारों पर गणेश, स्कंद, गज आदि की मूर्तियाँ उकेरी गई हैं। इन तीन प्रमुख शैलियों के अलावा चौथे प्रकार की 'नंदीवर्मन शैली' (800-900 ई.) के भी उदाहरण मिलते हैं। इनमें मुक्तेश्वर मंदिर, मातंगेश्वर मंदिर, वड़मल्लिश्वर, वीरट्टानेश्वर मंदिर, परशुरामेश्वर मंदिर प्रमुख उदाहरण हैं।

चोलकालीन स्थापत्य *(Architecture of Chola Period)*

दक्षिण में जिस कला को पांड्य और पल्लव शासकों ने जन्म दिया, उसे चोल शासकों ने उत्कर्ष पर पहुँचाया। उन्होंने अपने चार सदियों के शासनकाल में राज्य में बड़ी मात्रा में मंदिर बनवाये। उनकी कला का अनुकरण पड़ोसी राज्यों एवं देशों तक में किया गया। चोलों ने मंदिरों के निर्माण के लिए ईंटों की जगह पत्थरों और शिलाओं का प्रयोग किया। इस काल के मंदिरों का आकार बहुत विशाल है और इनका प्रयोग धार्मिक कार्यों के अलावा सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए भी होता था। इसलिए शासकों ने इन मंदिरों के कामकाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए अनुदान दिये। चोल कला को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बांटा गया है। पहले भाग में दसवीं सदी तक निर्मित चोल मंदिर जैसे तिरुकट्टलाई का सुंदरेश्वर मंदिर, कन्नूर का बालसुब्रह्मण्यम मंदिर, नरतमालै का विजयालय मंदिर और कदम्बर-मलाई मंदिर आदि मंदिर रखे गये हैं जबकि दूसरे भाग का युग तंजावुर के वृहदेश्वर मंदिर के निर्माण के साथ शुरू होता है। दो गोपुरम वाले इस मंदिर में बीचोंबीच गर्भगृह, चारों ओर प्रदक्षिणा पथ और काफी ऊँचा विमान बनाया गया है। गर्भगृह में विशाल शिवलिंग है जिसे वृहदेश्वर कहा गया है। संपूर्ण मंदिर में अंदर और बाहर कई प्रकार की मूर्तियाँ उकेरी गई हैं। इसी मंदिर की अनुकृति पर गंगैकोंडचोलपुरम में एक शिव मंदिर बनवाया। इन दोनों मंदिरों के अलावा दारासुरम का ऐरावतेश्वर और त्रिभुवनम का कम्पहरेश्वर मंदिर भी सुंदर एवं भव्य हैं।

चोल कला का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष मूर्ति निर्माण है। इस काल में विभिन्न देवी-देवताओं की धातु या कांसे की मूर्तियों का निर्माण बड़ी संख्या में किया गया। चोलयुगीन मूर्तियों में नटराज या नृत्य करते शिव की प्रतिमा कांस्य प्रतिमाओं में सर्वोत्कृष्ट मानी गई हैं। इनके अलावा पार्वती, स्कंदकार्तिकेय, गणेश आदि की असंख्य मूर्तियों का निर्माण किया गया। चोलयुगीन नटराज की मूर्तियों को चोलकला का सांस्कृतिक निष्कर्ष कहा गया है।

सल्तनत कालीन स्थापत्य *(Architecture of Sultanate Period)*

सल्तनत काल में भारतीय तथा इस्लामी शैलियों की विशेषताओं से युक्त स्थापत्य का विकास हुआ, इसलिए इस युग की शैली को 'हिन्दू-इस्लामी या इण्डो इस्लामिक' या 'इण्डो-सासनिक शैली कहा गया है। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. सल्तनत काल की स्थापत्य कला में भारतीय एवं ईरानी शैलियों के मिश्रण के प्रमाण मिलते हैं।
2. इस युग में किला, मकबरा, मस्जिद, महल एवं मेहराब-गुम्बद तथा संकरी एवं ऊँची मीनारें बड़ी संख्या में बनाई गईं।
3. इस काल के शुरुआती दौर में मंदिरों के अवशेष और उनकी सामग्री की मदद से निर्माण कार्य किया गया।
4. सल्तनत काल में सुल्तानों, अमीरों एवं सूफियों के मकबरों के निर्माण की परम्परा की शुरुआत हुई।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

5. इस काल में ही इमारतों की मजबूती हेतु पत्थर और गारे में अच्छे किस्म के चूने का प्रयोग किया गया।
6. सल्तनत काल में इमारतों में पहली बार वैज्ञानिक ढंग से मेहराब एवं गुम्बद का प्रयोग मिलता है। यह भारतीय कला में अरबी प्रभाव को दर्शाता है। तुर्क सुल्तानों ने गुम्बद और मेहराब के निर्माण में भारतीय शिला एवं अरबी शहतीर, दोनों प्रणालियों का उपयोग किया।
7. सल्तनत काल में इमारतों की साज-सज्जा में जीवित वस्तुओं का चित्रण निषिद्ध होने के कारण उन्हें सजाने में अनेक प्रकार की फूल-पत्तियाँ, ज्यामितीय आकृति एवं कुरान की आयतें खुदवायी जाती थीं। कालान्तर में तुर्क सुल्तानों द्वारा हिन्दू साज-सज्जा की वस्तुओं जैसे- कमलबेल के नमूने, स्वास्तिक, घंटियों के नमूने, कलश आदि का भी प्रयोग किया जाने लगा।
8. सल्तनत कालीन स्थापत्य सरकारी प्रश्रय और पोषण की उपज हैं। इसलिए इस कला में सुल्तान की पसंदगी और नापसंदगी साफ दृष्टिगोचर होती है।

सल्तनत काल के तहत आने वाले गुलाम वंश में बनी कुछ प्रमुख इमारतों का वर्णन इस प्रकार है-

कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद *(Quwwat-ul-Islam Mosque)*

कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली विजय के उपलक्ष्य में तथा इस्लाम धर्म को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से 1192 ई. में 'कुत्ब' अथवा कुव्वतुल इस्लाम या 'कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद' का निर्माण एक समकोण चबूतरे पर करवाया। यह दिल्ली सल्तनत द्वारा निर्मित सबसे पहली मस्जिद है। इसमें एक आयताकार प्रांगण है जो चारों ओर से छतों द्वारा घिरा हुआ है। यह कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा ध्वस्त किए गए 27 हिंदू और जैन मंदिरों के तराशे गए स्तंभों और स्थापत्य खंडों के ऊपर टिका है। प्रांगण में स्थित लौह स्तंभ पर चौथी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि में एक अभिलेख मौजूद है जिसके अनुसार चंद्र नाम के शक्तिशाली राजा की स्मृति में विष्णुपद नामक एक पहाड़ी पर इस स्तंभ की स्थापना भगवान विष्णु के ध्वज के रूप में की गई थी। अलंकृत शीर्ष के ऊपर एक गहरा खोल यह दर्शाता है कि संभवतया इसमें गरूड़ की प्रतिमा स्थापित थी। इस स्तंभ को जनमानस में अनंगपाल की किल्ली' भी कहते हैं। इस लौह स्तंभ पर सदियों बाद भी जंग नहीं लग सकी है जो तत्कालीन उच्च कोटि के धातुविज्ञान की जानकारी को दर्शाता है। सन् 1230 ई. में इल्तुतमिश ने मस्जिद के प्रांगण को दोगुना कराया। अलाउद्दीन खिलजी ने इस मस्जिद का विस्तार कराया तथा कुरान की आयतें लिखवाईं। इस मस्जिद में सर्वप्रथम इस्लामी स्थापत्य कला की मजबूती एवं सौन्दर्य जैसी विशेषताओं को उभारा गया।

कुतुब मीनार *(Qutub Minar)*

कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद के परिसर में बनी कुतुबमीनार की नींव कुतुबुद्दीन ऐबक ने बारहवीं शताब्दी के अंत में नमाज पढ़ने का आह्वान करने वाले मुअज्जिन (ऐलान करने वाले) के लिए रखवाई और पहली मंजिल का निर्माण करवाया था जिस पर तीन और मंजिलों का निर्माण उसके उत्तराधिकारी और दामाद, शम्सुद्दीन इल्तुतमिश (1211-1236 ई.) ने करवाया था। कुतुब मीनार का निर्माण संभवतया सूफी 'ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी' की स्मृति में कराया गया था। लाल और हल्के पीले रंग के बलुआ पत्थर से निर्मित कुतुब मीनार भारत की सबसे ऊँची मीनार है। कुल 379 सीढ़ियों वाली इस इमारत के आधार पर इसका व्यास 14.32 मीटर शीर्ष लगभग 2.75 मीटर और इसकी ऊँचाई 72.5 मीटर है। सभी मंजिलें बाहर की ओर निकले छज्जों से घिरी हैं जो मीनार के चारों ओर हैं और इनको छत्तेदार डिजाइन से अलंकृत पत्थर के ब्रेकटों द्वारा सहारा दिया गया है। पहली मंजिल पर यह डिजाइन अधिक सुस्पष्ट है। मीनार के विभिन्न स्थानों पर अरबी और नागरी लिपि में अनेक अभिलेख मौजूद हैं। इसकी मरम्मत फिरोजशाह तुगलक और सिकंदर लोदी ने करवाई थी। मेजर आर. स्मिथ ने भी इसकी मरम्मत और इसका पुनरूद्धार करवाया था। यह देश का पहला स्मारक है जहाँ ई-टिकट की सुविधा उपलब्ध कराई गयी है।

अढ़ाई दिन का झोंपड़ा *(Adhai-Din-Ka-Jhonpra)*

कुतुबुद्दीन ऐबक ने 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नामक मस्जिद का निर्माण अजमेर में करवाया। माना जाता है कि यहाँ चलने वाले ढाई दिन के उर्स के कारण इसका यह नाम पड़ा। यह मस्जिद कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद की तुलना में अधिक बड़े आकार का एवं आकर्षक है। इस मस्जिद के आकार को कालान्तर में इल्तुतमिश द्वारा विस्तार दिया गया। इस मस्जिद में भारतीय शैली में अलंकृत स्तम्भों का प्रयोग किया गया, जिस पर ऊँची छत का निर्माण किया गया है। इसमें मुख्य दरवाजे सहित सात मेहराबदार दरवाजे बनाये गये हैं। मुख्य दरवाजा सर्वाधिक ऊँचा है। मस्जिद के प्रत्येक कोने में चक्राकार एवं बांसुरी के आकार की मीनारें निर्मित हैं।

सुल्तान गारी का मकबरा या सुल्तान गढ़ी *(Tomb of Nasiru'd-Din Mahmud, Sultan Gadhi)*

सुल्तान गारी या सुल्तान गढ़ी मकबरे का निर्माण इल्तुतमिश ने अपने ज्येष्ठ पुत्र नासिरुद्दीन महमूद की याद में दिल्ली में कुतुब मीनार के निकट 1231 ई. में करवाया था। यह सल्तनत काल का पहला मकबरा है। यह भवन आकार में किले जैसा प्रतीत होता

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacadomy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

है। इसकी चाहरदीवारी के बीच में बड़ा आंगन है और उसमें एक अष्टकोणीय चबूतरा बना हुआ है जो नीचे बने मकबरे की छत भी है। इसमें भूरे पत्थर और संगमरमर का प्रयोग किया गया है। मस्जिद में निर्मित मेहराबों में मुस्लिम कला एवं पूजास्थान तथा गुम्बद के आकार की छत में हिन्दू कला शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस मकबरे के पास दो अन्य कब्रें इल्तुतमिश के दो अन्य बेटों रूकनुद्दीन फ़िरोज और मुईनुद्दीन फिरोज की हैं।

इल्तुतमिश का मकबरा *(Tomb of Iltutmish)*

इस एक कक्षीय मकबरे का निर्माण इल्तुतमिश द्वारा कुव्वत-उल-मस्जिद के समीप लगभग 1235 ई. में करवाया गया था। इस इमारत के तीन तरफ पूर्व, दक्षिण एवं उत्तर में प्रवेश द्वार बने हैं। इस ऊँची छत वाले मकबरे की दीवारों पर कुरान की आयतें खुदी हैं। मकबरे में बने गुम्बदों में घुमावदार पत्थर के टुकड़ों का प्रयोग किया गया है। गुम्बद के चौकोर कोने में गोलाई लाने के लिए विशेष शैली का प्रयोग किया गया है। इल्तुतमिश ने इसके अलावा दिल्ली में हौज-ए-शम्सी या शम्सी तालाब, गंधक की बावली और मदरसा-ए-नासीरिया, बदायूँ (उत्तर प्रदेश) में जामी मस्जिद और नागौर (राजस्थान) में अतारकिन का दरवाजा का निर्माण कार्य करवाया। उसके बाद दिल्ली की गद्दी पर बैठी रजिया की कब्र दिल्ली के बाबुलीखाना में बनी है पर कुछ विद्वान मानते हैं कि उसकी कब्र कैथल (करनाल, हरियाणा) में है।

बलबन का मकबरा *(Tomb of Ghiyasuddin Balban)*

दिल्ली में कुतुब परिसर में स्थित सुल्तान बलबन का मकबरा वास्तुकला की दृष्टि से इसलिए महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है क्योंकि इस वर्गाकार मकबरे में सर्वप्रथम वास्तविक मेहराब का रूप मिलता है। कुछ विद्वान इसे पहले गुम्बद वाली इमारत भी मानते हैं। यद्यपि यह गुम्बद अब गिर चुका है। बलबन के मकबरे के पास उसके पुत्र खां शहीद का भी मकबरा बनाया गया है। माना जाता है कि बलबन ने 1255 में दिल्ली में ही लाल महल (कुश्के लाल) और किला मर्ग़ज़न बनवाया। बलबन के पोते कैकुबाद ने दिल्ली के किलोखड़ी इलाके में किला (किलुघेरी या कस्ने मोइज्जीया- नया शहर) बनवाया जिसे बाद में जलालुद्दीन खिलजी ने पूरा किया।

खिलजी वास्तुकला *(Khilji Architecture)*

खिलजी सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने अनेक निर्माण कार्य शुद्ध इस्लामी शैली के अन्तर्गत करवाये। इसलिए उसके युग का स्थापत्य एक तरह से स्थापत्य के इतिहास में एक नया प्रस्थान बिंदु है। उसके काल की इमारतों का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है-

सीरी का किला *(Siri Fort)*

अलाउद्दीन ने सीरी में 1303 में तत्कालीन पुरानी दिल्ली यानी पृथ्वीराज चौहान के रायपिथौरा किले के स्थान को छोड़ कर 'सीरी' नामक नगर की स्थापना की। सीरी को मुस्लिम शासनकाल का पहला शहर (नौ-शहर) और दारुल खिलाफ़त भी कहा जाता है। इसके भीतर उसने कस्ने हजार सितून (हजार खंभों का महल) भवन बनवाया। इसके अहाते में तोहफेवाला गुम्बद आज भी मौजूद है। इस नगर के बाहर अलाउद्दीन खिलजी ने एक तालाब हौज-ए-अलाई या हौज खास का निर्माण करवाया था। इस झीलनुमा तालाब की मरम्मत फीरोज तुगलक ने करवाई। बाद में इस किले के अधिकांश मलबे का इस्तेमाल शेरशाह सूरी ने खुद के बसाए नये शहर में किया।

अलाई दरवाजा *(Alai Darwaza)*

इसका निर्माण कार्य अलाउद्दीन खिलजी ने 1310-1311 ई. में करवाया। यह पहली इमारत है जो पूरी तरह इस्लामिक वास्तुकला के सिद्धांतों पर बनी। इसमें सेल्जुक स्थापत्य कला की विशेषताएँ भी मिलती हैं। प्रवेश द्वार का प्रयोग होने वाली यह इमारत नीचे से चौकोर है लेकिन ऊपर की तरफ अष्टकोणीय हो गई है। चारों दिशाओं में मेहराब वाले दरवाजों वाली इस इमारत में लाल पत्थर एवं संगमरमर का प्रयोग किया गया है, साथ ही आकर्षक ढंग से कुरान की आयतें लिखी गयी हैं। बेहद सघन अलंकरण, संगमरमर की बारीक काम वाली जालियाँ, खिड़कियों पर आले, घोड़े के नाल के आकार की मेहराब, कमल कली जैसा अलंकरण इस इमारत की विशेषताएँ हैं। पहली बार वास्तविक गुम्बद का स्वरूप अलाई दरवाजा में ही दिखाई देता है।

इन दो प्रमुख इमारतों के अलावा अलाउद्दीन ने कुतुब मीनार के निकट उससे आकार में दोगुनी बड़ी मीनार बनवाने का कार्य प्रारंभ किया लेकिन इसकी अधूरी पहली मंजिल ही बन पाई। अलाउद्दीन ने चोरों को दंड देने के लिए कुतुब मीनार के पास एक छोटे आकार की 'चोर-मीनार' बनवाई। अलाउद्दीन खिलजी को कुतुब परिसर में दफनाया गया है। उसके मकबरे के पास एक मदरसा भी चलाया जाता था। मदरसा और मकबरा एक साथ होने का यह पहला प्रमाण है जो कि संभवतया सेल्जुक वास्तुकला से प्रेरित है। खिलजी काल में निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के पास पूरी तरह से इस्लामी परंपरा में निर्मित पहली मस्जिद जमात खां मस्जिद तथा मुबारक खिलजी द्वारा भरतपुर के बयाना में ऊखा (ऊषा) मस्जिद बनवाई गयी।

Copyright- Drishti The Vision Foundation

तुगलक वास्तुकला (*Tughlaq Architecture*)

तुगलक वंश के शासकों ने खिलजी कालीन इमारतों की भव्यता एवं सुन्दरता के स्थान पर इमारतों की सादगी एवं विशालता पर अधिक जोर दिया। उनके स्थापत्य में समकालीन राजनीतिक अस्थिरता और आर्थिक समस्याओं की झलक मिलती है। पूर्ववर्ती शासकों के विरुद्ध तुगलक शासकों ने सादगी एवं मितव्ययिता की नीति अपनाई। खिलजी सुल्तानों के आडंबर और दिखावे की प्रतिक्रिया और खस्ता माली हालत के चलते निर्माण के लिए अच्छे सामान के बदले मलबानुमा सामान ज्यादा प्रयोग में लाया गया। उस समय की इमारतों से यह बात भी स्पष्ट होती है कि मंगोलों के आक्रमण के भय के कारण तुगलक युग के पहले चरण में इनका निर्माण जल्दबाजी में हुआ और पुरानी विशेषताओं जैसे संगमरमर और बलुआ पत्थर का मिला-जुला प्रयोग एवं मेहराब की सजावट में छोटे-छोटे कंगूरों का प्रयोग हुआ। हालाँकि खिलजी युग जैसा आनुपातिक और सौंदर्यात्मक सौष्ठव त्याग दिया गया। युगीन इमारतों में ढलान (अरबी इमारतों की तरह), अच्छी नक्काशी का अभाव, आठ भुजाओं वाले आधार पर बनी संगमरमर की सफेद गुंबद की विशेषताएं देखी जा सकती हैं। तुगलक युग के दूसरे चरण में इमारतें ज्यादा संख्या में लेकिन स्तरहीन ही रहीं। इस चरण में सादेपन की जगह आड़े तिरछे छज्जे, झरोखों, छतरियों और मंडपों ने ले ली। सजावट का मुख्य काम मेहराब पर हुये प्लास्टर पर हुआ। एक नई बात यह भी सामने आई कि मस्जिदों का आधार पारंपरिक होने के बजाए 'क्रॉस' आकार यानी समकोण बनाती दो कतारों वाला होने लगा और पश्चिमी दीवार को तीन मुख्य प्रवेशद्वार आपस में जोड़ने लगे। तुगलक काल के दूसरे दौर में बाहर की ओर उभरे विशाल प्रवेशद्वार, गुंबदों वाली छतें और ढलवां दीवारें मुख्य विशेषताएँ बनकर उभरीं। फिरोज के कार्यकाल में दो प्रकार की मस्जिदें बनीं, पहली ऐसी, जिनमें बीच में प्रांगण और उसके तीन बारजे (Cloisters), पश्चिम की ओर प्रवेश द्वार और इबादतखाना बनाया गया। इन्हें एकांगना मस्जिद कहा गया। दूसरी प्रकार की मस्जिदें चतुरांगना कहलाईं जिनमें अंदर की ओर चार आंगन और बीच में दालान एवं किनारों पर चौकोर एवं स्वतंत्र छतरी जैसे छत वाले इबादतखाने बनाये गये। इस काल की प्रमुख इमारतें निम्नलिखित हैं-

तुगलकाबाद का किला (*Tughlaqabad Fort*)

गयासुद्दीन तुगलक (1321-25) ने किलेबंदी वाले तुगलकाबाद नगर का निर्माण करवाया था जो दिल्ली का तीसरा नगर था। पहाड़ियों पर खड़ी भूरे अनगढ़ पत्थरों की टूटी दीवारों वाले तुगलकाबाद को वास्तुशिल्प की दृष्टि से एक दुर्ग के रूप में स्थापित किया गया था। यह ऊँचे-नीचे सतह वाला आयताकार किला दो भागों में बंटा है- दक्षिणी दीवारों के साथ-साथ नगर दुर्ग और महल इसका एक भाग है और इसके उत्तर में बसा नगर दूसरा भाग है। इस किले की दीवारें तुगलक काल की अन्य दीवारों की तरह ढलवां या सलामी हैं। इस किले की नींव और दीवारें बहुत मोटी हैं और अनगढ़ पत्थरों से बनी हैं। गयासुद्दीन के उत्तराधिकारी, मुहम्मद बिन तुगलक (1325-51) ने तुगलकाबाद के दक्षिण में स्थित पहाड़ी पर 'आदिलाबाद' का एक छोटा-सा किला बनवाया था जिसके साथ यह निर्माण की मुख्य विशेषताओं को साझा करता है। इस दुर्ग को 'छप्पन कोट' के नाम से भी जाना जाता है। तुगलकाबाद नगर में प्रवेश के लिए 52 द्वार बनाये गये थे। राजमहल के निर्माण में टाइलों का उपयोग किया गया था। सम्भवतः मंगोलों के आक्रमण के भय से इसका निर्माण जल्दबाजी में किया गया जिससे उसमें विशिष्ट शैली तथा कला का अभाव सर्वत्र दिखाई देता है।

गयासुद्दीन का मकबरा (*Tomb of Ghiyasuddin*)

तुगलकाबाद किले के मुख्य प्रवेश द्वार के पारस गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा है। इसका अग्रभाग लाल बलुआ पत्थरों से बना है जिसे संगमरमर द्वारा उभारा गया है। अनियमित पंचभुज आकार वाला यह मकबरा ऊँची दीवारों से घिरा है। मूल रूप में यह एक कृत्रिम जलाशय में खड़ा था और एक पक्के नदी पथ द्वारा तुगलकाबाद से जुड़ा हुआ था। (इसकी भी दीवारें चौड़ी हैं और भीतर की भीतर की ओर झुकी हैं।)

जहाँपनाह नगर (*Jahanpanah Nagar*)

मुहम्मद तुगलक ने इस नगर की स्थापना रायपिथौरा एवं सीरी को मिला कर करवाई थी। नगर के चारों तरफ 12 गज मोटी दीवार सुरक्षा के दृष्टिकोण से बनाई गई थी। इस नगर के अवशेषों में सिंचाई की सुविधा के लिए सतपुला, सेना की गतिविधियाँ देखने के लिए बिजाई मंडल इमारत आदि प्रमुख हैं।

कोटला फिरोजशाह (*Kotla Firoz Shah*)

फिरोजाबाद, फिरोजशाह तुगलक द्वारा निर्मित दिल्ली का पाँचवां नगर है जिसे कोटला फिरोजशाह भी कहते हैं। इसके घेरे की बड़ी-बड़ी ऊँची दीवारें हैं जो यमुना नदी के साथ-साथ सटी हुई हैं। इसमें पश्चिम में स्थित गढ़ के मुख्य द्वार से प्रवेश होता है।

Copyright- Drishti The Vision Foundation

इसमें महल, स्तंभ लगा हॉल, मस्जिद, टावर और बावड़ी (कुआँ) बने हुए हैं। इनमें दो इमारतें जामा मस्जिद, और मौर्य सम्राट अशोक की लाट है। जामा मस्जिद का एक बड़ा आंगन है और संपूर्ण संरचना कोठरियों की शृंखलाओं पर बनी एक पिरामिडनुमा इमारत है जिसकी प्रत्येक मंजिल का भाग कम होता चला जाता है। इसकी सबसे ऊपरी मंजिल पर पत्थर की रेलिंग के बीच अशोक स्तंभ लगाया गया है। अशोक का दूसरा स्तम्भ 'कुश्क-ए-शिकार' महल के सामने गड़ा है। कुश्क-ए-शिकार फिरोज शाह द्वारा बनवाया गया महल है और इसका प्रयोग बतौर शिकारगाह होता था। इस महल में अब दो इमारतें चौबुर्जी मस्जिद और पीर गैब ही शेष हैं।

इसके अलावा इस युग में दिल्ली में फिरोजशाह का मकबरा, बूली भटियारी का महल, दरगाह हजरत रोशनचिराग; दिल्ली, सलाउद्दीन का मकबरा, निजामुद्दीन औलिया की दरगाह, अमीर खुसरो का मकबरा, कबीरुद्दीन का मकबरा या लाल गुंबद (रकाबवाला गुम्बद), चिड़ियाघर आदि इमारतें बनवाई गईं। इसके अलावा फिरोज शाह तुगलक के वजीर खान-ए-जहाँ तेलंगानी का उसके पुत्र द्वारा बनवाया गया अष्टकोणीय मकबरा भी बहुत प्रसिद्ध है। कुछ मस्जिदें जैसे खिड़की मस्जिद, काली मस्जिद, बेगमपुरी मस्जिद, कला मस्जिद, संचार मस्जिद आदि और फिरोजशाह के बेटे फतह खां का मकबरा (कदम शरीफ) बनवाई गई। इनके अलावा दिल्ली में वजीराबाद में यमुना नदी के तट पर किसी फकीर का मकबरा भी इसी काल का है। यहाँ एक पुल भी है जिसे शाहआलम पुल भी कहा जाता है। मंगोल हमलावर तैमूर लंग ने बागपत व लोनी की तरफ से यमुना पार करने के बाद इसी जगह डेरा डाला (1398-99) एवं यहीं से दिल्ली में प्रवेश किया और कत्लेआम करवाया। तैमूर को कोटला में बनी मस्जिद का स्थापत्य बहुत पसंद आया और वह इसका डिजायन अपने साथ समरकंद ले गया और वहाँ ऐसी ही मस्जिद तामीर करवाई।

सैय्यद और लोदी कालीन वास्तुकला *(Architecture of Sayyid and Lodhi Period)*

सैय्यद और लोदियों के कार्यकाल में विकसित हुई विकेंद्रीकरण की प्रवृति उस युग के स्थापत्य में भी प्रतिबिम्बित होती है। पहली बार बड़ी संख्या में सल्तनत के अमीरों के द्वारा भवन निर्माण कराया गया और उनका स्तर सुल्तानं की इमारतों से कम नहीं है। सैय्यदों के काल में खिज्र खाँ ने दिल्ली में खिज्राबाद एवं मुबारक शाह ने 'मुबारकाबाद' या कोटला मुबारकपुर का निर्माण करवाया। इसके अलावा सुल्तान मुबारक शाह का अष्टकोणीय मकबरा, निजामुद्दीन दरगाह के निकट चौराहे पर बना नीला बुर्ज या सैय्यदों का मकबरा, सफदरजंग के मकबरे के पास सुल्तान मोहम्मद शाह और सीरी के पास एक मस्जिद भी इस युग में स्थापत्य के नमूने हैं।

लोदियों के काल की इमारतों में बेहतर अनुपात और उच्च गुणवत्ता वाले सामान का प्रयोग देखा जा सकता है। लोदियों के काल की वास्तुकला को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला सुल्तानों द्वारा बनवाये गये अष्टभुजी मकबरे और अमीरों द्वारा बनवाये गये चतुर्भुजी मकबरे के रूप में है। इन चार भुजाओं वाले मकबरे में टाइलों का प्रयोग हुआ है। बड़ी संख्या में मकबरे बनने के कारण इस काल को स्थापत्य की दृष्टि से मकबरों का युग भी कुछ विद्वानों ने कहा है। गुंबदों के आधार पर कंगूरे और गुलदस्ते बनाये गये तथा दरवाजों को मेहराब का आकार देने के लिए छज्जों एवं कोष्ठकों का प्रयोग हुआ है। मकबरे के साथ लगी छोटी-छोटी मस्जिदों के हिस्से पाँच मेहराबों में विभाजित किये गए। लोदियों के काल में बनी महत्त्वपूर्ण इमारतों में 1418 ई. में सिकन्दर शाह लोदी द्वारा बनवाया गया बहलोल लोदी का मकबरा है। पाँच गुम्बदों वाले इस मकबरे के बीच में स्थित गुम्बद की ऊँचाई सर्वाधिक है। इसके निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग हुआ है। इसके अलावा दिल्ली में मुबारकपुर कोटले में तिजुर्बा, दरगाह युसूफ कत्ताल, राजों की बैंस, जमरुदपुर का पंचबुर्जा, बस्ती का बावली, मस्जिद खैरपुर, कुतुब परिसर में इमाम जामिन उर्फ इमाम मुहम्मद अली का मकबरा (हसन भाई की मीनार), मकबरा लंगर खां, जहाज महल, बड़े खां और छोटे खां का मकबरा, शीश गुंबद, दादी-पोती का मकबरा भी प्रसिद्ध इमारतें हैं। लोदी युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं दिल्ली में बनीं दो इमारतें सिकंदर लोदी का मकबरा और मोठ मस्जिद हैं।

सिकंदर लोदी का मकबरा *(Tomb of Sikandar Lodi)*

इब्राहीम लोदी ने सिकंदर लोदी का मकबरा 1517 ई. में बनवाया गया। इस अष्टकोणीय मकबरे में निर्मित गुम्बद की प्रत्येक भुजा में तीन-तीन मेहराबें बनाई गई हैं। यह मकबरा एक वर्गाकार ऊँची चहारदीवारी के प्रांगण में स्थित है, जिसके चारों किनारों पर बुर्ज बनाये गये हैं। बागनुमा अहाते में दफनाने की इस शैली से संभवतया मुगलों ने प्रेरणा ली है।

मस्जिद मोठ *(Masjid Moth)*

मोठ मस्जिद का निर्माण 'सिकन्दर लोदी' के वज़ीर मियाँ भुयां द्वारा (1505 ई.) करवाया गया। 'मोठ' का आशय दाल के एक प्रकार से है। माना जाता है कि इस वर्गाकार मस्जिद का निर्माण दाल की बिक्री से हुई आय से हुआ था। यह मस्जिद पाँच विविध रूपों वाली मेहराबों से बनी है जिसमें बीच वाली मेहराब सबसे बड़ी है। ढलवां दीवारों वाली इस इमारत में ये मेहराबें एक लहर के समान प्रतीत होती हैं। इनके ऊपर तीन समान अनुपात वाले गुबद बने हैं। सजावट के लिए रंगीन पत्थरों को जोड़ कर नक्काशी की गई है। इसका स्थापत्य इसलिए विशेष माना जाता है क्योंकि इसके निर्माण में हुये प्रयोग नवीनता से युक्त हैं और यह शिल्प आगे चल कर मुगलकाल में प्रचलित हुआ।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मध्यकालीन प्रांतीय शैलियों का स्थापत्य
(Architecture of Medieval Period Regional Styles)

जौनपुर *(Jaunpur)*

उत्तर प्रदेश के जौनपुर में स्थानीय शर्की सुल्तानों के काल में बनी मस्जिदें भी दिल्ली सल्तनत के काल की मस्जिदों की केंद्रीय शैली का ही अंग मानी जाती हैं। जौनपुर में झंझरी मस्जिद (1425), अटाला मस्जिद (1376-1408) तथा जामा मस्जिद (1478) वास्तुकला की दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीनों की बनावट एक ही प्रकार की है। इनमें एक बड़ा अहाता और तीन ओर इबादतखाने बने हैं। ये इबादत खाने एक या दो मंजिले हैं तथा खंभों, दीवारगारों और रोड़े से बने हैं। इनकी छतें सपाट हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता इबादतघर के मध्यभाग में बना सिंहद्वार है। यह एक विशाल मेहराबद्वार है जिसके किनारों पर आयताकार फलक बने हैं और उनपर नक्काशी की गई है। जौनपुर के शर्की शासकों की इन इमारतों पर परंपरागत मंदिर शैली का प्रभाव है। इनकी रचना तुगलक काल में बनी बेगमपुरी मस्जिद से मिलती-जुलती है। इनके अलावा जौनपुर में शाही किला, लाल दरवाजा मस्जिद, अकबरकालीन शाही पुल आदि भी महत्त्वपूर्ण इमारते हैं।

गुजरात *(Gujarat)*

तुर्की विजेताओं ने गुजरात के कारीगरों से राज्य में अनेक सुंदर और महत्त्वपूर्ण भवनों का निर्माण करवाया। गुजरात के इस काल के स्थापत्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता भवनों पर लकड़ी जैसी नक्काशी का काम मानी जाती है। यहाँ पर पत्थरों की जाली का काम भी बहुत सराहनीय ढंग से किया गया है। गुजरात शैली की सबसे महत्त्वपूर्ण इमारत 'जामा मस्जिद' मानी जाती है। इसका निर्माण अहमद शाह ने करवाया था। सुल्तान महमूद बेगड़ा ने चंपानेर में जामा मस्जिद बनवाई। यह इमारत शिल्प कला की दृष्टि से गुजरात की सबसे सुंदर मस्जिद मानी जाती है। भड़ौच की जामा मस्जिद, खंभात की जामा मस्जिद, ढोलका की हिलाल खाँ काजी मस्जिद भी महत्त्वपूर्ण इमारतें हैं। अहमदाबाद में सैयद आलम की मस्जिद, तीन दरवाजा, अहमद खाँ का मकबरा, रानी का हुजरा, कुतुबुद्दीन की मस्जिद, रानी सिपरी मस्जिद में भी प्रसिद्ध इमारतें हैं। यहाँ बनी सीदी बशीर मस्जिद अपनी झूलती मीनारों (Shaking Minarets) के लिए प्रसिद्ध है। मिर्जापुर की रूपमति मस्जिद और कांकारिया झील भी मध्यकालीन स्थापत्य के शानदार नमूने हैं।

कश्मीर *(Kashmir)*

कश्मीर के मुसलमान शासकों ने भी हिन्दुओं की पुरानी परंपरागत पत्थर और काष्ठ की कला शैली अपनाई। राज्य के महान शासक जैनुल आबिदीन के शासनकाल में यहाँ कुछ इमारतों का निर्माण हुआ। श्रीनगर में बनी 'मदनी का मकबरा' उसके निकट बनी मस्जिद स्थापत्य कला के सर्वश्रेष्ठ नमूनों में से एक है। बुतशिकन के नाम से प्रसिद्ध शासक सिकंदर ने श्रीनगर में 'जामा मस्जिद' का निर्माण कराया। बाद में उसका विस्तार जैनुल आबिदीन ने किया।

बहमनी *(Bahamani)*

दक्कन के बहमनी और बाद के शासकों ने एक मिश्रित कलाशैली को जन्म दिया। इसमें भारतीय, तुर्की, मिस्री और ईरानी शैलियों का समन्वय था। गुलबर्गा और बीदर की मस्जिदें इसी शैली में बनाई गई हैं। इसी शैली में मोहम्मद आदिलशाह का मकबरा या गोल गुंबद (बीजापुर) भी बनाया गया है। इस शैली की अन्य प्रमुख इमारतों गुलबर्ग की जामा मस्जिद, दौलताबाद की मीनार और बीदर का महमूद गवां का मदरसा है। यहाँ बना अलाउद्दीन का मकबरा दिल्ली के तुगलक काल की बनी इमारतों जैसा बनाया गया है। हैदराबाद में सन् 1591 में मोहम्मद कुली कुतुब शाह द्वारा बनवाई गई मशहूर चारमीनार इमारत एक चौराहे पर बनी है और इसकी दिशाओं से चारों ओर रास्ते जाते हैं। इसके निकट बनी एवं विशालकाय प्रांगण के लिए प्रसिद्ध जामा मस्जिद, यहाँ बना रणनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण गोलकुंडा का किला भी महत्त्वपूर्ण इमारतें हैं। सन् 1750 में निजाम सलाबत जंग ने तेहरान के शाह पैलेस की तर्ज पर चौमुहला महल बनवाया। इसमें भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के लिए भिन्न महल बनाये गये। सन् 1870 में नवाब वकार-उल-उमरा ने फल्कनुमा महल बनवाया। यह महल इतालवी और टयूडोर स्थापत्य के मिश्रण का नमूना है।

बंगाल *(Bengal)*

मध्यकाल में बंगाल के स्थापत्य की विशेषता यह है कि इसमें पत्थर का काम कम और ईटों का प्रयोग ज्यादा किया गया है। इस शैली में छोटे-छोटे स्तंभों पर बनी नोंकदार मेहराब, हिन्दू मंदिरों की परंपरागत लहरदार कार्निस और कमल सरीखे सुंदर हिंदू सजावट के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। इन इमारतों के अवशेष गौर, लखनौती, पडुआ आदि इलाकों में मिलते हैं। इस शैली का पहला मकबरा जफर खां गाजी का मकबरा और उसकी मस्जिद है। यह इमारत भी हिन्दू मंदिरों की सामग्री से बनी प्रतीत होती है। पंडुआ में बनी विशाल मस्जिद 'अदीना' का निर्माण सिकंदर शाह ने करवाया था। यहाँ जलालुद्दीन मोहम्मदशाह या एकलाखी का सुंदर मकबरा भी है। यहाँ की अन्य प्रसिद्ध इमारतों में लोटन मस्जिद, बड़ा सोना मस्जिद, छोटा सोना मस्जिद और कदम रसूल मस्जिद

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

आदि प्रमुख हैं। अखी सिराजुद्दीन, कोतवाली दरवाजा, दाखिल दरवाजा, तांतीपोरा मस्जिद, चमकट्टी मस्जिद भी बंगाल की प्रसिद्ध इमारतें हैं।

विजयनगर *(Vijaynagar)*

विजयनगर काल (1336-1565) के स्थापत्य पर चालुक्य, चोल, पांड्य और होयसलों का प्रभाव दिखता है। मंदिर, सैन्य और राजकीय लोगों के भवनों के स्थापत्य को स्थायित्व देने के लिए पहली बार मजबूत पत्थरों का प्रयोग किया गया। इस काल में तीन प्रकार के मंदिर बने। छोटे प्रकार के मंदिरों में ड्योढ़ी, मूर्तियों का कमरा एवं गर्भगृह मिलते हैं। मध्यम आकार के मंदिरों में एक गर्भगृह, शुकानासी (एक छोटा कमरा जो बड़े कमरे से मिलता है), नवरंग (दो भवनों के बीच का अंतराल) और रंगमंडप (स्तंभयुक्त भवन) बनाये गये। बड़े आकार के मंदिरों में चोल शैली के जैसा रायागोपुरम बनवाया गया। इस गोपुरम का शीर्ष हिस्सा शालाशिखर कहलाता था जो कि आकार में गोल पीपे जैसा होता था। मंदिरों में मंडप के अतिरिक्त कल्याणमंडप का निर्माण इस काल की विशेषता है; इस कल्याण मंडप में देवी देवाताओं के विवाह संपन्न होते थे। इसलिए इस स्थापत्य को कल्याणमंडपमगोपुर शैली भी कहते हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता एक ही चट्टान को काटकर बने अलंकृत स्तंभों का प्रयोग भी है। इन स्तंभों में पशुओं विशेषकर घोड़े का अंकन है। पिछले पैरों पर खड़े उग्र घोड़े की प्रतिमा के अंकन को बहुत सराहना मिली है। विजयनगर कला का एक महत्त्वपूर्ण विंदु सहस्र स्तंभीय यानी हजार खंभो वाला मंडप है। ये खंभे संगीत का गुण रखते थे। इसलिए इन्हें संगीतमय खंभे (Musical Pillars) भी कहा गया है। मंदिरों में मूर्ति प्रतिष्ठापन में शासकों और उनकी पत्नियों की भी मूर्ति लगाई जाने लगी। विजयनगर काल में सरोवरों के साथ बनाए गये इन मंदिरों में विठ्ठलनाथ मंदिर, हजारामा मंदिर, विरूपाक्ष मन्दिर, रघुनाथ मन्दिर, नरसिम्हा मन्दिर, सुग्रीव गुफा, विठाला मन्दिर, कृष्ण मन्दिर, तथा महानवमी डिब्बा प्रमुख हैं। हम्पी को इसलिए भी मंदिरों का शहर कहा जाता है। हजारा मंदिर की दीवारों पर रामायण के चित्र भी उकेरे गये। मंदिरों के अलावा कृष्णदेव द्वारा उड़ीसा विजय के उपलक्ष्य में बनवाया गया 'भुवनविजयम' भी स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके अलावा राजकीय लोगों के स्थापत्य में रानी का स्नानागार, बड़ाव लिंग, हाथीघर और कमल महल भी विशेष हैं। विजयनगर शासकों ने नगर की रक्षा के लिए प्रवेश द्वारों से युक्त एक प्राचीर का निर्माण भी करवाया। इस शैली को बाद में मुगलों ने अपनाया। इसी तरह कमल महल में भी मेहराबों का प्रयोग किया गया। शहर में जलापूर्ति के लिए कई प्रकार के जलाशयों का निर्माण किया गया।

मालवा *(Malwa)*

मालवा क्षेत्र के मांडू और धार के इलाके में स्थापत्य कला के बेहतरीन नमूने देखने को मिलते हैं। यहाँ की इमारतों में रंगीन पत्थर और टाइलों का प्रयोग हुआ है। इससे इनकी सुंदरता बहुत बढ़ गई है। मालवा में पहली इमारत कमाल मौला मस्जिद (1400) में बनाई गयी। इसके बाद धार में लाट मस्जिद और दिलावर खाँ मस्जिद का निर्माण हुआ। मांडू में मलिक मुंगीस, जहाज महल, तवेली महल, हिंडोला महल, होशंगशाह का मकबरा, अशर्फी महल तथा कई सुंदर दरवाजों का निर्माण हुआ।

सूरी स्थापत्य *(Suri Architecture)*

मध्यकालीन अफगान शासक शेरशाह सूरी और उसके पुत्र इस्लामशाह या सलीमशाह की बनवाई हुई इमारतों का स्थापत्य भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काल की कला को मुगल-पूर्वकाल के वास्तुकला के चरमोत्कर्ष तथा नई शैली के शुरूआती नमूने के तौर पर देखा जाता है। शेरशाह सूरी युग का सबसे बेहतरीन स्थापत्य का नमूना उसका स्वयं का सासाराम (बिहार) में बनवाया हुआ मकबरा है। शेरशाह का मकबरा झील के अन्दर एक ऊँचे टीले पर निर्मित हिन्दू-मुस्लिम वास्तुकला का श्रेष्ठ नमूना है। मकबरा बाहर से मुस्लिम प्रभाव एवं अन्दर से हिन्दू प्रभाव में निर्मित है। वास्तुविद् इतिहासकार पर्सी ब्राउन ने इसे सम्पूर्ण उत्तर भारत की सर्वोत्तम कृति कहा है। यह देश में अफगान शासकों के काल की कारीगरी के अंतिम श्रेष्ठ नमूने के तौर पर जाना जाता है। उसने रोहतास में एक किला भी बनवाया। शेरशाह ने दिल्ली पर कब्जा कर 'शेरगढ़' या 'दिल्ली शेरशाही' की नींव डाली। इस नगर के अवशेषों में 'लाल दरवाजा' या शेरशाह दरवाजा एवं 'काबुली या खूनी दरवाजा' ही देखने को मिलते हैं। इसका नाम खूनी दरवाजा बाद में तब पड़ा जब अंतिम मुगल बादशाह बहादुर-शाह जफर के पुत्रों और पोते को अंग्रेजों ने यहाँ लाकर गोली से मार डाला। शेरशाह ने 'दीन पनाह' को तुड़वाकर उसके मलवे पर 'पराने किले' का निर्माण करवाया। 1541 ई. में शेरशाह ने इस किले के अन्दर 'किला-ए-कुहना' नाम की शानदार मस्जिद का निर्माण करवाया। इस मस्जिद में प्रवेश के लिए घोड़े की नाल के आकार वाले मेहराब युक्त पाँच दरवाजे हैं। इसकी महत्ता इसलिए है क्योंकि इसके स्थापत्य से लोदी और मुगलों के बीच संक्रमणकाल का भी पता चलता है। इस मस्जिद के परिसर में एक 'शेरमण्डल' नाम का अष्टभुजी दो मंजिला मण्डप और छतरी निर्मित है। इसी शेरमंडल की सीढ़ियों से गिर जाने के कारण हुमायूं की मौत हुई थी। शेरशाह ने रोहतासगढ़ के दुर्ग एवं कन्नौज के स्थान पर 'शेरसूर' नामक नगर बसाया। सन् 1541 ई. में उसने पाटलिपुत्र को 'पटना' के नाम से पुन: स्थापित किया।

शेरशाह के बेटे सलीमशाह ने दिल्ली में यमुना किनारे एक नये नगर को बसाने के लिए रोड़ी से बने एक नये किले की नींव डाली। इसे सलीमगढ़ या नूरगढ़ कहा जाता है। बाद में इसके निकट मुगलों ने लाल किला बनवाया और एक पुल के जरिए उसे

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

लाल किले से जोड़ दिया गया। मुगल काल में इसका प्रयोग बतौर जेलखाना भी हुआ। दिल्ली में हुमायूं के मकबरे के निकट शेरशाह के दरबारी ईसा खां का मकबरा और मस्जिद भी सूर युग की महत्त्वपूर्ण इमारत हैं। यह मस्जिद तीन मेहराब वाली है। इसके निकट उसका मकबरा भी 1547 ईस्वी का बना हुआ है। ये इमारतें सैयद और लोदी काल की इमारतों के जैसी हैं और इसमें पूर्व मुगल स्थापत्य के लक्षण मिलते हैं।

अवध का स्थापत्य *(Architecture of Avadh)*

अवध प्रांत की राजधानी रहे लखनऊ का स्थापत्य भी विशिष्ट है। इनमें से अधिकांश इमारतें नवाब आसिफउद्दौला (1775-98) के काल में बनीं। अवध की सबसे प्रसिद्ध इमारत बड़ा इमामबाड़ा है। इसके पश्चिमी हिस्से में रूमी दरवाजा बनवाया गया है। यह दरवाजा दोनों तरफ ऊपर से नीचे तक बहुत सुरूचिपूर्ण ढंग से सुसज्जित है। वहाँ बना छोटा इमामबाड़ा या हुसैनाबाद इमामबाड़ा मुहम्मद अली शाह ने बनवाया। नवाब गाजीउद्दीन हैदर का मकबरा जिसे शाहनजफ इमामबाड़ा भी कहते हैं, फारसी शैली से प्रेरित है। मेजर जनरल क्लाउड मर्टिन (1735-1800) ने 'कांस्टैंटिया' या 'ला मार्टीनियर- नामक इमारत बनवाई। इसकी उत्तर भारत में यूरोपीय शैली से बनी पहली बड़ी ईमारतों में गिनती होती है। यूरोपीय शैली में बनी एक अन्य इमारत 'छतर मंजिल' है जिसे नवाब नजीरुद्दीन हैदर ने बनवाया। नवाब वाजिद अली शाह ने कैसर बाग का निर्माण करवाया। अवध की इमारतों की एक प्रमुख विशेषता उनके दरवाजों में सजावट के लिए मछली का प्रयोग है। इसके अलावा बारादी, सिकंदर बाग, बनारसी बाग (चिड़ियाघर), भूलभुलैया और कुछ तहखाने भी यहाँ के महत्त्वपूर्ण स्थापत्य का हिस्सा हैं। लखनऊ रेजिडेंसी वर्तमान में एक राष्ट्रीय संरक्षित स्मारक है। यह इमारत अवध प्रांत की राजधानी लखनऊ में रह रहे, ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों का निवास स्थान हुआ करता थी। रेजीडेन्सी के खंडहर हमें लखनऊ में 1857 के महान विद्रोह की याद दिलाते हैं।

राजस्थान का स्थापत्य *(Architecture of Rajasthan)*

राजस्थान में कला की दृष्टि से मूल्यवान सर्वाधिक प्राचीन देवालयों के खंडहर नगरी (चित्तौड) नामक स्थान में मिलते हैं। इनमें वैष्णव, बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रभाव देखा जा सकता है। गुप्तकाल के पश्चात् चित्तौड़ का प्राचीन 'सूर्य मन्दिर', कोटा में भ्रमरमाता का मन्दिर, बाड़ौली का शिव मन्दिर, डूंगरपुर में अमझेरा, उदयपुर में डबोक के मंदिर में शिव, पार्वती, विष्णु, महावीर, भैरव तथा नर्तकियों का मूर्तिशिल्प महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सातवीं से दसवीं शताब्दी में अनेक मन्दिर बने। इस काल में बने विशाल मन्दिरों में क्षेत्रीय शैलियों का प्रारुप मिलता है। लगभग आठवीं शताब्दी से राजस्थान में गुर्जर-प्रतिहार अथवा महामारू शैली का विकास हुआ। इस शैली के मन्दिरों में केकीन्द (मेड़ता) का नीलकण्ठेश्वर मन्दिर, किराडू का सोमेश्वर मन्दिर प्रमुख है। बाद में जालौर के गुर्जर प्रतिहार, चौहानों, परमारों और गुहिलों ने मन्दिर शिल्प को समृद्ध बनाया। कुछ मन्दिर गुर्जर-प्रतिहार शैली से अलग हैं। इनमें बाड़ौली का मन्दिर, नागदा में सास-बहू का मन्दिर और उदयपुर में जगत अम्बिका मन्दिर, सिरोही जिले में वर्माण का ब्रह्माण्ड स्वामी मन्दिर प्रमुख हैं। दक्षिण राजस्थान के इन मन्दिरों में क्रमबद्धता एवं एकसूत्रता का अभाव दिखाई देता है। इन मन्दिरों के शिल्प पर गुजरात का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। इन मन्दिरों में विभिन्न शैलीगत तत्त्वों एवं परस्पर विभिन्नताओं के दर्शन होते हैं। 11वीं से 13वीं सदी के मध्य बने मन्दिरों का स्थापत्य उत्कर्ष पर पहुँचा। इस युग में काफी संख्या में बड़े और अलंकृत मन्दिर बने, जिन्हें सोलंकी या मारु गुर्जर शैली के तहत रखा गया है। इस शैली में बने मन्दिरों में ओसियाँ का सच्चियाय माता मन्दिर, चित्तौड़ दुर्ग में स्थित समिधेश्वर मन्दिर आदि प्रमुख हैं। इस शैली में ऊँचे चबूतरे पर बने मंदिरों के द्वार सजावटी, खंभे अलंकृत, पतले, लम्बे और गोलाई युक्त हैं और गर्भगृह के रथ आगे बढ़े हुए हैं। हिन्दूओं के अलावा जैन मन्दिरों का स्थापत्य भी महत्त्वपूर्ण है। इन मंदिरों में विशिष्ट तल, विन्यास संयोजन एवं स्वरूप जैन धर्म की पूजा-पद्धति और मान्यताओं के अनुरूप था। जैन मन्दिरों में सर्वाधिक प्रसिद्ध दिलवाड़ा के मन्दिर हैं। इनके अतिरिक्त रणकपुर, ओसियाँ, जैसलमेर, पाली जिले में सेवाड़ी, घाणेराव, नाडौल-नारलाई, सिरोही जिले में वर्माण, झालावाड़ जिले में चाँदखेड़ी और झालरापाटन, बूँदी में केशोरायपाटन, करौली में श्रीमहावीर जी आदि स्थानों के जैन मन्दिर प्रमुख हैं।

राजस्थान के स्थापत्य में दुर्ग या किला निर्माण महत्त्वपूर्ण है। मध्यकाल में राजपूतों के शासनकाल के साथ ही पहाड़ों पर दुर्गों का निर्माण बड़े पैमाने पर हुआ। चारों ओर ऊँची और चौड़ी दीवार से घिरे किले के ऊँचे भाग पर मंदिर एवं राजप्रासाद और विशाल भंडारगृह बनाए जाते थे। दुर्गों के निचले भागों में तालाब व समतल भूमि पर खेती होती थी। दुर्ग स्थापत्य में भारतीय परंपरा का निर्वहन मिलता है। परंपरा के अनुसार अलग-अलग उद्देश्य की पूर्ति के लिए भिन्न प्रकार के दुर्गों का निर्माण होना चाहिये। कौटिल्य ने दुर्गों को छः प्रकारों में बांटते हुए कहा था कि राज्य की रक्षा के लिए जल या औदिक दुर्गों (पानी के मध्य स्थित दुर्ग), पर्वत या गिरी दुर्ग (पहाड़ी पर बना), आपातकालीन स्थिति में शरण लेने के लिए धनु या धन्वन या मरु दुर्ग (रेगिस्तान में बना दुर्ग), वन दुर्गों (जंगल में बना), माही दुर्ग (मिट्टी से बना) और नर दुर्ग (सैन्य क्षमताओं वाला) का निर्माण किया जाय। इसी प्रकार मनुस्मृति तथा मार्कण्डेय पुराण में भी दुर्गों के प्रायः इन्हीं प्रकारों की चर्चा की गई है। राजस्थान के शासकों एवं सामंतों ने इसी दुर्ग परंपरा का निर्वाह किया है। राजपूत काल में दुर्ग स्थापत्य के अलावा राजभवनों का निर्माण भी राजस्थान के स्थापत्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। मेनाल, नागदा, आमेर आदि में पूर्व मध्यकालीन कालीन राजभवनों के अवशेष मिलते हैं जिनमें छोटे कमरे, छोटे दरवाजे

Copyright– Drishti The Vision Foundation

एवं दालान कमरों को बरामदे से जोड़ने के प्रमाण मिलते हैं तथा खिड़कियों का अभाव दृष्टिगोचर होता है। राजभवन साधारण मकानों के सादगी वाले वृहद रूप मात्र है। राजपूतों का मुगलों से सम्बन्ध होने के बाद इन राजभवनों को भव्य, रोचक तथा क्रमबद्ध बनाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। इनमें मुगल स्थापत्य की विशेषताएँ जैसे फव्वारे, छोटे बाग, पतले खम्भे, दीवारों पर बेलबूटे, संगमरमर का काम, आदि दृष्टिगोचर होती हैं। उदयपुर के अमरसिंह के महल, जननिवास, जगमंदिर, जोधपुर के फूलमहल, आमेर व जयपुर के दीवाने आम व दीवाने खास, तथा बीकानेर के रंगमहल, कर्णमहल, शीशमहल, अनूपमहल आदि में राजपूत तथा मुगल-पद्धति का समुचित समन्वय है। बूँदी, कोटा तथा जैसलमेर के महलों में मुगल शैली क्रमशः बदलती दिखाई देती है। इसका कारण मुगलों की उत्तरोत्तर घटती शक्ति को माना जाता है। राजस्थान में जयपुर का स्थापत्य विशेष महत्त्व रखता है।

जयपुर का स्थापत्य पुरातन तथा नूतन को जोड़ने वाली महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस सुनियोजित नगर की स्थापना कछवाहा राजा जयसिंह द्वितीय ने 1728 ई. में तीन ओर पहाड़ियों पर बने किलों से घिरी सूखी झील के मैदान में की। गुलाबी पत्थर से बने होने के कारण इसे गुलाबी शहर कहते हैं। दीवारों से घिरे इस नगर में सात द्वार हैं और बाज़ार सीधी सड़कों के दोनों ओर हैं। चौपड़ के नक्शे के अनुसार ही सड़कें बनवाई गईं। पूर्व से पश्चिम जाने वाली मुख्य सड़क 111 फुट चौड़ी रखी गई जो इतनी ही चौड़ी अन्य सड़क को ईश्वर लाट नामक मीनार के निकट समकोण पर काटती थी। अन्य सड़कें 55 फुट चौड़ी रखी गईं। ये मुख्य सड़क को कई स्थानों पर समकोणों पर काटती थीं। कई गलियाँ जो चौड़ाई में इनकी आधी या 27 फुट थी, नगर के भीतरी भागों से आकर मुख्य सड़क में मिलती थीं। एक सात मंजिला राजमहल नगर के केंद्र में बनाया गया था। सवाई जयसिंह ने जयपुर शहर की स्थापना करते हुए चार दीवारी का लगभग सातवाँ हिस्सा अपने निजी निवास के लिये बनवाया। राजपूत और मुगल स्थापत्य में बना महाराजा का यह राजकीय आवास चन्द्र महल के नाम से विख्यात हुआ। चन्द्र महल में प्रवेश करते ही मुबारक महल के नाम से एक चतुष्कोणीय महल बना हुआ है। मुबारक महल में श्वेत संगमरमर से निर्मित राजेन्द्र पोल से दीवाने आम में प्रवेश किया जाता है। मध्य युग में निर्मित यह भवन आकाशीय बिजली से सुरक्षित रखने के लिए तड़ित चालक की व्यवस्था से भी जुड़ा हुआ है।

यहाँ बनी जंतर मंतर नामक वेधशाला की नींव महाराजा सवाई जयसिंह ने सन् 1718 में रखी। इस ज्योतिष यंत्रालय में समय की जानकारी, सूर्योदय, सूर्यास्त एवं नक्षत्रों संबंधी जानकारी देने वाले यंत्र लगे हैं जिनमें वृहत सम्राट यंत्र, जय प्रकाश यंत्र, राम यंत्र, कपाली यंत्र, नाडी वलय यंत्र, घोटा यंत्र आदि मुख्य हैं। देश में सबसे पहली वेधशाला दिल्ली में 1724 में बनवाई गई और उसके दस वर्ष बाद जयपुर में सबसे विशाल वेधशाला बनी। यहाँ स्थित सम्राट यंत्र विश्व की सबसे बड़ी सौर घड़ी मानी जाती हैं। जयपुर के बाद उज्जैन, बनारस और मथुरा में वेधशालाएँ बनवायी गईं।

जयपुर की एक प्रसिद्ध इमारत 'हवा महल' कई स्तरों पर बना हुआ पाँच मंजिला महल है। इसका निर्माण सवाई प्रताप सिंह ने सन् 1799 में रानियों व राजकुमारियों के लिए विशेष मौको पर निकलने वाले जुलूस और बाज़ार आदि को देखने के लिए करवाया। शहर के बीचोबीच बने खूबसूरत भवन में 152 खिड़कियाँ व जालीदार छज्जे हैं। राजपूत व मुगल कला के इस शानदार नमूने में बने अनगिनत हवादार झरोखों के कारण इसका नाम हवा महल पड़ा। मधुमक्खी के छत्ते जैसे आकार वाला यह महल लाल और गुलाबी बलुआ पत्थर से बनाया गया है, जिसमें सफेद किनारी और मोटिफ के साथ बारीकी से पच्चीकारी की गई है।

जयपुर में इनके अलावा, ईसरलाट, आमेर का किला, अम्बर किला, गोविंद देवजी का मंदिर, सांगानेर, जयगढ़ किला, नाहरगढ़ किला, दरगाह हज़रत मौलाना ज़ियाउद्दीन साहब, पन्ना मीना की बावड़ी, माउंट आबू में दिलवाड़ा जैन मंदिर, अचलगढ़ किला, गुरु शिखर, जैसलमेर में सोनार किला, बादल विलास, जवाहर विलास, लौद्रवा जैन मंदिर।

अलवर में नीमराना फोर्ट पैलेस, भर्तृहरि का मन्दिर।

बीकानेर में जूनागढ़ किला, करणीमाता का मंदिर, बीकानेर का किला, सूरज पोल या सूर्य द्वार, लाल गढ़ महल, जोधपुर में मेहरानगढ़ किला, गांगाणी, जसवंत थाड़ा, उम्मेद महल।

चित्तौगढ़ में चित्तौड़गढ़ किला, रत्न सिंह महल, जैन कीर्ति स्तम्भ, फतेह प्रकाश महल, कलिका माता का मन्दिर, कुम्भास्वामी मन्दिर, कुम्भा महल, रानी पद्मिनी का महल, कीर्ति स्तम्भ स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

ग्वालियर (*Gwalior*)

राजा मानसिंह तोमर ने ग्वालियर के किले को 15वीं शताब्दी में एक पहाड़ी पर चाहरदीवारी से युक्त बनवाया था। किले में प्रवेश के दो रास्ते हैं। पूर्वी दिशा में पैदल योग्य रास्ता ग्वालियर दरवाजा और दूसरा पश्चिमी दिशा में बना उर्वई द्वार है जहाँ वाहन से पहुँचा जा सकता है। किले में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ पत्थर काटकर बनाई गई हैं। इसके उत्तरी सिरे पर जहाँगीरी महल, शाहजहाँ महल, करना महल, विक्रम महल और जल जौहर कुंड है। जहाँगीरी महल और शाहजहाँ महल मुगल वास्तुशैली पर आधारित हैं। किले की एक प्रसिद्ध इमारत मान मंदिर महल है। इस महल के दो खुले प्रांगण हैं जो कक्षों से घिरे हैं। इन कक्षों के निर्माण में पत्थरों, स्तम्भों और ब्रेकेट का प्रयोग हुआ है। मोर व अन्य पक्षियों की चित्रकारी से सजावट के कारण इस महल को चित्र मंदिर और चित्रकारी के महल के नाम से भी जाना जाता है। यह महल पच्चीकारी और नक्कासी का बेहतरीन नमूना है। खूबसूरत पत्थरों

Copyright– Drishti The Vision Foundation

की चित्रपट्टी में संगीत भी गूंजता था। किले में इसके अलावा सास बहू का मंदिर, तेलंगाना या तेली मंदिर, जसविलास महल आदि इमारतें है। किले में बना गूजरी महल विशिष्ट है। इसे 15 शताब्दी में राजा मानसिंह ने अपनी गुर्जर पत्नी मृगनयनी के प्रेम में बनवाया थी। आज गूजरी महल को मूर्तिकला के संग्रहालय का रूप दे दिया है। यहाँ देवी शालभंजिका की प्रतिमा रखी हुई है। इसके अलावा ग्वालियर में अकबर के नवरत्नों में से एक और शास्त्रीय संगीत गायक मियां तानसेन का मकबरा यहाँ बना है। यह इमारत प्रारंभिक मुगलीय वास्तुशैली के आधार पर बनी है। मकबरा पारंपरिक मुस्लिम शैली के बगीचे से घिरा हुआ है। महान सूफी संत गौस मोहम्मद की कब्र तानसेन के मकबरे के नजदीक स्थित है। उनका मकबरा परंपरागत मुगल शैली पर आधारित है। इसकी मुख्य विशेषता षट्कोणीय स्तम्भ और नुकीले पत्थरों का प्रयोग है।

मुगलकालीन स्थापत्य कला *(Architecture of Mughal Period)*

मुगलकालीन स्थापत्य कला की प्रमुख विशेषता यह है कि इस काल में पहली बार आकार एवं अलंकरण की विविधता का प्रयोग, निर्माण के लिए पत्थर के अलावा प्लास्टर एवं गच्चकारी का प्रयोग किया गया। मुगल स्थापत्य की दूसरी विशेषता यह है कि सजावट के लिए संगमरमर पर जवाहरात के जड़ाऊ काम किये गये। इसके अलावा पत्थरों को काट कर फूल पत्ती, बेलबूटे को सफ़ेद संगमरमर में जड़ा जाता था। इस काल में बनाए गये गुम्बदों एवं बुर्जों को 'कलश' से सजाया गया है।

मुगल वंश के संस्थापक बाबर ने वास्तुकला में विशेष रुचि दिखाई। उसकी आत्मकथा 'बाबरनामा' के अनुसार तत्कालीन स्थानीय वास्तुकला में संतुलन का अभाव था इसलिए उसने निर्माण कार्यों में इस बात का विशेष ध्यान रखा कि इमारतें सामंजस्यपूर्ण और ज्यामितिय हों। बाबर के लगवाये बागों में कश्मीर का निशात बाग, लाहौर का शालीमार बाग तथा पंजाब की तराई में पिंजोर बाग बहुत मशहूर हैं। उसने आगरा में ज्यामितीय आधार पर 'आराम बाग', पानीपत के 'काबुली बाग' में एक स्मारक मस्जिद (1524 ई.), मुरादाबाद (उ.प्र.) के निकट सम्भल में 'जामी मस्जिद' (1529 ई.), आगरा में लोदी के पुराने किले के भीतर की मस्जिद आदि इमारतें बनवाईं। इसमें पानीपत की मस्जिद की विशेषता यह है कि इसके निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया गया है। उसका पुत्र एवं गद्दी का वारिस हुमायूँ विपरीत राजनीतिक परिस्थितियों के कारण वास्तुकला के क्षेत्र में कुछ खास नहीं कर सका। उसने 1533 ई. में दिल्ली में यमुना के किनारे 'दीनपनाह' (धर्म का शरणस्थल) नामक नगर की नींव डाली। इस नगर को अब 'पुराना किला' के नाम से जाना जाता है। इसकी दीवारें अनगढ़े पत्थरों से निर्मित हैं। इसके अतिरिक्त हुमायूँ ने फतेहाबाद में फारसी स्थापत्य शैली में दो मस्जिदें (1540 ई.) बनवाईं।

अकबर के शासन काल में हुए निर्माण कार्यों में हिन्दू-मुस्लिम शैलियों का व्यापक समन्वय दिखता है। अबुल फ़ज़ल ने अकबर के विषय में कहा है कि, 'सम्राट सुन्दर इमारतों की योजना बनाता है और अपने मस्तिष्क एवं हृदय के विचार से पत्थर एवं गारे का रूप दे देता है।' अकबर ने कई किलों का निर्माण करवाया, जिसमें आगरा में लाल पत्थर से बना किला बहुत प्रसिद्ध है। सन् 1572 में अकबर ने आगरा से 36 किलोमीटर दूर फतेहपुर सीकरी में किलेनुमा महल का निर्माण शुरु किया जो आठ सालों में पूरा हुआ। पहाड़ी पर बसे इस महल में एक बड़ी कृत्रिम झील, गुजरात तथा बंगाल शैली में कई भवन बनवाये गये। इनमें गुफाएँ, झरोखे तथा छतरियाँ थीं। हवा का आनंद लेने के लिए बने 'पंचमहल' की सपाट छत को सहारा देने के लिए विभिन्न स्तम्भों का प्रयोग हुआ। सुसज्जित स्तंभ का प्रयोग भारत में सदियों से मंदिर निर्माण के लिए होता आ रहा था। महल की महिलाओं के लिए बने महलों में से अधिकांश गुजराती शैली में हैं। दीवारों तथा छतों के अलंकरण के लिए चमकीले नीले पत्थरों का प्रयोग हुआ। यह ईरानी स्थापत्य का प्रभाव है। फतेहपुर सीकरी की सबसे प्रभावशाली इमारत गुजरात विजय से उपलक्ष्य में ईरानी शैली में बना बुलन्द दरवाज़ा है। यह प्रभाव मुगल भवनों में आम रूप से प्रयोग हुआ है। अकबर ने निर्माण कार्य पर अधिक धन अपव्यय न कर ऐसी इमारतों का निर्माण करवाया, जो अपनी सादगी से ही सुन्दर लगती थी। उसने 'मेहराबी' एवं 'शहतीरी' शैली का समान अनुपात में प्रयोग किया। अकबर ने अपने निर्माण कार्यों में लाल पत्थर का प्रयोग किया। अकबर की समन्वयकारी नीति को उसकी इमारतों में देखा जा सकता है।

जहाँगीर के शासनकाल के अंतिम दिनों में पूरी तरह से संगमरमर से भवनों का निर्माण आरम्भ हो गया था। इन इमारतों की दीवारों पर कीमती पत्थरों से नक्काशी है। वास्तुकला के क्षेत्र में जहाँगीर ने बहुत अधिक रुचि नहीं दिखाई। उसने बाग-बगीचों एवं चित्रकारी को अधिक महत्व दिया। इसलिए कुछ इतिहासकारों ने जहाँगीर के काल को स्थापत्य कला का विश्राम काल कहा है।

भवन बनाने का तरीका शाहजहाँ के समय में खूब इस्तेमाल हुआ। पूर्ण संगमरमर की इमारत ताजमहल, मुगलों द्वारा विकसित वास्तुकला की सभी शैलियों का समन्वय माना जाता है। अकबर द्वारा निर्मित हुमायूँ का मकबरा इसी ताज का पूर्वगामी कहा जाता है। शाहजहाँ के शासनकाल में मस्जिद निर्माण कला भी अपने शिखर का पहुँची। साथ ही सफेद संगमरमर का प्रयोग भी चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। राजस्थान के 'मकराना' नामक स्थान से मिलने वाला संगमरमर वृत्ताकार कटाई के लिए अधिक उपयुक्त था। नक्काशी युक्त या पर्णिल मेहराबें, बंगाली शैली के मुड़े हुए कंगूरे, जंगले के खम्भे आदि शाहजहाँ के काल की विशेषताएँ हैं। अकबर की

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इमारतों की तुलना में शाहजहाँ की इमारतें चमक-दमक एवं मौलिकता में घटिया हैं, परन्तु अतिव्ययपूर्ण प्रदर्शन एवं समृद्ध और कौशलपूर्ण सजावट में वे अग्रणी हैं, जिससे शाहजहाँ काल की वास्तुकला बड़े पैमाने पर रत्नों के सजाने की कला बन जाती है।

खराब हो रही अर्थव्यवस्था से जूझ रहे एवं मितव्ययी औरंगजेब ने भवनों का निर्माण बड़े पैमाने पर नहीं किया उसने 1659 ई. में दिल्ली की मोती मज्ज़िद के अधूरे कार्य को पूरा किया था। 1674 ई. में उसने लाहौर में 'बादशाह मस्जिद और 1678 ई. में औरंगज़ेब ने अपनी 'बेगम रबिया दुर्रानी' की स्मृति में दौलताबाद में एक मकबरे का निर्माण करवाया। यह 'बीबी का मकबरा' के नाम से प्रसिद्ध है, जो ताजमहल की नकल है। इस मकबरे के माध्यम से मुगल स्थापत्य में पतन को स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। भारतीय, तुर्क तथा ईरानी शैलियों के समन्वय पर विकसित मुगल वास्तुकला की परम्परा 18वीं और 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक चलती रही। मुगल परम्परा ने कई स्थानीय राजाओं की वास्तुकला को प्रभावित किया। अमृतसर में बने स्वर्ण मंदिर में भी मुगल वास्तुकला का प्रभाव दिखता है।

मुगल काल में बनीं कुछ मुख्य इमारतों का वर्णन इस प्रकार है-

हुमायूँ का मकबरा *(Humayun Tomb)*

इसका निर्माण कार्य अकबर की सौतेली माँ हाजी बेगम की देख-रेख में 1564 ई. में हुआ। इस मकबरे का वास्तुकार ईरान का मीरक मिर्ज़ा ग्यास था। इस इमारत ने आने वाले युग में स्थापत्य को नई दिशा दिखाई। यह मकबरा सफेद संगमरमर वाले गुंवद, लाल पत्थर की दीवारों और फारसी शैली में बनाया गया। यह मकबरा एक ज्यामितीय चतुर्भुजाकार बाग में बनाया गया। इस मकबरे में हिन्दू शैली की 'पंचरथ' से भी प्रेरणा ली गई है। एक ऊँचे पत्थर के चबूतरे पर बने इस मकबरे का मुख्य द्वार पश्चिम दिशा में है। उभरी हुई दोहरी गुम्बद वाला यह मकबरा भारत में बना पहला उदाहरण है। उद्यानों में निर्मित मकबरों की योजना उनमें दफनाये गये व्यक्तियों के पराभौतिक स्वरूप की ओर संकेत है। इस प्रकार के भवनों की परम्परा में पहला भवन हुमायूँ का मकबरा है। इस परम्परा की परिणति ताजमहल में हुई। इसलिए हुमायूँ के मकबरे को 'ताजमहल का पूर्वगामी' भी कहते हैं।

आगरा किला *(Agra Fort)*

आगरा में यमुना नदी के किनारे अकबर द्वारा बनवाया किला लाल पत्थरों से निर्मित होने के कारण 'लाल किले' के नाम से विख्यात है। यह 2.5 किलोमीटर लम्बा और बहुत मजबूत चहारदीवारी वाला किला है। यह मुगल शासकों का शाही शहर कहा जाता है। सन् 1566 ई. में अकबर के मुख्य वास्तुकार कासिम खाँ की देखरेख में यह किला बना। लगभग 15 वर्षों तक लगातार निर्माण एवं 35 लाख रुपये खर्च के बाद यह किला बनकर तैयार हुआ। किले की मेहराबों पर पशु-पक्षी, फूल-पत्तियों की आकृतियाँ बनी हुई हैं। हालाँकि इससे पहले मेहराबों पर कुरान की आयतें अंकित करने की परंपरा थी। कई भवनों वाले इस किले के पश्चिम में स्थित 'दिल्ली दरवाजे' का निर्माण 1566 ई. में किया गया। किले का दूसरा दरवाज़ा अमर सिंह दरवाज़ा या लाहौरी अथवा अकबरी दरवाजा के नाम से जाना जाता है। किले के स्थापत्य पर बंगाल एवं गुजरात की निर्माण शैली का भी प्रभाव देखा जा सकता है। इस किले पर ग्वालियर के किले का प्रभाव भी है। किले में बनी मुख्य इमारतें इस प्रकार हैं-

जहाँगीरी महल-आगरे के किले की एक महत्वपूर्ण इमारत जहाँगीरी महल है। 249 × 260 फुट आकार वाले इस महल के चारों कोने में 4 बड़ी छतरियाँ हैं। महल के प्रवेश में बना दरवाज़ा नोकदार मेहराब का है। महल के मध्य में 17 फुट का आयताकार आंगन बना है। हिन्दू शैली में बने इस महल में संगमरमर का अल्प प्रयोग किया गया है। कड़ियाँ तथा तोड़े का प्रयोग इसकी विशेषता है। जहाँगीरी महल के सामने लॉन में प्याले के आकार का एक हौज निर्मित है, जिस पर फारसी भाषा में आयतें खुदी हैं। जहाँगीरी महल के दाहिनी ओर अकबरी महल का निर्माण हुआ था।

दीवान-ए-आम-इस किले में शाहजहाँ द्वारा 1627 ई. में बनवाया गया 'दीवान-ए-आम' शाहजहाँ के समय का संगमरमर का प्रथम निर्माण कार्य था। इसमें सम्राट के बैठने के लिए 'मयूर सिंहासन' की व्यवस्था थी। इस भवन का प्रयोग आम जनता की फरियाद सुनने के लिये होता था।

दीवान-ए-ख़ास-1637 ई. में शाहजहाँ द्वारा निर्मित यह भवन सफ़ेद संगमरमर की आयताकार इमारत है। 'दीवान-ए-ख़ास' में महत्त्वपूर्ण अमीर एवं उच्चाधिकारी ही आ सकते थे। इसी इमारत में शिवाजी औरंगजेब से मुलाकात करने आये थे।

मोती मस्जिद-1564 में शाहजहाँ द्वारा निजी प्रयोग के लिए सफेद संगमरमर से बनवाई गई 'मोती मस्जिद' आगरा के किले की सर्वोत्कृष्ट इमारतों में गिना जाता है। मस्जिद में निर्मित गुम्बद मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं।

जामा मस्जिद-आगरा किले में स्थित इस मस्जिद का निर्माण शाहजहाँ की पुत्री 'जहाँआरा बेगम' ने 1648 ई. में करवाया था। इस मस्जिद में लकड़ी एवं ईंट का भी प्रयोग किया गया है। आगरा की जामा मस्जिद को 'मस्जिदे-जहाँनामा' भी कहा जाता है। किले की अन्य इमारतें इस प्रकार हैं-

- स्वर्ण मंडप - बंगाली झोपड़ी के आकार की छतों वाले सुंदर मंडप।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

- खास महल – श्वेत संगमरमर निर्मित यह महल, संगमरमर रंगसाजी का उत्कृष्ट उदाहरण है।
- मछली भवन – तालाबों और फव्वारों से सुसज्जित, परिवारिक समारोहों के लिये प्रयुक्त होता था।
- मीना मस्जिद-एक छोटी मस्जिद।
- मुसम्मन बुर्ज – ताजमहल की तरफ उन्मुख छज्जेदार एक बड़ा अष्टभुजाकार बुर्ज।
- नगीना मस्जिद – दरबार की महिलाओं के लिये निर्मित मस्जिद, जिसके भीतर जनाना मीना बाजार था जिसमें केवल महिलायें ही समान बेचा करती थी।
- नौबत खाना – इसमें राजा के संगीतज्ञ वाद्ययंत्र बजाते थे।
- रंग महल – इसमें राजा का परिवार रहता था।
- शाही बुर्ज – शाहजहाँ का निजी कार्य क्षेत्र।
- अंगूरी बाग – ज्यामिति के आकार वाला उद्यान
- शाहजहाँ महल – शाहजहाँ द्वारा लाल बलुआ पत्थर से बनवाया हुआ।
- शीश महल – शाही छोटे जड़ाऊ दर्पणों से सुसज्जित राजसी वस्त्र बदलने का कमरा।

फतेहपुर सीकरी *(Fatehpur Sikri)*

अकबर ने जहाँगीर के जन्म के बाद 1571 ई. में शेख सलीम चिश्ती के प्रति आदर प्रकट करने के लिए फतेहपुर सीकरी के निर्माण का आदेश दिया। इस नए नगर को मुगल साम्राज्य की राजधानी बनाया गया। यह 7 मील लम्बे पहाड़ी क्षेत्र में फैला हुआ है। इसमें बने 9 प्रवेश द्वारों में आगरा, दिल्ली, अजमेर, ग्वालियर एवं धौलपुर प्रमुख हैं। फतेहपुर सीकरी नगर अकबर की उस राजनीति का पारदर्शक वास्तुकलात्मक प्रतिबिंब है, जिसके द्वारा वह अपने विशाल साम्राज्य के विविध तत्वों के मध्य एकता स्थापित करना चाहता था।

दीवान-ए-आम–दीवान-ए-आम में खम्बों पर निकाली हुई बरामदों की छत वाला एक आयताकार कक्ष है। दीवान-ए-आम' में मनसबदारों के लिए मेहराबी बरामदे और दफ्तरखाना बना है।

दीवान-ए-खास–बौद्ध एवं हिन्दू कला शैली के प्रभाव वाला 'दीवान-ए-खास' वर्गाकार भवन है। इस कक्ष के मध्य में स्थित स्तम्भ पर आपस में जुड़े हुए फूल की पंखुड़ियों की तरह के 36 लहरदार ब्रेकेट बनाये गये हैं जिनके ऊपर गोल पत्थर का मंच जैसा निर्माण हुआ है। बीचोबीच बने इस स्तंभ को बहुत प्रशंसा मिली है। इस स्तंभ के ऊपर ही पत्थर के दो पुल हैं जो कक्ष के दूसरे तल से जुड़े हुए हैं। इन्हीं पुलों के बीचोबीच यानी स्तंभ के ठीक ऊपर बैठने का स्थान है।

पंचमहल–पिरामिड आकार में बनी इस पाँच मंजिल इमारत को 'हवा महल' भी कहा जाता है। यह भवन नालन्दा में निर्मित बौद्ध विहारों से प्रेरित है। नीचे से ऊपर की ओर जाने पर मंजिलें क्रमशः छोटी होती गई हैं। महल के खम्बों पर फूल-पत्तियाँ, रुद्राक्ष के दानों से सुन्दर सजावट की गई है। पहली मंजिल के बड़े हॉल में 48 खम्भे निर्मित हैं, जिन पर शेष मंजिलों का भार है।

तुर्की सुल्तान की कोठी–यह एक मंजिले की अत्यधिक आकर्षक एवं छोटी इमारत है। इस इमारत का निर्माण सम्भवतः 'रुक्कैया बेगम' या फिर 'सलीमा बेगम' के लिए किया गया था। इमारत के अन्दर की दीवारों पर पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों की चित्रकारी की गयी है। इमारत के अलंकरण में काष्ठकला का प्रभाव दिखता है।

खास महल–लाल पत्थर एवं सफेद संगमरमर के संयोग से बनी इस दो मंजिला इमारत को अकबर के व्यक्तिगत आवासगृह के रूप में प्रयोग किया जाता था। महल के चारों कोनों पर 4 छतरियों का निर्माण किया गया था। दीवारों में जालियाँ लगी थीं। महल के दक्षिण में शयनागार था जिसमें चार दरवाजे लगे थे। महल के ऊपरी हिस्से में 'झरोखा दर्शन' की व्यवस्था की गई थी।

जोधाबाई का महल–फतेहपुर सीकरी में बने सभी भवनों के आकार में यह महल सबसे बड़ा है। इस महल में की गयी सजावट दक्षिण के मंदिरों से प्रभावित है। इसमें गुजरात के कारीगरों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। महल के उत्तर में ग्रीष्म विलास एवं दक्षिण में शरद विलास का निर्माण हुआ है। इस महल में लगे खम्भों के शहतीर एवं उनकी घण्टियाँ हिन्दू मंदिरों जैसी हैं।

बीरबल का महल–इस महल में दो मंजिल पर सुन्दर चपटे आकार के गुम्बद एवं बरसातियों पर पिरामिड के आकार की छतें हैं। महल के छज्जे कोष्ठकों पर आधारित हैं। छज्जों में कोष्ठकों का प्रयोग इस इमारत की विशेषता है।

जामा मस्जिद–मक्का की प्रसिद्ध मस्जिद से प्रेरणा ग्रहण कर बनाई गई इस मस्जिद का आकार आयताकार है। मस्जिद के दक्षिण में बुलन्द दरवाजा, मध्य में शेख सलीम चिश्ती का मकबरा, उत्तर में इस्लाम खाँ का मकबरा निर्मित है। मस्जिद के ऊपर बने तीन गुम्बदों में बीच का गुम्बद सर्वाधिक बड़ा है।

बुलंद दरवाजा–इस दरवाज़े का निर्माण सम्राट अकबर ने गुजरात विजय के उपलक्ष्य में जामा मस्जिद के दक्षिणी द्वार पर करवाया था। इसके निर्माण में लाल रंग के बलुआ पत्थर का प्रयोग किया गया है। जमीन की सतह से इस दरवाज़े की ऊँचाई 176

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

फूट है। दरवाजे की महत्त्वपूर्ण विशेषता इसको मेहराबी मार्ग है। दरवाजे पर लिखे लेख द्वारा अकबर मानव समाज को विश्वास, भाव एवं भक्ति का सन्देश देता है।

शेख सलीम चिश्ती का मकबरा–जामा मस्जिद के आहाते में बने इस मकबरे का निर्माण कार्य 1571 ई. में प्रारम्भ हुआ। यह वर्गाकार मकबरा लाल एवं बलुआ पत्थर से बनाया गया है। कालान्तर में जहाँगीर ने बलुआ पत्थर के स्थान पर संगमरमर लगवाया। मकबरे के सर्वाधिक आकर्षक भाग इसकी ड्योढ़ी (चौखट) एवं स्तम्भ हैं। मकबरे की फर्श रंग-बिरंगी है।

फतेहपुर सीकरी में इन भवनों के अलावा इस्लाम खाँ का मकबरा, सराय कारवां, हिरन मीनार, अबुल फजल भवन, इबादतखाना, दफ्तरखाना, नौबत खाना (नक्कारखाना), हकीम और दारोगा आवास, पचीसी (लूडो जैसे खेल) भवन, अनूप तालाब और हुज्रा-ए अनूप तालाब, शाही अस्तबल और टकसाल आदि भवन बनवाए गये। अकबर ने लाहौर का किला और नवम्बर, 1583 ई. में इलाहाबाद का किला बनवाया। इलाहाबाद का किला 40 स्तम्भों के कारण विशालता का अहसास कराता है। किले के निर्माण में लाल बलुआ पत्थर का प्रयोग हुआ है। अकबर ने 1581 ई. में 'अटक का किला' बनवाया था। खण्डहर के रूप में बचा यह किला सामरिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है।

सिकंदरा (आगरा) में मकबरे की योजना स्वयं अकबर ने बनाई थी, परन्तु 1612 ई. में अन्तिम रूप से इसका निर्माण कार्य जहाँगीर ने पूरा करवाया। पिरामिड के आकार में बने इस पंचमंजिला मकबरे की सबसे ऊपरी मंजिल का निर्माण संगमरमर द्वारा जहाँगीर ने करवाया था। मकबरे का प्रवेश द्वार बलुआ पत्थर से निर्मित है। मकबरे के चारों कोनों पर अष्टभुजीय मीनारें बनाई गई हैं। मकबरे की छत के बीच में संगमरमर का एक सुंदर कक्ष है। इस इमारत में जड़ाऊ संगमरमर, रंगीन टाइलों का प्रयोग हुआ है।

एतमादुद्दौला का मकबरा *(Tomb of Itmaduddaula)*

आगरा में यमुना नदी के तट पर स्थित एतमादुद्दौला का मकबरा अकबर एवं शाहजहाँ की शैलियों के मध्य एक कड़ी है। इस मकबरे का निर्माण 1626 ई. में नूरजहाँ ने करवाया। मुगलकालीन वास्तुकला के अन्तर्गत निर्मित यह प्रथम ऐसी इमारत है, जो पूर्ण रूप से बेदाग सफेद संगमरमर से निर्मित है। सर्वप्रथम इसी इमारत में पिट्राड्यूरा नामक जड़ाऊ काम किया गया। मकबरे के अन्दर सोने एवं अन्य कीमती रत्नों से जड़ावट का कार्य किया गया है। मकबरे के अन्दर निर्मित एतमादुद्दौला एवं उसकी पत्नी की कब्रें पीले रंग के कीमती पत्थर से निर्मित हैं। मकबरे की दीवारों में संगमरमर की सुन्दर जालियों का प्रयोग किया गया है।

मरियम उज-जमानी का मकबरा *(Tomb of Mariam-uz-Zamani)*

यह मकबरा सिकन्दरा में अकबर के मकबरे के निकट जहाँगीर ने एक बाग में बनवाया। राजस्थानी प्रभाव वाले इस मकबरे का निर्माण लाल पत्थर एवं ईंटों से हुआ है। इस वर्गाकार मकबरे का मध्य भाग सफेद संगमरमर से निर्मित है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि हरखा बाई या मरियम-उज-जमानी ही अकबर की पत्नी और जहाँगीर की माँ थी। जहाँगीर ने मरियम उज जमानी की याद में लाहौर में मस्जिद भी बनवाई।

ताजमहल *(Taj Mahal)*

शाहजहाँ ने आगरा में यमुना नदी के तट पर इस मकबरे को अपनी प्रिय बेगम 'मुमताज़ महल' (अर्जुमन बानू बेगम) की याद में बनवाया (1631–53 ई.) था। मकबरा 'ताजमहल' के निर्माण में 'उस्ताद अहमद लाहौरी' की प्रमुख भूमिका थी। ताजमहल के निर्माण में कई देशों एवं भारतीय कुशल कारीगरों को बुलवाया गया था। इस मकबरे में मध्य एशिया, ईरान एवं भारत की भवन निर्माण शैलियों का सामंजस्यपूर्ण संयोजन है। ताजमहल के मध्य में स्थित मकबरा 22 फुट ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है। ताजमहल के अन्दर के भाग में पिट्राड्यूरा (Pietra Dura) शैली में सुन्दर सजावट का काम किया गया है।

पिट्राड्यूरा (Pietra Dura) इतालवी भाषा का शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है हार्ड स्टोन या कठोर पत्थर। यह कला 16वीं सदी में इटली के रोम में प्रयुक्त हुई और बाद में फ्लोरेंस नगर के कलाकारों ने इसे शीर्ष पर पहुँचाया। सरल शब्दों में यह पत्थर पर जड़ाऊ काम है। इसका मुगलकालीन इमारतों में पर्याप्त प्रयोग हुआ है। इसे लाल किला, मुसम्मन बुर्ज, एतमादुद्दौला के मकबरे और ताजमहल के संगमरमर में बखूबी देखा जा सकता है। इस कला में संगमरमर के टुकड़े पर पहले एक पेंसिल से आकृति बनाई जाती है। आकृति को थोड़ा गहरे तक नोंकदार चाकू से खुरचा जाता है और कीमती पत्थरों एवं धातुओं से भरा जाता है।

शाहजहाँनाबाद और लाल किला *(Shahjahanabad and Red Fort)*

शाहजहाँ ने 1638 ई. में यमुना नदी के दाहिने तट पर 'शाहजहाँनाबाद' (वर्तमान पुरानी दिल्ली) नामक नगर की नींव रखी। इस नगर में 14 फाटक और चाँदनी चौक बाजार बनाया गया एवं बाजार के बीच से नहर निकाली गई। इन दरवाजों में कई नष्ट

Copyright– Drishti The Vision Foundation

...कुछ प्रमुख दरवाजों में दक्षिण-पश्चिम की ओर अजमेरी दरवाजा, दक्षिण की ओर तुर्कमान दरवाजा, उत्तर की ओर कश्मीरी, दक्षिण-पूर्व में दिल्ली दरवाजा और उत्तर-पूर्व में निगमबोध दरवाजा आदि हैं। इसमें 14 खिड़कियाँ भी थीं। इनमें से कुछ ... खिड़की फराशखाना, खिड़की निगमबोध, खिड़की नसीरगंज आदि हैं।

शाहजहाँनाबाद नगर में अष्टभुजाकार 'लाल किला' नामक एक किले का निर्माण करवाया गया, जिसका निर्माण कार्य 1648 ... पूर्ण हुआ। इसके अनेक दरवाजों में दिल्ली और लाहौरी दरवाजा प्रसिद्ध हैं। लाहौरी दरवाजे से छत्ता चौक और अन्य महलों ... तरफ जाया जाता है। महल क्षेत्र के प्रवेश द्वार पर नक्कार खाना या नौबतखाना है। जहाँ दिन में पाँच बार संगीत बजता था। इसे ...पोल भी कहा गया है। लाल किले में बने दीवान-ए-आम इमारत स्तंभों पर बनी और नौ द्वारों वाली लहरदार मेहराबों का एक कक्ष है। इसका एक हिस्सा बंगाल शैली की छत से बना है। इसी छत के नीचे 'तख्त-ए-ताऊस' में लगे हुए रंगमहल का निर्माण शाही परिवार के लोगों के लिए किया गया था। दीवान-ए-खास' की अन्दर की छत में चाँदी, सोने एवं अनेक बहुमूल्य पत्थर तथा संगमरमर की मिली-जुली सजावट की गई है। लाल किले के भीतर औरंगजेब ने मोती मस्जिद का निर्माण करवाया। मस्जिद के बाएं तरफ हयात बख्श बाग बनाया गया है। किले में बनी रंग महल इमारत (इम्तियाज महल) को विभिन्न रंगों और शीशे से सजाया गया था। इसलिए इसे शीश महल भी कहते हैं। किले में बना खास महल या निजी महल तीन कक्षों की सामूहिक इमारत है। ये तस्बीहखाना (माला जपने का कक्ष), ख्वाबगाह (शयनकक्ष) और तोशखाना (कपड़े पहनने का कमरा) हैं। इसके नीचे पशु युद्ध और अन्य खेलों का आयोजन होता था। किले की पूर्वी दीवार में एक मुसम्मन बुर्ज है जहाँ बादशाह आम जनता को दर्शन दिया करते थे। महलों की पंक्तियों के दक्षिणी छोर पर बनी इमारत का नाम मुमताज महल रखा गया। इसे अब पुरातत्व संग्रहालय बना दिया गया है। इसके अलावा इसमें महताब बाग और उसके बीच में जफर महल या जलमहल बना।

सन् 1648 ई. में इस नगर में अत्यंत विशाल जामा मस्जिद का निर्माण पूरा हुआ। एक ऊँचे चबूतरे पर बनी इस इमारत में शाहजहाँनी शैली में फूलों के अलंकरण की मेहराबें बनी हैं। मस्जिद में आंगन बहुत विस्तृत है। जामा मस्जिद बलुआ पत्थर और सफ़ेद संगमरमर से निर्मित है। इस मस्जिद का मुख्य प्रवेश द्वार पूर्व की ओर है तथा पश्चिम में दीर्घाकार कक्ष है। प्रार्थना कक्ष में तीन संतुलित आकार के गुबंद हैं और ग्यारह मेहराब हैं जिसमें बीच वाली मेहराब सबसे बड़ी है।

बीबी का मकबरा (*Bibi Ka Maqbara*)

महाराष्ट्र के औरंगाबाद में औरंगजेब के कार्यकाल में बना बीबी का मकबरा अकबर एवं शाहजहाँ के काल के शाही निर्माण प्रवृत्ति में गिरावट होते जाने का प्रतीक है। यह मकबरा औरंगजेब की पत्नी दिलरस बानू बेगम या राबिया उद दौरानी की याद में बनवाया गया। इसे दक्कनी ताज और बीबी का मकबरा भी कहते हैं। ताजमहल की नकल पर बने इस मकबरे को भी बगीचे में बनवाया गया। इसके वास्तुकार अताउल्लाह (उस्ताद अहमद लाहोरी का पुत्र) और हसपत रॉय थे। मकबरे के कक्ष की दीवारों और छत पर बहुत सुन्दर नक्काशी की गई है। मकबरे के चारों कोनों में मीनारें हैं।

दिल्ली में मुगल काल की अन्य इमारतों में अकबर की माँ हाजी बेगम द्वारा दिल्ली में बनवाई अरब की सराय, अकबर की धाय माहम अंगा द्वारा बनवाया मदरसा जिसे खैर-उल-मंजिल (इसी मदरसे की छत से माहम अंगा के बेटे अधम खाँ ने अकबर पर हमला किया था) कहते हैं, अकबर द्वारा बनवाया गया अधम खाँ और माहम अंगा का मकबरा या भूलभुलैया मस्जिद, अकबर के दरबारी नौबत खाँ का नीली छतरी वाला मकबरा, अकबर द्वारा निजामुद्दीन गाँव में बनवाया गया अतगा खाँ का मकबरा, अकबर के समय में 1603 में बना ख्वाजा बाकी बिल्लाह की दरगाह, जहाँगीर के समय में बना बारहपुला का पुल (1612), अकबर के दरबारी खानेखाना का मकबरा (उत्तर मुगल काल में इस इमारत से संगमरमर आदि पत्थर निकाल कर सफदरजंग के मकबरे पर लगाए गये), शाहजहाँ की पुत्री जहाँआरा का चाँदनी चौक के मध्य में बनवाया गया जहाँआरा बेगम का बाग या मलका बाग, शाहजहाँ की पत्नी फतेहपुरी बेगम के नाम पर चाँदनी चौक के पश्चिमी सिरे पर उन्हीं के नाम पर बनी फतेहपुरी मस्जिद, शाहजहाँ की बेटी रोशनआरा द्वारा रोशनारा बाग (इसी बाग में उन्हें दफनाया भी गया है), शाहजहाँ की बड़ी पुत्री जहाँआरा का निजामुद्दीन इलाके में बना मकबरा, औरंगजेब की पुत्री जीनत उल निसा बेगम का दरियागंज और उसकी दूसरी बेटी जैबुन्निसा का तीसहजारी के पास बना मकबरा आदि महत्त्वपूर्ण इमारतें हैं। ओरछा के राजा वीर सिंह बुंदेला ने ओरछा में जहाँगीर के लिए एक महल बनवाया और उसका नाम जहाँगीर महल रखा।

औरंगजेब के काल में दिल्ली में बनी मुगलों की इमारतें स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वहीन हैं। इनमें शाह आलम बहादुर का मकबरा और उसकी महरौली में बनवाई मोती मस्जिद, निजामुल मुल्क के पुत्र गाजीउद्दीन खाँ का मकबरा और मदरसा, बादशाह मोहम्मद शाह रंगीला की पत्नी कुदेशिया बेगम का कश्मीरी दरवाजे के निकट बनवाया कुदेशिया बाग, अहमद शाह के काल में उसके दरबारी जावेद खाँ की बनवाई सुनहरी मस्जिद, जफर महल आदि उल्लेखनीय मुगलकालीन इमारतें हैं। इनमें सबसे अलग अवध के दूसरे नवाब सफदरजंग का मकबरा (1753 ई.) है। यह मकबरा हुमायूँ के मकबरे की तर्ज पर बनाया गया है। इसके अहाते के तीन तरफ की दीवारों के बीच दालान बना है। बाग के बीच बने इस मकबरे के चारों कोनों पर अठपहलू बुर्ज बनाये गये हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

सन् 1783 में महान सिख योद्धा और करोड़ो सिंघिया मिस्ल के प्रमुख बघेल सिंह धालीवाल (1730-1802) ने जब मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय को हरा कर दिल्ली में प्रवेश किया तो शाहजहाँनाबाद के मोरी दरवाज़े के पास उसके तीस हजार सैनिकों ने डेरा डाला। तभी से वह जगह तीस हज़ारी कहलाती है। बघेल ने मुगल बादशाह से समझौता करके दिल्ली में सात गुरुद्वारे बनवाने पर सहमति हासिल कर ली। इनमें शीशगंज गुरुद्वारा, रकाब गंज गुरुद्वारा नौवें गुरु तेगबहादुर की स्मृति में बने। इसके अलावा गुरुद्वारा मजनूँ का टीला बनाये गये।

दिल्ली के स्थापत्य में हवेलियों की भी भूमिका रही है। इनमें खजांची की हवेली (शाहजहाँ का आय-व्यय संबंधी कार्यालय), लाल किले के ठीक सामने बेगम समरू की कोठी (आजकल इसमें भगीरथ पैलेस कहते हैं), छन्नूमल की हवेली, हैदर कुली की हवेली, हकीम अहसानउल्ला खाँ की हवेली, हक्सार हवेली, मिर्जा गालिब की हवेली, नमक हराम की हवेली आदि प्रमुख हैं।

पुर्तगाली स्थापत्य कला *(Portuguese Architecture)*

पुर्तगालियों का आगमन 1498 में हुआ। उनका ध्यान व्यापारिक और धार्मिक क्षेत्रों की तरफ ज्यादा था। सन् 1503 में पुर्तगाली प्रधान अल्फांसो अल्बुकर्क ने कोचीन के राजा की अनुमति से लकड़ी का एक इमारत 'फोर्ट कोच्चि' और इसी में एक सेंट फ्रांसिस चर्च भी बनवाया। सन् 1506 में पुर्तगाली अल्मीडा ने इस जगह को पत्थर और गारे के प्रयोग से मजबूत बनाया। नया चर्च 1506 में बनकर तैयार हुआ और इसे सेंट एंथनी को समर्पित किया गया। ये फोर्ट और चर्च देश में यूरोपीय स्थापत्य के प्राचीनतम नमूने हैं। इस चर्च में 1524 में वास्को डि गामा को दफनाया गया हालांकि उनकी अस्थियों को 14 साल बाद लिस्बन ले जाया गया। यह चर्च बाद में डचों के हाथों और उनसे ब्रिटिश के पास चला गया।

पुर्तगालियों ने गोवा में प्रमुख रूप से पैर जमाए और देश की आजादी के बाद भी उनका गोवा एवं कुछ अन्य इलाकों पर आधिपत्य बना रहा। केंद्र सरकार के प्रयासों से गोवा को 1961 में आजादी मिली। लगभग 500 सालों में उनका गोवा पर प्रभाव स्थापत्य के रूप में भी देखा जा सकता है। पुर्तगाली ईसाई मिशनरियों ने यहाँ बहुत खूबसूरत कैथेड्रल, चर्च, बेसिलिका और अन्य प्रकार के भवन बनवाये। पुर्तगालियों ने यहाँ 1605 में 'बासिलिका ऑफ बाम जीसस' (Basilica of Bom Jesus) नामक चर्च बनवाया। इसमें सेंट फ्रांसिस जेवियर की ममी सुरक्षित रखी गई थी। इसका भीतरी भाग मोजेक-कोरीन्थियन (Mosaic Corinthian) शैली में बना। इसके निर्माण में काष्ठ का और सजावट के लिए स्वर्ण धातु का प्रयोग हुआ। इसकी दीवारों पर खूबसूरत चित्रकारी की गई है और सफेद संगमरमर का प्रयोग फर्श बनाने में किया गया है।

गोवा में वास्को के पोते फ्रांसिस्को डी गामा की 1597 में बनवाई गई वाइसरॉय आर्च, सेंट अगस्टाइन द्वारा 1602 में मीनार और चर्च का निर्माण, सन् 1612 में गोवा विजय के उपलक्ष्य में बना और संत कैथराइन को समर्पित सी कैथेड्रल, सन् 1577 में बना सेंटर एन चर्च, 1627 में बना सांता मोनिका चर्च प्रमुख है। इनके अलावा सेंट कजेटन (St. Cajetan Church) चर्च ऑफ लेडी रोजरी आदि चर्च भी स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इब्राहीम आदिल शाह द्वारा 1510 में बनी सफा मस्जिद, 18वीं सदी में पोंडा में बना मंगेशी मंदिर और दीपस्तंभ आदि गोवा के स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पुर्तगालियों ने 1604 में मुंबई में कैस्टेला डी अगुआडा (Castella de Aguada) या बांद्रा फोर्ट बनवाया और ठाणे में बने बेस्सीन के किले को खंभात के शासक से हासिल करके उसका पुनर्निर्माण किया।

गोवा के पुर्तगाली घरों का स्थापत्य विशिष्ट रखा गया ताकि वहाँ आने वाले पुर्तगालियों के अपने देश के लोगों के घरों की पहचान करने में आसानी हो। इन घरों की खिड़कियाँ बरामदे में खुलती थीं और उन्हें बहुत सुसज्जित ढंग से बनाया जाता था। घरों को रंगने के लिए गहरे रंगों का प्रयोग किया गया। घरों में ढंगी हुई और रेलिंग लगी ड्योढ़ी (Proches) और बरामदे, एक ही पंक्ति में कई दरवाजों का प्रयोग बहुत लोकप्रिय हुआ। पुर्तगाली घरों के भीतर यूरोप से मंगाई हुई टाइलों को लगाया गया और घरों की छतों पर लकड़ी की आभासी छत (False Ceiling) लगाई गयी। घरों को परस्पर अलग दिखने के लिए छोटे आकार की चहारदीवारी का प्रयोग भी किया गया।

फ्राँसीसी स्थापत्य *(French Architecture)*

फ्राँसीसी स्थापत्य के नमूने कम संख्या में हैं और कुछ विशिष्ट जगहों पर सिमटे हुये हैं। इसका कारण यह है कि फ्राँसीसी भारत को अपना उपनिवेश बनाने के प्रयास में ब्रिटेन से हार गये। हालाँकि उनका शासन नाममात्र के लिए तमिलनाडु में पुडुचेरी और कराईकल, आंध्रप्रदेश के यमन, केरल में माहे और पश्चिम बंगाल में चंद्रनगर या चंदनगर में रहा। इन जगहों पर फ्राँसीसी स्थापत्य के प्रभाव को देखा जा सकता है। इनमें पुड्डुचेरी (या पांडिचेरी) सबसे महत्त्वपूर्ण है। यहाँ 1673-74 में फ्राँसीसी लोगों

Copyright– Drishti The Vision Foundation

आगमन धार्मिक प्रचारकों के तौर पर हुआ। यहाँ की नगर योजना फ्राँसीसी स्थापत्य के अनुसार ग्रिड पैटर्न पर विकसित हुई। ग्रिड पैटर्न का आशय क्षेत्र का स्पष्ट सेक्टरों में बंटे होने, परस्पर लंबवत आकार में काटती ऐसी सड़कों से है जो दो सेक्टरों की विभाजन रेखा के रूप में भी कार्य करती हैं। पुड्डुचेरी में नगर योजना को दो भागों में बांटा गया। पहले क्षेत्र यानी विले ब्लैंके (Ville Blanche) में केवल फ्राँसीसी लोगों को बसने की अनुमति थी जबकि दूसरे क्षेत्र को विले नोरे (Ville Noire) कहा गया। फ्राँसीसी शैली में बने घर या विला फ्रेंच लंबे आंगन और आलीशान दीवारों, बरामदे, बड़े फ्रेंच दरवाजे और खिड़कियों से युक्त होते थे। ये मकान एक पंक्ति में बनाये गये। फ्राँसीसी स्थापत्य को यहाँ बने बैंकों, आधारभूत ढाँचे, थानों और अंतर्राष्ट्रीय बंदरगाह की इमारतों पर देखा जा सकता है।

प्राच्य प्रभावों से युक्त गोथिक स्थापत्य शैली में 1907 में बना बासिलिका ऑफ द सेक्रेड हार्ट ऑफ जीसस चर्च (Basilica of the Sacred Heart of Jesus) यहाँ के स्थापत्य का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। श्वेत और हल्के भूरे रंग वाली इस इमारत में ईसा मसीह के जीवन को दर्शाते कांच के बड़े टुकड़े लगाये गये हैं। द इग्लिस डी नात्रे दामे देस एंजेस या द चर्च ऑफ आवर लेडी ऑफ एंजेल्स (The Eglise de Notre Dame des Anges or The Church of Our of Angels) भी एक महत्त्वपूर्ण इमारत है। दक्षिण फ्राँस के बासिलिका एट लोर्दे की तर्ज पर बनी इस इमारत दीवारों को संगमरमरी आभास देने के लिए चुनाई के काम में चूने में अंडा मिलाया गया। यहाँ 1791 में आवर लेडी ऑफ इम्मैक्युलेट कन्सेप्शन कैथेड्रल (The Cathedral of Our Lady of the Immaculate Conception) बनाया गया। इस चर्च के प्रांगण में फ्राँसीसी वीरांगना 'जोन ऑफ आर्क' की प्रतिमा लगाई गई है। इसके अलावा यहाँ 1870 में बनी फ्राँसीसी गवर्नर डूप्ले (1742-54) की आदमकद प्रतिमा, युद्ध स्मारक, फ्राँसीसी दूतावास भवन, करीब 300 साल पहले गोथिक इस्लाम शैली में बनी मीरान मस्जिद और खुतबा मस्जिद, डूप्ले के दुभाषिये आनंद रंगा पिल्लै का फ्राँसीसी और तमिल मिश्रित शैली में बना आवास, विल्लानूर में 1877 में बना लेडी ऑफ लार्डेस श्राइन (Our Lady of Lourdes Shrine), 1926 में बना अरविन्दो आश्रम, 1709 में बने फ्रेंच फोर्ट लुइस के भग्नावशेष आदि स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

डच स्थापत्य *(Dutch Architecture)*

डच व्यापारिक कंपनियाँ 200 साल तक भारत में रहीं और उन्होंने सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद, मालाबार तट और कोच्चि आदि स्थानों पर कुछ इमारतें बनवाईं। डचों ने सूरत में एक फैक्ट्री का निर्माण किया। भड़ौच में एक कब्रिस्तान, वेनरूला में गोदाम और एक किला, अहमदाबाद में कांकरिया झील के कब्रिस्तान जिसकी विशेषताएँ भारतीय और पश्चिमी प्रकार की कब्रों का निर्माण, गुंबदाकार कब्रें, पिरामिडाकार कब्रें हैं, कोच्चि में डच महल (मट्टनचेरी महल), समुद्रतट के समांतर बनाया गया 104 गुंबदों, विशाल चाहरदीवारी वाला कब्रिस्तान, बंदरगाह की रक्षा के लिए बनाया गया किला रूपी बंगाला, ठाकुर हाउस, सदर्स और पुलिकट के निकट बनवाये गये दो कब्रिस्तान ही प्रमुख हैं। डचों ने कोच्चि में बने देश के पहले यहूदी प्रार्थनागृह सिनेगॉग की भी मरम्मत 1662 में करवाई।

ब्रिटिश स्थापत्य *(British Architecture)*

ब्रिटिश काल की इमारतों के स्थापत्य में यूरोपीय संस्कृति और ताकतवार शासक होने से पैदा हुआ आत्मविश्वास दिखाई देता है। ब्रिटिश काल का स्थापत्य यूरोपीय शैली से प्रेरणा पाता था। ब्रिटिश वास्तुकारों के यूरोपीय शैली को अपनाने के तीन कारण प्रमुख हैं। एक कारण यह है कि एक भिन्न पर्यावरण वाले देश में खुद से परिचित दृश्य रचने की और उपनिवेश को घर जैसी आकृति देने की ब्रिटिशों की चाह मन में रही होगी। दूसरा कारण यह था कि अंग्रेज शासकों को इस बात का अहसास था कि उनकी बनाई इमारतें उनकी संस्कृति की श्रेष्ठता, और देश में आये नए कर्णधारों को प्रतिबिंबित करेंगी। तीसरा कारण यह था कि वे आम लोगों से दूरी बनाये रखने में विश्वास रखते थे। वे समझते थे कि यूरोपीय ढंग से बनी इमारतों के माध्यम से नए राजाओं और भारतीय प्रजा की बीच की दूरी अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

अंग्रेजों ने गोथिक एवं नवगोथिक, इम्पीरियल, क्रिश्चियन, विक्टोरियन, नवशास्त्रीय, रोमांसक्यू, व पुनर्जागरण जैसी यूरोपीय शैलियों की इमारतों का निर्माण कराया। इसमें शुरुआती दौर में नवशास्त्रीय और नव गोथिक शैली अग्रणी रहीं जबकि दूसरे चरण में इंडो-सारसेनिक शैली ने पैर जमाए। शुरुआती दौर में बनी ब्रिटिश इमारतें स्थानीय स्थापत्य से भिन्न होने के कारण अजीबोगरीब दिखती थीं। लेकिन शासन की लंबी अवधि के कारण भारतीय लोगों में इसकी स्वीकारोक्ति बढ़ने लगी। आगे चल कर अंग्रेज वास्तुकारों के दृष्टिककोण में परिवर्तन आया और उन्होंने भारतीय शैलियों को अपनाना शुरू कर दिया। इस संक्रमण को अंग्रेज अधिकारियों के आवास के लिए बने 'बंगलो' (Bungalow) के स्थापत्य में देखा जा सकता है। बंगलों का मूल रूप एक झोंपड़ी की तरह है लेकिन अंग्रेज वास्तुकारों ने इसका स्वरूप अपनी जरूरतों के अनुसार बदल दिया। बंगलो नाम का औपनिवेशिक अफसरों

Copyright– Drishti The Vision Foundation

के लिए बना आवास एक बड़े क्षेत्र में बनाया गया। इसकी छतें ढलवां बनाई गई और छत के लिए खपरैल (Mud Tiles) का प्रयोग किया गया। मूल बंगलों के आसपास छोटे कर्मचारियों के लिए छोटे आकार के आवास बने। इसका दोहरा लाभ था। अधिकारी वर्ग निजता बनाये रखते हुए सामाजिक दायरे से दूर रहता था और बंगलो की बनावट सामान्य लोगों से दूरी बनाये रखने में मदद करती थी।

नवशास्त्रीय या नियोक्लासिकल शैली की मुख्य विशेषता बड़े-बड़े स्तंभों के पीछे रेखागणितीय संरचनाओं का निर्माण थी। इसे नवशास्त्रीय इसलिए कहा गया क्योंकि यह शैली मूल रूप से प्राचीन रोम की भवन निर्माण शैली से प्रेरणा पाती थी और उसमें यूरोपीय पुनर्जागरण के दौरान कुछ नए तत्वों के समावेशन के साथ दोबारा जीवन प्रदान किया गया। इस शैली के चुनाव का मुख्य कारण यह था कि अंग्रेज वास्तुकारों को लगता था कि इससे न केवल यूरोपीय भव्यता दिखती है अपितु यह भारतीय मौसम के अनुकूल भी है। 1833 में बना बम्बई का टाउन हॉल इसी शैली का नमूना है। मुंबई में 1860 के दशक में सूती कपड़ा उद्योग की तेजी के समय बनीं कई व्यावसायिक इमारतों में यही शैली देखी जा सकती है।

नवगोथिक शैली को ऊँची उठी हुई छतें, नुकीलीं मेहराबें और बारीक साज-सज्जा से पहचाना जाता है। गोथिक शैली का जन्म यूरोप के मध्य युग में हुआ और इसे तत्कालीन इमारतों एवं चर्च के स्थापत्य में देखा जा सकता है। नवगोथिक शैली को इंग्लैंड में 19वीं सदी के मध्य में एक बार फिर कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया गया। इस नवगोथिक शैली में मुंबई के सचिवालय, विश्वविद्यालय और उच्च न्यायालय जैसी कई इमारतें समुद्र किनारे इसी शैली में बनाई गईं। यह शैली तत्कालीन वणिक वर्ग को पसंद आई क्योंकि वे समझते थे कि अंग्रेज नवीन विचारों के पोषक हैं और भवनों का यह स्थापत्य उनके शहर को आधुनिक पहचान देने में मदद करेगा। नवगोथिक शैली का सबसे अच्छा उदाहरण तत्कालीन ग्रेट इंडियन पेनिनसुलर रेलवे कंपनी का स्टेशन और मुख्यालय विक्टोरिया टर्मिनस है। इसका नाम अब बदल कर छत्रपति शिवाजी टर्मिनस कर दिया गया है। स्थापत्य की इस शैली के सबसे बड़े पैरोकार सर गिल्बर्ड स्कॉट थे।

बीसवीं सदी की शुरुआत में एक नयी मिश्रित स्थापत्य शैली विकसित हुई जिसमें भारतीय और यूरोपीय, दोनों तरह की शैलियों के तत्व थे। इसे इंडो-सारासेनिक (Indo-Saracenic) शैली कहा गया। इंडो शब्द भारत के अंग्रेजी नाम इंडिया का संक्षिप्त रूप है जबकि सारासेन शब्द का उपयोग यूरोप में रहते वाले मुसलमान करते थे। इस शैली ने मध्यकाल में बनी इमारतों की विशेषताओं जैसे गुम्बदों, छतरियों, जालियों, मेहराबों को अपनाया। संभवतया अंग्रेज इससे यह बात स्थापित करना चाहते थे कि वे यहाँ के स्वाभाविक शासक हैं। यह शैली हिंदू, इस्लामिक और पश्चिमी तत्वों का मिश्रण है। अंग्रेजों ने इस शैली में सार्वजनिक भवन, आम प्रयोग में लाई जाने वाली इमारतें जैसे डाकखाना, रेलवे स्टेशन, विश्राम गृह, और संस्थाओं का निर्माण देश भर में किया। धीरे-धीरे भारतीय तत्वों की मात्रा बढ़ी। यहाँ तक कि विलियम इमरसन ने कलकत्ता के विक्टोरिया मेमोरियल को बनाने में ताजमहल से प्रेरणा ली। यह इंडो-सारसेनिक स्थापत्य शैली का बहुत महत्वपूर्ण उदाहरण बन कर सामने आया और जल्द ही सेंट जॉन कालेज, आगरा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (तत्कालीन म्योर कॉलेज) तथा मद्रास उच्च न्यायालय के निर्माण में यह शैली निखर कर सामने आई।

इंडो-सारासेनिक शैली की विशेषताएँ *(Characteristics of Indo-Saracenic Style)*

स्थापत्य की इंडो-सारासेनिक शैली का आशय भारत में अंग्रेजों के शासन काल में विकसित हुई ऐसी वास्तुकला से है जिसमें वास्तुकारों ने भारत के प्राचीन और मध्य काल के इस्लामिक स्थापत्य की विशेषताएँ ग्रहण कीं। इन वास्तुकारों का उद्देश्य इन विशेषताओं से युक्त ऐसी इमारतों का निर्माण करना था जिसमें ब्रिटिश राजशाही का वैभव उभर कर आये और यूरोपीय कला समीक्षकों के नजर में वे कला के बेहतरीन नमूने हों। इन विदेशी वास्तुकारों ने एशियाई आकर्षक (Asian Exoticism) तत्वों को समझ कर अपने नवोन्मेष गुण वाले इंजीनियरिंग कौशल में ढाला। इस इंजीनियरिंग कौशल में लोहे का ढाँचा, स्टील और कंक्रीट का प्रयोग शामिल था। इंडो-सारसेनिक स्थापत्य शैली के भवन केवल भारत में ही नहीं अपितु यूरोप और अमेरिका में भी बने। इंडो-सारसेनिक शैली प्याज जैसा या फूला हुआ गुंबद (Onion [Bulbous] Domes), बाहर की ओर निकले छज्जे (Overhanging Eaves), नोंकदार या नुकीली मेहराब (Pointed, Cusped, or Scalloped Arches), गुंबददार छतों (Vaulted Roofs), गुंबददार खोखे (Domed Kiosks), कई लघु गुंबदों (Many Miniature Domes), छतरीनुमा गुंबद (Domed Chhatris), नुकीले शिखरों (Pointed Pinnacles), मीनारों (Minarets), खुले या बंगला छतों के साथ पैवेलियन (Open Pavilions or Pavilions with Bangala Roofs), और खंभो पर बनी मेहराबों की लंबी कतार (Open Arcad) के लिए जानी जाती है। इस शैली के प्रमुख पैरोकार रॉबर्ट फैलोस चिशोम (Robert Fellowes Chisholm), चार्ल्स मांट (Charles Mant), विलियम इमरसन (William Emerson), जॉर्ज विट्टेट (George Wittet) और फ्रेड्रिक स्टीवंस (Frederick Stevens) आदि थे। भारत में ब्रिटिश काल में बने घंटाघरों (Clock Towers), नगरपालिकाओं, रेलवे स्टेशनों, संग्रहालयों, आर्ट गैलरियों, सरकारी स्कूलों, टाऊन हॉल और न्यायालयों में इंडो-सारसेनिक शैली की विशेषताएँ आसानी से देखी जा सकती हैं।

इसके अलावा ब्रिटिश राज में स्थापत्य चार बड़े शहरों दिल्ली, मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई के विकासक्रम में देखा जा सकता है। इसमें दिल्ली के अलावा तीनों शहर शुरुआती दौर में साधारण गाँवों के समूह भर थे लेकिन व्यापारिक गतिविधियों के कारण

Copyright– Drishti The Vision Foundation

ये तीनों शहर व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए। ईस्ट इंडिया कंपनी ने समुद्री रास्ते के होने वाले व्यापार में इन क्षेत्रों का महत्त्व समझा और इन क्षेत्रों में व्यापारिक तथा प्रशासनिक कार्यालय स्थापित किए। मध्यकालीन शासकों की तुलना में यह एक अलग कदम था।

नगरीय स्थापत्य *(Urban Architecture)*

देश में नगर नियोजन की परंपरा संसार में सबसे प्राचीन मानी जाती है। इतिहासकारों के अनुसार हड़प्पा काल के अधिकांश नगर नियोजित तरीके से बसाये गये। इसके बावजूद देश में नगरों को नियोजित तरीके से बसाने की कला पर शासकों का ज्यादा ध्यान नहीं गया। हालाँकि फतेहपुर सीकरी, मदुरै, दिसपुर और जयपुर जैसे कुछ नियोजित नगर के उदाहरण हमारे पास अवश्य हैं। ब्रिटिश शासकों ने नई दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, चेन्नई जैसे नगरों की नींव डाली जो आज महानगर का रूप धारण कर चुके हैं। आजादी के बाद देश के नए शासक वर्ग ने नवीन शहरों के निर्माण की योजना बनाई। इनमें प्रदेश की राजधानी और अन्य औद्योगिक शहर शामिल थे। इस दिशा में देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरु का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट था और उनकी वास्तुकला में बहुत दिलचस्पी भी थी। उन्होंने देश के स्थापत्य को नवीन दृष्टि देते हुये कहा था कि नये नगर स्वतंत्र भारत के प्रतीक होने चाहिये और उन्हें बीते हुये कल की परंपराओं से प्रभावित हुये बगैर देश के भविष्य में विश्वास को अभिव्यक्ति करना चाहिये (Let this be a new town, symbolic of freedom of India unfettered by the traditions of the past.... An expressions of the nation's faith in the future)। इनमें से कुछ नवीन नगरों के स्थापत्य के बारे निम्नलिखित अंशों में वर्णन किया गया है।

मद्रास का स्थापत्य *(Madras Architecture)*

अंग्रेजों ने 1639 में मद्रासपटम या चेनापट्टनम में एक व्यापारिक केंद्र खोला। कम्पनी ने यहाँ 1746-63 में सेंट फोर्ट जॉर्ज नामक किला बनवाया। मजबूत दीवारों और बुर्जों की मदद से इसकी घेराबंदी की गई। इसके भीतर केवल यूरोपीय लोग ही रह सकते थे। इनमें ब्रिटिश के अलावा पुर्तगाली, डच आदि शामिल थे। यूरोपवासियों के रहने के कारण यह क्षेत्र व्हाइट टाउन कहलाता था। भारतीयों के रहने की जगह को ब्लैक टाउन कहा गया और यह क्षेत्र किले के बाहर विकसित हुआ। यूरोपीय आबादी की तरह स्थानीय लोगों को भी सीधी कतारों में बसाया गया। सीधी कतारों में मकान बनाना नये विकसित हो रहे औपनिवेशिक शहरों की खासियत भी थी। यूरोपियनों की जरूरतें बढने पर उत्तरी इलाके में नया ब्लैक टाउन बसाया गया। इसकी बसावट पुराने शहरों के जैसी रखी गई। यूरोपीय सत्ता मजबूत होने के साथ ही किले से बाहर आकर लोग बसने लगे। इनके मकान सर्वप्रथम शहर की दो प्रमुख सडकों माउंट रोड और पुन्नामलाई रोड पर बने। इंडो-सारसेनिक शैली में चेन्नई में ब्रिटिश काल में बनी इमारतों में अर्काट के नवाब का महल चेपक पैलेस (जो 1768 में बनना शुरू हुआ), चेन्नई रेलवे स्टेशन (1873), जनरल पोस्ट ऑफिस (1884), सीनेट हाउस, मद्रास विश्वविद्यालय (1879), इग्मोर रेलवे स्टेशन (1908), रिपन भवन (1913) आदि हैं।

कलकत्ता का स्थापत्य *(Calcutta Architecture)*

अंग्रेजों ने कलकत्ता को सुतानाती, कालीकाता और गोविंदपुर, इन तीन गांवों को मिला कर बनाया गया था। इस क्षेत्र में किलेबंदी की गई और इस किले को फोर्ट विलियम कहा गया। समय बीतने के साथ ही अंग्रेजों ने किले से बाहर फैले विस्तृत मैदान पर भी आवासीय इमारतें बनाईं। सन् 1798 में लॉर्ड वेलेजली ने यहाँ अपने लिए गवर्नमेंट हाउस के नाम से एक महल बनवाया। उसने 1803 में नगर-नियोजन के लिए कुछ समितियों का गठन किया जिनकी अनुशंसाओं पर कई पुराने इलाकों को हटा दिया गया। वेलेजली के बाद नगर-नियोजन का काम लॉटरी समिति को सौंपा गया। लॉटरी समिति का यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि नगर सुधार के लिए पैसे की व्यवस्था जनता के बीच लॉटरी बेचकर ही की जाती थी। लॉटरी समिति ने शहर का एक नया मानचित्र बनवाया। नगर नियोजन की अवधारणा का एक कारण खराब स्वास्थ्य दशाएँ भी थीं। यहाँ बड़ी संख्या में महल बनाये गये और इसलिए इस जगह का एक नाम सिटी ऑफ पैलेस भी पड़ गया। कलकत्ता की महत्त्वपूर्ण इमारतों में विक्टोरिया मेमोरियल प्रमुख है। महारानी विक्टोरिया को समर्पित इस स्मारक को बनाने का विचार लॉर्ड कर्जन का था। सर विलियम इमरसन द्वारा बनाये गये डिजायन पर आधारित यह इमारत 1921 में बन कर तैयार हुई। इसके अलावा वायसराय का निवास या गवर्नमेंट हाउस (जिसे अब राजभवन (1803) कहते हैं) है। इसका वास्तुकार चार्ल्स व्याट (Charles Wyatt) था। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का कार्यालय 'राइटर्स बिल्डिंग (Writers Building) भी एक प्रमुख इमारत है। इसका निर्माण 1777 से होना शुरू हुआ था। बाद में इसमें कई विस्तार हुये। इसका वास्तुकार थामस लियोन (Thomas Lyon) था। अन्य भवनों में टाउन हॉल (1813), इंडियन म्यूजियम (1814), नेशनल लाइब्रेरी (1836), हावड़ा रेलवे स्टेशन (1854), कलकत्ता उच्च न्यायालय (1862), जनरल पोस्ट ऑफिस (1864) आदि हैं। देश की राजधानी कोलकाता से दिल्ली लाये जाने की घोषणा के साथ ही यहाँ भवन निर्माण गतिविधियों में गिरावट आ गई।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मुंबई का स्थापत्य *(Mumbai Architecture)*

मुंबई को सात टापुओं (बॉम्बे, कोलाबा, परेल, वर्ली, माहिम, मझगांव, लिटिल कोलाबा या ओल्ड वुमैन आइलैण्ड) को मिला कर बनाया गया है। सात टापुओं को परस्पर जोड़ने का काम 1782 में यहाँ के गवर्नर विलियम हार्नवाय ने शुरू किया। इस परियोजना का नाम हार्नवाय वेल्लार्ड (Hornby Vellard) रखा गया जो कि 1828 में जाकर पूरी हुई। पश्चिमी तट पर एक प्रमुख बंदरगाह होने के नाते यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का केंद्र बन कर उभरा। चीन को अफीम के निर्यात, 1861 में अमेरिकी गृहयुद्ध के शुरू होने के कारण भारतीय कपास की बढ़ती मांग, 1869 में स्वेज नहर के खुलने से यहाँ की व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ाने में मदद मिली। इससे पहले यहाँ पुर्तगालियों का प्रमुख तौर पर शासन रहा। उनके काल में माहिम में सेंट मिशेल चर्च (1534), अंधेरी में सेंट जॉन बेपटिस्ट चर्च (1579), बांद्रा में सेंट एंड्रयू चर्च (1580) और भायखला में ग्लोरिया चर्च (1632) बनाये गये थे। सन् 1661 में यह क्षेत्र अंग्रेजों के पास आ गया। यहाँ ब्रिटिश राजा जॉर्ज पंचम और उनकी पत्नी मेरी के स्वागत के लिए 1911 में समुद्र तट के किनारे गेटवे ऑफ इंडिया नामक इमारत बनवाई गई। इसका निर्माण 1924 में जाकर पूरा हुआ। वास्तुकार जार्ज विट्टे ने इस इमारत की वास्तुकला के लिए रोमन ट्रम्फल आर्च ओर गुजरात के 16वीं सदी के स्थापत्य से प्रेरणा ली। इसकी मेहराबें इस्लामी वास्तुकला और अलंकरण प्राचीन भारतीय शैली के हैं। मुंबई में कला की भिन्न शैली 'आर्ट डेको' (Art Deco) की भी इमारतें मिलीं। 1930 के दशक में बने मेट्रो सिनेमा और इरोज सिनेमा की इमारतें इस शैली में बनाई गईं। मुंबई में जगह की कमी और ज्यादा आबादी की आमद के कारण यहाँ खास तरह की इमारतें बनीं जिन्हें 'चॉल' (Chawl) कहा गया। चाल तीन-चार मंजिला इमारत होती है जिसमें कई कमरे होते हैं।

दिल्ली का स्थापत्य *(Delhi Architecture)*

दिल्ली में कश्मीरी गेट क्षेत्र में सर थॉमस मेटकॉफ द्वारा 1835 में बना मेटकॉफ हाउस (या जहानुमा एवं मटका कोठी) और 1836 में कर्नल जेम्स स्कीनर द्वारा बनवाया गया सेंट जेम्स चर्च (या स्कीनर चर्च) दिल्ली के सबसे पुराने ब्रिटिश स्थापत्य के नमूनों में से हैं। 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासकों ने रिज इलाके में एक युद्ध स्मारक 1868 में बनवाया। लाल पत्थरों से गोथिक शैली में बना म्यूटिनी मेमोरियल नाम का यह स्मारक दोहरे ऊँचे चबूतरे पर बनाया गया है। बाद में इसका नाम बदलकर अजितगढ़ कर दिया गया। इसके अलावा टाउन हॉल (1866), घंटाघर (1868), सेंट स्टीफन कालेज (1881), सेंट स्टीफन अस्पताल (1884), हिन्दू कालेज (1866), विधानसभा के निकट बना मेडन्स होटल (1903), रामजस कालेज (1917) उस दौर के स्थापत्य की महत्त्वपूर्ण इमारतें हैं। सन् 1911 में नई दिल्ली को देश की नई राजधानी की घोषणा से पहले ब्रिटिश अधिकारी सिविल लाइंस इलाके में रहते थे। सिविल लाइंस से आशय सिविल अधिकारियों के आवास वाले क्षेत्र से होता था। 12 दिसम्बर, 1911 में ब्रिटेन के राजा जॉर्ज पंचम और रानी क्वीन मेरी ने दिल्ली को नई राजधानी बनाने की घोषणा बुराड़ी गाँव के निकट बनाये गये कोरोनेशन पार्क में की। इस अवसर पर लाल किले से एक जुलूस निकाला गया और जो चाँदनी चौक आदि इलाकों और खासतौर पर बनाये गये शिविरों के शहर (किंग्सवे कैंप) से होकर गुजरा। इस कैंप में स्थानीय राजाओं के शिविर थे।

नई राजधानी या नई दिल्ली के स्थापत्य का काम एडविन लैडसिर लुटियन और हरबर्ट बेकर को सौंपा गया। वाइसरीगल लॉज वायसराय का पहला निवास बना। इसे बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय (1922) बना दिया गया। प्रथम विश्व युद्ध से लेकर करीब एक दशक तक वायसराय इसका निवास स्थान पर रहा जब तक रायसीना पहाड़ी पर लुटियन निर्मित उनका नया आवास बना। वास्तुकार लुटियन के नेतृत्व में मौजूदा पुराने शहर शाहजहाँनाबाद के दक्षिण में नई दिल्ली के निर्माण का कार्य शुरू हुआ। लुटियन के जिम्मे नई दिल्ली शहर एवं गवर्नमेन्ट हाउस और हरबर्ट बेकर के जिम्मे सचिवालय के दो हिस्सों (नार्थ और साउथ ब्लॉक) और कांउसिल हाउस (संसद भवन) को तैयार करने का भार आया। करीब 2800 हेक्टेयर क्षेत्र में फैली नई राजधानी दिल्ली का उद्घाटन 13 फरवरी 1931 को औपचारिक रूप से किया गया। ब्रिटिश शासकों ने सत्ता के मुख्य केंद्र ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि वायसराय का महलनुमा परिसर (अब राष्ट्रपति भवन) बनाया। वायसराय पैलेस के मुख्य गुम्बद साँची के बौद्ध स्तूप, लाल बलुआ पत्थर और जालियों को मुगल स्थापत्य कला की तर्ज पर बनाया गया पर अंग्रेजों ने अपने महत्त्व को बरकरार रखने के लिए वायसराय पैलेस की ऊँचाई शाहजहाँ की जामा मस्जिद से अधिक रखी। यहाँ तक कि नई दिल्ली में स्थानीय पेड़ पौधों की किस्मों को वरीयता नहीं दी गई। कई सड़कों पर एक खास किस्म के ही पेड़ लगाए गये। यह नई राजधानी केवल 16 साल ही भूमिका निभा सकी और ब्रिटिश साम्राज्य के पतन की गवाह बनी। वास्तुकार मांटेग्यू थॉमस ने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल (1912) इमारत बनाई। इसे 1919 के बाद सेंट्रल लेजिस्लेटिव काउंसिल भवन कहा गया। इस इमारत ने 1923 में वर्तमान संसद भवन के बन कर तैयार होने तक काम किया। इन दिनों इस इमारत को दिल्ली विधानसभा कहा जाता है। इस भवन को केंद्र सरकार के सचिवालय के तौर पर भी प्रयुक्त किया गया। कनॉट प्लेस का मॉजूदा राजीव चौक का डिज़ायन 'राबर्ट टोर रसेल' ने तैयार किया।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

चंडीगढ़ (*Chandigarh*)

पंजाब सरकार ने 1948 में पी. एल0 वर्मा की अध्यक्षता में नये नगर के लिए जमीन के चयन के लिए एक समिति का गठन किया। वर्तमान जगह का चयन करने का आधार उर्वर भूमि, जल निकासी के लिए भूमि का ढलान, जलापूर्ति, उत्तम जलवायु और प्राकृतिक सौंदर्य का ध्यान रखा गया। नये नगर के स्थापत्य का काम एक अमेरिकी कंपनी 'मैसर्स मायर, व्हटलेस्सें एवं ग्लास' को सौंपा गया। हालाँकि कुछ कारणों से 1951 में यह काम चार्ल्स एडुवर्ड ज्यारेत (Charles Eduard Jeanneret) जिन्हें ली कार्बूजियर (Le Corbusier) के नाम से जाना जाता है, को सौंपा गया। उनके विदेशी सहयोगी वास्तुकारों में मैक्सवेल फेरी, जेन बी ड्रू, और पियरे ज्यारेंत और भारतीय सहयोगियों में एम. एन. शर्मा, ए. आर. प्रभावालकर, यू. ई. चौधरी, जे. एस. साठे आदि थे। कार्बूजियर ने शहर का 'मास्टर प्लान' बनाने के अलावा शहर की मुख्य इमारतों के स्थापत्य के प्रारुप का ध्यान दिया। उन्होंने शहर को सेक्टरों में बांटा। इस प्रत्येक सेक्टर में दुकानें, विद्यालय, स्वास्थ्य केंद्र और पूजा गृहों की संकल्पना की गई। प्रत्येक सेक्टर की जनसंख्या का आकार सेक्टर के अनुसार तय किया करते हुये इसकी सीमा तीन हजार से 20 हजार तक रखी गई। उन्होंने सड़कों को ग्रिड पैटर्न एवं धीमी गति से लेकर तेजी गति से चलने वाले वाहने के लिए सड़के विकसित करने का प्रयास किया।

कार्बूजियर ने विचार था कि शहर के प्रत्येक निवासी को सूर्य की रोशनी, पर्याप्त जगह और हरियाली जैसे आधारभूत तत्व मिलने चाहिये। उन्होंने आवास को सरकारी आवास और निजी आवास के दो वर्गों में बांटा। सरकारी आवासों को 13 श्रेणियों में बांटा गया। जिसमें मुख्यमंत्री से लेकर सबसे निचले स्तर के कर्मचारी के लिए आवास बनाये गये। निजी आवासों के लिए भूखंडो के आकार निश्चित रखे गये। निजी निर्माण पर थोड़ा अंकुश रखा गया ताकि शहर की मूल संरचना में परिवर्तनों न आये। चंडीगढ़ का आज चहुं विस्तार हो रहा है। मोहाली या साहिबजादा अजित सिंह (एसएएस नगर), जिर्कपुर, पंचकुला जैसी नई नियोजित बस्तियां भी अस्तित्व में आती जा रही हैं।

भुवनेश्वर (*Bhubaneswar*)

देश की स्वतंत्रता के समय ओडिशा की राजधानी कटक थी। राज्य के प्रथम मुख्यमंत्री हरेकृष्ण महताब ने नयी राजधानी के निर्माण के लिए निकट ही बने लिंगराज मंदिर के समीप खाली विस्तृत मैदान को उपयुक्त पाया। उन्होंने जर्मन वास्तुकार के ओट्टो कोनिसबर्गर (Otto Koenigsberger) और जूलियस वाज (Julius Vaz) को नये शहर का स्थापत्य बनाने के लिए आमंत्रित किया। कोनिसबर्गर ने स्थापत्य की योजना को ब्रिटिश और अमेरिकन अनुभववादियों की तरह गार्डन सिटी की तरह तैयार किया। उन्होंने शहर में स्थानीय जनसंख्या के लिए अलग इकाई और सेवा क्षेत्र विकसित किये। इस प्रत्येक इकाई में अस्पताल, विद्यालय, पुस्तकालय, बाजार बनाये गये। इस बात का खास ध्यान रखा गया कि स्कूली छात्र तक इन जगहों पर आसानी से पहुँच सके। शहर का आकार को इस प्रकार रखा गया कि उसका भविष्य मे रेखीय विस्तार हो सके। इस नये शहर की खास बात यह थी कि इसके निर्माण में जाति और आर्थिक भेद का नामोनिशान नही था और लिंग समानता एवं शिक्षा पर बल देने वाले स्थापत्य का खास ध्यान रखा गया। वास्तव में यह नये भारत के निर्माण के स्वप्न को साकार करता हुआ स्थापत्य था। राजधानी का सचिवालय आर्ट डेको और आधुनिक स्थापत्य की खूबियो से युक्त बनाया गया। वाज द्वारा बनाया गया ओडिसा स्टेट म्यूजियम में आधुनिक स्थापत्य की कई विशेषताएं देखीं जा सकती हैं। श्री मेहताब को केंद्र में मंत्री पद मिलने के कारण यहाँ का स्थापत्य का काम प्रभावित हुआ।

ज़मशेदपुर (*Jamshedpur*)

झारखंड में उद्योगपति जमशेदजी नुसारवानजी टाटा ने छोटा नागपुर पठार के सक्ची इलाके में नये शहर जमशेदपुर की नींव रखी। सन 1919 में लार्ड चेम्सफोर्ड ने उनके सम्मान में इस क्षेत्र का नाम उनके पर जमशेदपुर कर दिया। इस शहर के टाटानगर के नाम से भी जाना जाता है। इसका स्थापना देश के पहले स्टील प्लांट में कार्यरत लोगों के आवास की जरूरतों को पूरा करने के लिए की गई। शहर की इमारतों के निर्माण का काम लारेंस सैम्युल डूयरेल की कंपनी 'डयूरेल एंड कंपनी' को सौंपा गया।

विधाननगर या सॉल्ट लेक सिटी (*Vidhan Nagar or Salt Lake City*)

पश्चिम बंगाल में आवास की जरुरतों को पूरा करने के लिए 1958 से 1965 के मध्य एक नियोजित नगर बसाया गया। इस नाम राज्य के दूसरे मुख्यमंत्री बिधानचंद्र रॉय के नाम पर बिधाननगर रखा गया। सन 1959 में तत्कालीन यूगोस्लाविया की कंपनी 'इन्वेट इम्पोर्ट' को इसके निर्माण का कार्य सौंपा गया। यह जगह यहाँ बनी कई छोटी-छोटी नमक की झीलों को सुखा कर विकसित की गई है इसलिए इसे सॉल्टलेक भी कहा जाता है। 16 अप्रैल 1962 को सॉल्टलेक सिटी अस्तित्व में आ गया। यह नगर के वास्तविक योजनाकार यूगोस्लाव डोबरीवोय त्साकोविच (Dobrivoje Toškovic) थे। शहर को सेक्टरों में बांट कर उन्हें निवास, व्यावसायिक, संस्थाएं, औद्योगिक आदि क्षेत्रों में बांटा गया।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

कोलकाता के निकट ही एक और नियोजित नगर न्यू टाउन या राजरहाट बनाया गया हैं इसे तीन 'एक्शन एरिया' में बांटा गया है। एक्शन एरिया-I में मॉल, उपकेंद्रीय व्यापार क्षेत्र, आवासीय और व्यावसायिक इकाईयां, एक्शन एरिया-II में मुख्य केंद्रीय व्यापार क्षेत्र, संस्थाएं, आईटी पार्क, बड़ी आवासीय इकाईयां आदि और एक्शन एरिया-III में ऊंची इमारतों बनाना तय हुआ है।

दूसरे विश्व युद्ध के समय अमेरिकी हवाई अड्डे के रूप में कार्यरत रहे क्षेत्र रूजवेल्ट टाउन क्षेत्र में नियोजित नगर 'कल्याणी' बसाया गया है। इसकी विचार भी बिधानचंद्र रॉय की देन था। इस नगर को चार ब्लॉकों और सब ब्लॉकों में बांटा गया। ब्लॉक ए में अधिकतर आवासीय इकाईयां, ब्लाक बी में मिश्रित प्रयोग, बड़े उद्यान, ब्लॉक सी में संस्थाएं और ब्लॉक डी में उद्योग जगत को जगह दी गई है।

दुर्गापुर *(Durgapur)*

पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री डा बिधान चंद्र रॉय ने इस नियोजित शहर की कल्पना की थी। इस औद्योगिक शहर के निर्माण का काम अमेरिकी वास्तुविद जोसेफ एलेन स्टीन और बेंजामिन पोल्क् को सौंपा गया। उनकी मदद का काम ज्ञानंजन निरोगी को सौंपा गया।

देश के अन्य नियोजित नवीन नगरों में अरुविले (तमिलनाडु), भिलाई (छत्तीसगढ), गांधीनगर (गुजरात), नोयडा और ग्रेटर नोएडा (उप्र.), गुड़गांव (हरियाणा), ल्वासा (महाराष्ट्र), श्रीसिटी (आंध्रप्रदेश), नवी मुंबई (महारष्ट्र), न्यू टिहरी (उत्तराखंड), नया रायपुर (छत्तीसगढ़) आदि हैं।

राष्ट्रपति भवन *(Rashtrapati Bhavan)*

राष्ट्रपति भवन निर्माण में एडविन लुटियन्स के सहयोगी मुख्य इंजीनियर ह्यूज कीलिंग थे। उनके भारतीय सहयोगियों में हारून अल रशीद, सुजान सिंह और उनके पुत्र शोभासिंह (अंग्रेजी भाषा के लेखक खुशवंत सिंह के पिता) शामिल थे। इस विशाल भवन की चार मंजिलें हैं और 340 कमरे हैं। राष्ट्रपति भवन का सबसे प्रमुख तथा विशिष्ट पहलू इसका गुम्बद है और गोलाकार छत है। लुटियन ने इस गुम्बद का डिजायन रोम के पैंथियन से लेने की बात स्वीकार की है किंतु कुछ इतिहासकारों का मत है कि इस गुम्बद का ढाँचा साँची के महान स्तूप की बनावट पर तैयार किया गया था। भारतीय वास्तुशिल्प की प्रमुखता इस तथ्य से स्पष्ट है कि यह साँची मूल के रेलिंग से घिरा हुआ है। वास्तव में, पूरा राष्ट्रपति भवन बौद्ध रेलिंगों, छज्जों, छतरियों तथा जालियों जैसे भारतीय वास्तुशिल्प संबंधी बनावटों का मूर्त रूप है। लुटियन ने बहुत ही सावधानी से छज्जों, छतरियों और जालियों का प्रयोग किया और उन्हें सटीक जगहों पर लगातार इन डिजाइनों को उपयोग यूरोपीय शैली के मिश्रण से किया। राष्ट्रपति भवन की एक अन्य विशेषता इसके स्तंभों में भारतीय मंदिरों की घंटियों का प्रयोग है। इस तरह की घंटियां नार्थ ब्लॉक, साउथ ब्लाक तथा संसद भवन में मौजूद नहीं हैं।

संसद भवन संपदा *(Parliaemnt House Estate)*

इसके अंतर्गत संसद भवन, संसदीय ज्ञानपीठ (ग्रंथालय), संसदीय सौध और इसके आस-पास के विस्तृत लॉन, आदि शामिल हैं। संसद भवन संपदा लाल पत्थर की दीवार, लोहे की जालियों और 12 दरवाजों से घिरा है। इस भवन की आधारशिला 12 फरवरी, 1921 को महामहिम द डयूक ऑफ कनाट ने रखी थी। इस भवन के निर्माण में छह वर्ष लगे और इसका उद्घाटन भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड इर्विन ने 18 जनवरी, 1927 को किया। इस भवन के वास्तुशिल्प में भारतीय परंपरा की गहरी छाप मिलती है। भवन के भीतर और बाहर फव्वारों की बनावट, जाली, और छज्जों का प्रयोग किया गया है जो कि प्राचीन भारतीय स्थापत्य का हिस्सा हैं। भवन का केन्द्रीय तथा प्रमुख भाग उसका विशाल वृत्ताकार केन्द्रीय कक्ष है। इसमें लोक सभा, राज्य सभा और पूर्ववर्ती ग्रंथालय कक्ष (जिसे पहले प्रिंसेस चैम्बर कहा जाता था) हैं और इनके मध्य उद्यान प्रांगण है। इन तीनों कक्षों के चारों ओर एक चार मंजिला वृत्ताकार भवन है, जिसमें मंत्रियों, संसदीय समितियों के सभापतियों के कक्ष, दलों के कार्यालय, लोक सभा तथा राज्य सभा सचिवालयों के महत्त्वपूर्ण कार्यालय और साथ ही संसदीय कार्य मंत्रालय के कार्यालय हैं। प्रथम तल पर तीन समिति कक्ष संसदीय समितियों की बैठकों के लिए प्रयोग किए जाते हैं। केन्द्रीय कक्ष गोलाकार है और इसके 98 फुट व्यास वाले गुम्बद को विश्व के भव्यतम गुम्बदों में से एक माना जाता है। केन्द्रीय कक्ष ऐतिहासिक महत्त्व का स्थान है। 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश शासन द्वारा भारत को सत्ता का हस्तान्तरण इसी कक्ष में हुआ था। भारतीय संविधान की रचना भी केन्द्रीय कक्ष में ही हुई थी। वर्तमान में, केन्द्रीय कक्ष का उपयोग दोनों सभाओं की संयुक्त बैठकें आयोजित करने, विदेशी गणयमान्य राष्ट्राध्यक्षों द्वारा संसद सदस्यों को संबोधन के लिए भी किया जाता है। इसमें दीवार और मेहराबों पर कई राष्ट्रीय नेताओं के चित्र लगे हुए हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

नवीन प्रस्थापनाएँ *(New Establishments)*

1920 से 1947 तक का दौर आजादी हासिल करने के प्रयासों का उत्कर्ष काल है। साथ ही इस काल में यह विचार भी सामने आया कि आजादी के बाद भारत का स्वरूप कैसा होगा। इसी उधेड़बुन में कई प्रवृत्तियाँ सामने आई। इन्हें तत्कालीन स्थापत्य में देखा और महसूस किया जा सकता है। वास्तुकारों की संस्था इंडियन इंस्टीटयूट ऑफ आर्किटेक्ट्स (Indian Institute of Architects-IIA) का गठन 1917 में हो चुका था लेकिन उसमें यूरोपीय वास्तुविदों का ही बोलबाला था और वे स्थापत्य के लिए यूरोपीय, नवशास्त्रीय, आर्ट डेको और अन्य तत्कालीन प्रवृतियों को ही महत्वपूर्ण समझते थे। सन् 1930 के आते-आते स्थापत्य में भारतीय तत्वों की स्वदेशी धारा की ओर ध्यान गया। इसके बड़े पैरोकार थे शांति निकेतन से पढ़कर निकले सुरेंद्रनाथ कर (1892-1970)। उन्होंने गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की प्रेरणा से भारतीय तत्वों की ओर देखना प्रारंभ किया। उस दौर में वास्तुकला के क्षेत्र में मुंबई अग्रणी रहा। इसका कारण यह था कि प्रचलित ब्रिटिश स्थापत्य कंपनियों के कार्यालय यहीं थे और मुंबई में नये विचारों का स्वागत अपेक्षाकृत तेजी से होता था। तत्कालीन दौर में बड़ी इमारतों का विभिन्न फर्मों द्वारा निर्माण देश के स्थापत्य में नयी प्रवृत्ति को दर्शाता है। इन कंपनियों में ग्रेगसन, बेटले एंड किंग आदि प्रमुख थीं। मुंबई में बनी बल्लार्ड स्टेट (1908-1923) को पूरी तरह से नियोजित इमारतों के शुरुआती काल की प्रमुख इमारत माना जाता है। ऐसी ही निर्माता कंपनियों ने कलकत्ता में वर्जीनिया हाऊस, स्टेटमैन भवन और चेन्नई में भारतीय जीवन बीमा निगम इमारत बना कर नये युग के आगमन की दस्तक दी। नयी घोषित राजधानी नई दिल्ली की इमारतों को बनवा रहे लुटियंस के अलावा वाल्टर स्काईज जॉर्ज और आर्थर गार्डन शूस्मिथ को नये युग का सूत्रधार माना गया है। जॉर्ज ने सेंट टॉमस चर्च (1929) और सेंट स्टीफेंस कॉलेज (1938), टयूबरकुलोसिस एसोसिएशन भवन (1952) का डिजायन तैयार किया। इनके ये कार्य परंपरागत शैली के समापन और नयी शैली के आगमन का संकेत भी है। शूस्मिथ ने दिल्ली कैंट में बने सेंट मार्टिन गैरीसन चर्च का डिजायन तैयार किया।

सर जे. जे. कॉलेज ऑफ आर्किटेक्चर *(Sir J.J. College of Architecture)*

बंबई में 1857 में बने सर जे. जे. कॉलेज ऑफ आर्टस में 1896 में एक विभाग 'ड्राफ्टमैन क्लासेज' की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य तत्कालीन आर्किटेक्ट ऑफिस में भर्ती के लिए योग्य लोगों को वास्तुकला में प्रशिक्षित करना था। यही आगे चल कर सर जे जे. कॉलेज ऑफ आर्किटेक्चर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विदित हो कि यह कॉलेज बॉरोनेट (सामंती पदवी) सम जमशेदजी जीजाभॉय (ैपत श्रंउेमकरप श्रममरममइीवल) के अनुदान से स्थापित हुआ था। सन 1913 में और फिर 1936 में इसके पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया गया और 1952 में इसे बंबई विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया।

आर्ट डेको *(Art Deco)*

1920 के दशक में यूरोप में नया कला आंदोलन शुरु हुआ जिसका नाम 'आर्ट डेको' (Art Deco) था। यह आंदोलन दूसरे विश्व युद्ध के समय समाप्त हो गया। इस कला आंदोलन का प्रभाव स्थापत्य पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप अलंकृत सतह, प्रवाहमान एवं ज्यामितिय आकारों, जीवंत रंगों और नये प्रकार के सामान जैसे एल्युमिनियम, प्लास्टिक का प्रयोग इमारतों में होना शुरु हो गया। इस नवीन स्थापत्य आंदोलन का प्रभाव मुंबई में सबसे ज्यादा रहा। एक अध्ययन के अनुसार इस समय विश्व में 'आर्ट डेको' शैली में बनी इमारतों की संख्या में मुंबई का दूसरा स्थान है। हालाँकि पूरे देश में इस शैली में इमारतें बनीं। इनमें चेन्नई की द हिन्दू अखबार की 'कस्तूरी इमारत (1939), होटल दासप्रकाश, अहमदाबाद की 'इलेक्ट्रिसिटी बिल्डिंग (1940), कोलकाता की रीड बिल्डिंग (1942) आदि प्रमुख हैं। आर्ट डेको की जीवंतता के कारण इसका प्रयोग सिनेमा हॉल की इमारतों और आवास का नया तरीका यानी फ्लैट बनाने में खूब हुआ। इनमें मुंबई का इरोज, मेट्रो, रीगल और लिबर्टी सिनेमा हॉल प्रमुख उदाहरण हैं। इसके अलावा मुंबई का चर्चगेट रीक्लैमेशन क्षेत्र को भारत में आर्ट डेको का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है।

इंडो-डेको *(Indo-Deco)*

राष्ट्रवादी उभार और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति बढ़ते आग्रहों के कारण 'आर्ट डेको' स्थापत्य आंदोलन में भारतीय तत्वों के समावेशन की प्रवृत्ति भी विकसित होने लगी। इस नवीन प्रवृत्ति को इंडो-डेको (Indo-Deco) नाम भी दिया गया है। इन नये तत्वों में केवल हिन्दू ही नहीं अपितु बौद्ध, इस्लामी और यहाँ तक कि औपनिवेशिक स्थापत्य के तत्व भी दिखने लगे। इस शैली की प्रमुख इमारतों में मुंबई की म्यूचुअल इंश्योरेंस बिल्डिंग, जोधपुर का उम्मेद भवन पैलेस, बडोदरा का कीर्ति मंदिर बनाये गये। इस दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान अमेरिकी वास्तुकार दंपती वाल्टर बुर्ले ग्रिफिन और मेरियन माहोनी ग्रिफिन का है। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय का पुस्तकालय सहित कुछ अन्य भवन, कई निजी भवन, पायनियर अखबार की इमारत, अहमदाबाद का टाउन हॉल आदि का डिजायन तैयार किया। आजादी के बाद भी इंडो-डेको आर्ट के प्रयोग होते रहे। इनमें सर्वप्रमुख कलकत्ता का रामकृष्ण मिशन (1960) और यहीं का आकाशवाणी भवन है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

आधुनिकतावाद *(Modernism)*

यूरोप में 1920-60 तक स्थापत्य के क्षेत्र में एक आंदोलन चला जिसे 'अंतरराष्ट्रीय आधुनिकतावाद (International Modernism) कहा गया है। भारत में इसका प्रभाव 1930 के बाद से देखा जाना शुरु हुआ और स्थापत्य की विशेषताएं से युक्त इमारतें कुछ धनी लोगों ने बनवाई। ऐसे भवन अहमदाबाद और मुंबई में ज्यादा बने लेकिन इनमें सबसे प्रमुख इमारत 'गोलकोंदे' (Golconde) मानी जाती है। यह पुडुचेरी में अरविंदो घोष के आश्रम है जो कि 1936-48 में बनकर तैयार हुआ। गोलकोंदे शब्द 'गोलकुण्डा' के फ्रेंचीकरण से निकला है। इस भवन के वास्तुकार रेमंड (Raymond) थे। आधुनिकतावाद से प्रेरित एक अन्य महत्वपूर्ण वास्तुकार 'कोनिसबर्ग' (Koenigsberger) थे। उन्होंने बिहार में जमशेदपुर और ओडिसा की राजधानी भुवनेश्वर का खाका (Plan) तैयार किया था।

विदेशों में चले रहे आंदोलनों और उनके भारत में हो रहे प्रयोगों ने भारतीय वास्तुकारों को भी प्रेरित किया। स्वतंत्रता के लिए चल रहे राजनीतिक आंदोलन की शाखाएं अन्य क्षेत्रों में फैल रही थीं और स्वतंत्रता को जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी देखने का प्रयास किया जा रहा था। तत्कालीन समाज इस सवाल से भी जूझ रहा था कि भविष्य का भारत कैसा होगा। वास्तुकार भी इस सवाल का उत्तर खोजने का प्रयास कर थे। कुछ लोगों ने इसका उत्तर भारतीय संस्कृति और इतिहास में देखा। इस दृष्टि के महत्वपूर्ण उदाहरण बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और उस्मानिया विश्वविद्यालय के भवन हैं। स्थापत्य के क्षेत्र में प्राचीन अवधारणाओं के समावेश के लिए श्रीष चंद्र चटर्जी (1873-1966) ने अथक प्रयास किये। नेहरु से निकटता रखने वाले चटर्जी ने अपने आकारों के लिए परंपरागत 'शिल्प सूत्रों' को जानना शुरु किया। उन्होंने देशभर में बिखरे स्थापत्य के कलात्मक नमूनों जैसे अजंता, दिलवाड़ा, मामल्लपुरम आदि के गहन अध्ययन किया। उनके प्रमुख कार्यों में दिल्ली में स्थित लक्ष्मी-नारायण मंदिर या बिड़ला मंदिर (1938), सारनाथ में संघ धर्मशाला (1935) कलकत्ता में देशबंधु स्मारक और अशोक सिंह पैलेस आदि हैं। चटर्जी ने 1940 में स्थापत्य के ऐतिहासिक सिद्धांतों को ध्यान में रखकर 'ऑल इंडिया लीग ऑफ आर्किटेक्ट' का घोषणापत्र तैयार किया ताकि भारतीय वास्तुकारों को प्राचीन विशेषताओं से प्रेरणा मिल सके।

नेहरु युग की समाप्ति के साथ आधुनिकतावाद आंदोलन की चार धाराएं उभर कर सामने आई। ये चारों धाराएँ खुद में इतनी शक्तिशाली नहीं थी कि वे अकेले ही कोई आंदोलन खड़ा कर सकें। इन चारों के गुण या विशेषताएं परस्पर मिलती जुलती भी हैं। इन चार धाराओं में पहली धारा उन्हीं वास्तुकारों की ही है जो स्थापत्य में आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों को लेकर चल रहे थे। इसके अलावा अन्य तीन प्रवृत्तियाँ उपयोगितावादी आधुनिकतावाद (Utilitarian Modernism), वास्तुकला बतौर मूर्तिशिल्प (Architecture as Sculpture) और नव आधुनिकतावाद (Neo-Modernist) के नाम से जानी गई। इसके अलावा भी कुछ अन्य छिटपुट धाराएं भी देखीं जा सकती हैं।

उपयोगितावादी आधुनिकतावाद *(Utilitarian Modernism)*

पहली धारा यानी आधुनिकतावादी वास्तुकारों का अधिकतर कार्य व्यावयासिक इमारतों के निर्माण में देखा जा सकता है। जैसे वास्तुकार हबीब रहमान की बनाई दिल्ली विकास प्राधिकरण की इमारत जिसे विकास मीनार भी कहा जाता है। इसके अलावा मुंबई में बनी रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया भवन, बेंगलुरु का विश्वैश्वरैया सेंटर, मुंबई में कंचनजंघा अपार्टमेंट, और नई दिल्ली में स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन भवन। इन इमारतों को प्वांइट ब्लॉक (Point Block) भी कहा जाता है। व्यावसायिक इमारतों का एक महत्वपूर्ण उदाहरण नई दिल्ली स्थित सिविक सेंटर इमारत का है, जिसे निकट बने जंतर-मंतर के सुसंगत तौर बनाया गया है। अन्य महत्वपूर्ण उदाहरणों में चेन्नई स्थित मद्रास रबर फैक्ट्री (एमआरएफ) प्रशासनिक भवन भी माना जाता है।

दूसरी धारा यानी उपयोगितावादी आधुनिक स्थापत्य के तहत ऐसे भवनों को रखा गया है जो आम लोगों के प्रयोग के उद्देश्य से बनाये गये हैं। जैसे आवासीय परियोजनाएं, कार्यालय भवन, सामुदायिक भवन, विद्यालय आदि। इन कार्यों को ब्रिटिश-भारतीय कंपनियों के व्यावसायिक कार्यों से भिन्न श्रेणी में माना गया है। ऐसे भवनों में पर्याप्त मात्रा में कंक्रीट के ढांचे और कंक्रीट की ही छत का प्रयोग हुआ है। ऐसी इमारतों की भीतरी संरचना बहुत ही सामान्य श्रेणी की बनाई गई है। इसी कारण इन भवनों को कम समय, श्रम और धन में तैयार किया गया। इन इमारतों को सौंदर्य की दृष्टि से सामान्य लेकिन प्रयोग की दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण हैं। हालाँकि कुछ उपयोगितावादी भवनों में भी स्थापत्य कौशल को देखा जा सकता है। जैसे मुंबई की जीवन बीमा निगम की इमारत। उपयोगितावादी दृष्टि से बनी प्रमुख इमारतों में नेहरु प्लेस, मुंबई का नारीमन पॉइंट आदि है।

वास्तुकला बतौर मूर्तिशिल्प *(Architecture as Sculpture)*

तीसरी धारा के स्थापत्य में मूर्तिशिल्प की विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। जैसे तमिलनाडु में पुडुचेरी के निकट बसे नगरीय क्षेत्र अरुविले (Aurovile) में बना मातृमंदिर (Matrimandir)। आध्यात्मिक सौंदर्य के गुणों से युक्त इस भवन को रोजर एंगर ने साकार रूप दिया। यह एक पूर्ण गोलाकार मंदिर है। इसकी कल्पना क्रांतिकारी तथा दार्शनिक अरविंदों घोष की शिष्या मां मीरा ने योग साधना के लिए की थी। करीब नौ हेक्टेयर के विशाल परिसर में फैले इस मंदिर में एम्फीथियेटर ऐसा एक अन्य उदाहरण नई दिल्ली में बना बहाई धर्म से संबंधित मंदिर 'बहाई मंदिर' है। इसके बेहतरीन वास्तुशिल्प का श्रेय फरीबर्ज सहबा (Fariburz Sahba)

Copyright– Drishti The Vision Foundation

को प्राप्त है। यह इमारत कमल के फूल की प्रतिकृति की तरह है। इसमें कमल की पंखुडियों जैसी नौ संरचनाएं तीन स्तरों पर हैं। ये नौ पंखुडियां विश्व में प्रचलित नौ मुख्य धर्मों को दर्शाती हैं। नौ पंखुडियों का पहला स्तर बाहर की तरफ खुला हुआ है और इसी से 40 मीटर ऊंचे मुख्य कक्ष में प्रवेश किया जाता है। पंखुडियों का दूसरा स्तर केन्द्र की तरफ झुका हुआ है जबकि तीसरा और सबसे भीतरी स्तर बंद पंखुडी का अहसास कराता है। मंदिर परिसर एक बड़े बगीचे में बनाया गया है और उसमें कुछ अन्य भवन जैसे स्वागत कक्ष, पुस्तकालय आदि बनाये गये हैं। मुख्य इमारत में नौ सरोवर भी बनाये गये हैं जिसके संपर्क में आयी शीतल हवा सीधे कक्ष में पहुंचती है। कक्ष के शिखर पर प्रकाश की व्यवस्था आध्यत्मिक स्तर की प्रतीत होती है। इसे कंक्रीट से बनाया गया है और पंखुडियों पर आयातित संगमरमर लगाया गया है। यह इमारत अपने बेहतरीन स्थापत्य की वजह से आधुनिक ताजमहल तक कही जाती है। ऐसी अन्य इमारतों में मुंबई का सालवकाओ चर्च, नई दिल्ली के चाणक्यपुरी में बेल्जियम दूतावास आदि हैं।

नव-आधुनिक वास्तुकला *(Neo-Modern Architecture)*

चौथी और अंतिम मुख्य धारा यानी नव आधुनिकतावाद (Neo-Modernism) को द्वितीयक आधुनिकता (Second Modernism) भी कहा गया है। इस धारा के वास्तुकारों पर चंडीगढ़ के निर्माता ली कार्बूजियर (Le Corbusier), लुई कॉन आदि का प्रभाव देखा जा सकता है। इन वास्तुकारों में कोरिया, दोषी, राजे, काविंदे आदि शामिल किये जाते हैं। इस प्रकार के भवनों में आईआईटी कानपुर, आईआईएम अहमदाबाद, भारतीच वन प्रबंधन संस्थान आदि हैं। वास्तुकला में प्रचलित अन्य धाराओं का परिचय इस प्रकार है-

देशज स्थापत्य *(Vernacular Architecture)*

स्थापत्य के क्षेत्र में देशज स्थापत्य (Vernacular Architecture) स्थानीय जरूरतों और निर्माण सामग्री पर आधारित वास्तुकला का एक प्रकार है जो अपनी प्रेरणा स्थानीय परंपराओं से ग्रहण करता है। इस प्रकार की वास्तुकला में पर्यावरण, सांस्कृतिक, तकनीकी, और ऐतिहासिक संदर्भ को देखा जा सकता है। ये संदर्भ वास्तुकला में प्रतिबिम्बित और समय के साथ विकसित होते हैं। इस प्रकार की धारा को अक्सर अनपढ़ और अपरिष्कृत कह कर खारिज किया जाता रहा लेकिन इस स्थिति में परिवर्तन आया है और आधुनिक वास्तुकार इसके तत्वों से भी प्रेरणा ग्रहण करके उन्हें अपने डिजायनों में शामिल कर रहे हैं। देशज स्थापत्य के तत्वों को आधुनिक कहे जाने वाले तत्वों या अभिजात्यता के विरोध में देखा जाता था पर आधुनिकता की सही समझ ने यह बाधा अब दूर कर दी है। भारत में देशज स्थापत्य के क्षेत्र में अहमदाबाद के राजेंद्र देसाई और रूपल देसाई, मुंबई के नारी गांधी, दिल्ली में के टी रवींद्रन, रेवती कामथ और वसंत कामथ का नाम अग्रणी है। रेवती कामथ का दिल्ली में आनंदग्राम परियोजना और मल्टीमीडिया गांधी संग्रहालय आदि को सराहा गया है। मुंबई के प्रसिद्ध वास्तुकार हफीज कांट्रेक्टर को भी गणना आधुनिक देशज स्थापत्यकारों में की जाती है।

सामुदायिक स्थापत्य *(Community Architecture)*

देश में गरीबों में आवास निर्माण खासतौर पर शहरी गरीबों के आवास निर्माण का काम पिछले कुछ दशकों में तेजी से बढ़ा है। इन आवासों के निर्माण में उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाया जाता है। केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों की विभिन्न एजेंसियां इस कार्य को करती हैं। चेन्नई का अरुम्बाकम इस दिशा में सफल प्रयास का उदाहरण प्रस्तुत करता है। गुजरात स्थित 'अहमदाबाद स्टडी एक्शन ग्रुप (ASAG)' नामक स्वयं सेवी संगठन भी गरीबों के मकानों के लिए स्थापत्य की दिशा में बेहतर प्रयास कर रहे हैं।

उत्तर आधुनिक स्थापत्य *(Postmodern Architecture)*

साहित्य एवं अन्य विषयों में आधुनिक युग की समाप्ति की और उत्तरआधुनिकतावाद (Postmodernism) के आने की घोषणा का असर स्थापत्य में भी पड़ा। वास्तुकला के क्षेत्र में उत्तरआधुनिक स्थापत्य की पहचान अब तक चल आ रही परंपरा से विचलन के तौर पर देखा जाता है। विश्व स्तर पर 1966 में राबर्ट वेंचुरी इस आंदोलन के एक बड़े पैरोकार के रूप में उभरे। उनके अलावा माइकल ग्रेवस्, राबर्ट ए एम स्टर्न का नाम भी उल्लेखनीय है। भारत में चार्ल्स कोरिया का नाम उत्तरआधुनिक वास्तुकारों में अग्रणी है। इस शैली की पहचान आधुनिक स्थापत्य से विचलन के तौर पर होती है। साथ ही इसमें परंपरागत प्रारूपों के साथ नए विचार, चौंका देने वाली युक्तियां, सीधे आकारों में अचानक परिवर्तन, नए आकार आदि तत्व भी देखे जाते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री देरिदा की प्रसिद्ध अवधारणा 'विखंडनवाद' (Deconstructionism) के अनुरूप वास्तुकला में पड़े प्रभाव से जो शैली विकसित हुई, इससे भी उत्तरआधुनिक स्थापत्य का हिस्सा माना जाता है। इस शैली के प्रमुख उदाहरण मुंबई में डिस्कवरी ऑफिस, इनआर्बिट मॉल, कोहिनूर टॉवर, द इम्पीरियल टिवन टॉवर, उद्योगपति मुकेश अंबानी का निवास एंटीलिया और जयपुर का जवाहर कला केंद्र आदि हैं।

पारिस्थितिकीय स्थापत्य *(Ecological Architecture)*

पारिस्थितिकीय स्थापत्य मौजूद विश्व में चल रही ऊर्जा संकट की समस्या के एक समाधान और सतत विकास के सिद्धांतों के अनुरूप विकसित हुआ है। इसलिए पारिस्थितिकीय स्थापत्य को सतत स्थापत्य (Sustainable Architecture) और इस प्रकार बनी

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इमारतों को हरित भवन या ग्रीन बिल्डिंग (Green Building) के रूप में भी माना जाता है। आमतौर पर यह माना जाता है कि आवास की एकक इकाईयों के बजाए गगनचुंबी इमारतें ऊर्जा की ज्यादा खपत करती हैं। इससे संसाधनों पर विपरीत असर पड़ता है। इसलिए भवनों का निर्माण इस प्रकार होना चाहिये जिससे ऊर्जा को बचाया जा सके ताकि भविष्य में आने वाली पीढ़ियां भी ऊर्जा के संसाधनों का प्रयोग कर सकें। पारिस्थितिकीय स्थापत्य के तहत बनने वाली इमारतों में प्राकृतिक रोशनी और हवा के साथ समतापमान बने रहने पर जोर दिया जाता है। इसमें सौर पैनल, विंड टरबाईन, सोलर वाटर हीटिंग के अलावा भवन निर्माया में प्रयुक्त होने वाली सामग्री की सतत रूप (Sustainable Building Material), पुनर्चक्रित सामग्री और कचरा निपटान के ऐसे तरीकों का प्रयोग किया जाता है जिनमें जल जैसे कीमती संसाधन बर्बाद होने से रुक सकें। भारत में इस शैली के प्रमुख पैरोकार किरन पांडया, बी. एस. भूषण, श्रीष बेरी, निमिष पटेल, पारुल झावेरी, गायत्री एवं नमित शेट्टी आदि हैं। पारिस्थितिकीय स्थापत्य के गुणों को दर्शाती कुछ इमारतों में हिरावी, टोरंट रिसर्च सेंटर, ली ओलाइव, इंडक्टोथर्म आदि हैं।

केंद्रीय लोक निर्माण विभाग *(Central Public Works Department-CPWD)*

केंद्र सरकार की निर्माण एजेंसी के तौर पर केंद्रीय लोक निर्माण विभाग (Central Public Works Department or CPWD) का गठन किया है। राज्य स्तर पर यही कार्य लोक निर्माण विभाग करता है। केलोनिवि कुछ विभागों जैसे रेलवे, रक्षा संचार आदि को छोड़ कर शेष के लिए निर्माण संस्था के रूप में काम करता है। इसकी स्थापना 1854 में लार्ड डलहौजी ने 'लोक-कार्यों' के निर्माण के लिए की थी। आज जिस संस्था को हम देखते है उसका स्वरूप 1930 में आया। केलोनिवि के पहले भारतीय प्रमुख गणेश भीखाजी देवलालीकर (1870-79) थे। उनके तथा इस विभाग के सामने सबसे बड़ी चुनौती यही थी कि देश के लोकतांत्रिक ढांचे के विस्तार के कारण नये भवनों की बढ़ती मांगों को कैसे पूरा किया जाए और नवस्वाधीन तथा आर्थिक रूप से बेहद जर्जर हो चुके राष्ट्र में स्थापत्य को दिशा क्या हो। केलोनिवि ने आधुनिकता के साथ-साथ, भारतीय तत्वों, नई दिल्ली के वास्तुकारद्वय लुटियन एवं बेकर सहित ब्रिटिश कालीन स्थापत्य से प्रेरणा लेने का निर्णय किया। केलोनिवि द्वारा नई दिल्ली में बनाये गये उच्चतम न्यायालय (1952), अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों (Seminars) के लिए बना विज्ञान भवन (1962), कृषि भवन, उद्योग भवन और रेल भवन सहित अन्य इमारतों में इन तत्वों को देखा जा सकता है। इंडो-ब्रिटिश शैली में बने उच्चतम न्यायालय में छज्जों, गुंबद, छतरी के अलावा बौद्ध स्थापत्य का प्रयोग हुआ है। विज्ञान भवन में हिन्दू और मुगल स्थापत्य के तत्वों जैसे जाली, छज्जा के साथ अजंता गुफाओं के प्रवेश द्वार जैसे आकार का प्रयोग किया गया है। दिल्ली में ही बना इंडियन काउंसिल आफ वर्ल्ड अफेयर (सप्रू हाउस) में बौद्ध तत्वों जैसे स्तूप आदि, एवं आजाद भवन में आधुनिक स्थापत्य को देखा जा सकता है। केलोनिवि ने नई दिल्ली क्षेत्र में कई आवासीय क्षेत्रों की भी स्थापना की। केंद्र सरकार के वरिष्ठ अफसरों के लिए काका नगर, बापा नगर और बाद में एन्ड्रूज गंज, कनिष्ठ अफसरों के लिए आर. के. पुरम, सरोजिनी नगर और लक्ष्मीबाई नगर बनाये गये। इन आवासीय क्षेत्रों के स्थापत्य में आधुनिक तत्वों को देखा जा सकता है। केलोनिवि ने आम लोगों के लिए भी आवासीय क्षेत्रों जैसे निजामुद्दीन, लाजपतनगर, राजेंद्रनगर आदि का निर्माण किया। सन 1950 में बनी जी डी बिड़ला समिति की सिफारिशों के अनुरूप दिल्ली विकास प्राधिकरण (Delhi Development Authority-DDA) का गठन 1957 हुआ। इसके बाद से दिल्ली में केलोनिवि की गतिविधियां सीमित हो गई। केलोनिवि ने उत्कृष्टता का एक दौर वास्तुविद हबीब रहमान (1916-96) के समय में भी देखा। उनके समय में दिल्ली में कई महत्वपूर्ण इमारतें डाक तार भवन, इंद्रप्रस्थ भवन, विश्व स्वास्थ्य संगठन भवन बनीं। उनका सबसे बेहतरीन कार्य रवींद्र भवन (1961) माना जाता है। उन्होंने मौलाना आजाद की मजार और राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद की मजार के निर्माण में आधुनिक एवं परंपरागत स्थापत्य तत्वों का प्रयोग किया।

अक्षरधाम मंदिर *(Akshardham Temple)*

अक्षरधाम मंदिर भारत के प्राचीन मंदिरों के स्थापत्य का पुनर्प्रयोग है। दिल्ली और गुजरात के गांधीनगर में बने में इन मंदिरों को बोचावनवासी स्वामी अक्षर पुरुषोत्तम स्वामीनारायण संस्था के प्रमुख स्वामी महाराज की प्रेरणा एवं प्रयासों से बनाया गया है। दिल्ली में सन 2005 में बने इस संस्था के मंदिर को यमुना नदी के तट पर वास्तुशास्त्र और पांचरात्र शास्त्र के नियमों के अनुसार बनाया गया है। इस मंदिर में स्वामीनारायण और भारत के इतिहास को भी दर्शाया गया है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-2

भारतीय मूर्तिकला (*Indian Sculpture*)

भारतीय प्रतिमाओं में अंकित मुद्राएँ (*Mudras in India Sculpture*)

धर्म, नृत्य और तंत्र के प्रभाव के कारण भारतीय मूर्तिकला में कुछ विशिष्ट नियम विकसित हुये। इन नियमों के अनुसार ही लेटी, बैठी, और खड़ी हुई प्रतिमाओं का निर्माण होता है। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

लेटी हुई मूर्तियाँ– लेटी हुई मूर्तियों को 'शयन' कहा गया है। इस स्थिति में प्राय: शेषशायी विष्णु, बुद्ध का परिनिर्वाण, यशोदा और कृष्ण आदि की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। इस प्रकार का मूर्तिशिल्प कम देखने को मिलता है।

बैठी हुई मूर्तियाँ– बैठी मूर्तियों को 'आसन' कहा गया है। इसे प्राय: छह प्रकारों में विभाजित किया गया है-

1. पद्मासन–इस आसन में मूर्ति को पालथी लगाये हुये दर्शाया जाता है। इसमें मूर्ति के दोनों तलवे ऊपर की ओर दिखाई देते हैं।
2. अर्द्धपद्मासन–इस प्रकार के आसन में मूर्ति पालथी लगाये हुये व एक पैर का तलवा ऊपर को उल्टा दिखाया जाता है।
3. ललितासन–इसमें एक पैर पालथी की स्थिति में होता है जबकि दूसरे पैर का घुटना मुड़ा हुआ ऊपर आसन पर रखा गया हो तथा बायीं हथेली पर शरीर का बोझ होता है।
4. मैत्रेयासन–इसमें मूर्ति को कुर्सी या ऊँचाई पर बैठे तथा दोनों पैर एक समान रूप से नीचे लटक हुये बनाये जाते हैं।
5. विश्रामासन–इसमें मूर्ति को कुर्सी पर बैठकर उसका एक पैर लटकाया हुआ बनाया जाता है जबकि उसका दूसरा पैर हाथ से पकड़ा हुआ होता है।

खड़ी मूर्तियाँ– इस प्रकार की मूर्तियों को 'स्थान' कहा गया है। खड़ी हुई मूर्तियों को निम्नलिखित अवस्थाओं में बनाया जाता है-

1. भद्रासन–इस स्थिति में मूर्ति को पैर खोल कर सीधे खड़ा करके बनाया जाता है।
2. समभंग–इस प्रकार की मुद्रा में मूर्ति को बिल्कुल सीधा खड़ा करके इस प्रकार बनाया जाता है कि मूर्ति के शरीर में कोई भी भंग नहीं हो। मूर्ति के हाथ-पैर सीधे होते व शरीर के दोनों हिस्सों का पूर्णतया समान अनुपात होता है।
3. अभंग–इस प्रकार की मुद्रा में मूर्ति के शरीर की स्थिति समभंग ही होती है लेकिन मूर्ति का एक घुटना आगे की ओर मुड़ा हुआ होता है।
4. त्रिभंग–इस प्रकार की मुद्रा में शरीर के तीन अंगों को तीन दिशाओं में बनाया जाता है। पहला अंग सिर एक दिशा में, वक्ष से कटि तक का भाग दूसरी दिशा में तथा कमर से नीचे का भाग अन्य दिशा में बनाया जाता है।
5. अतिभंग–इस प्रकार की मुद्रा में मूर्ति के कई प्रकार के अंग बनाये जाते हैं। शिव के तांडव नृत्य करते हुये बनी मूर्तियाँ इसी श्रेणी में आती हैं।
6. शालभंजिका–इस मुद्रा में त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी स्त्री एक हाथ में शाल वृक्ष की शाखा पकड़े दिखाई जाती है। यह मुद्रा बुद्ध के जन्म की प्रतीक भी मानी जाती है।

मुद्राओं के प्रकार (*Types of Mudres*)

भारतीय मूर्तिशिल्प में मुद्राओं के दो प्रकार अरुप और सरुप माने गये हैं। अरुप प्रकार की मुद्राओं में हाव-भाव और क्रिया की व्यंजना की जाती है। इस प्रकार में हस्त मुद्राओं जैसे ध्यान मुद्रा, अभय मुद्रा आदि को रखा गया है। सरुप प्रकार की मुद्राओं में मूर्ति को आयुध या ऐसी वस्तुएँ जिनसे शक्ति आदि का प्रदर्शन होता है से दर्शाया गया है। इन मुद्राओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

1. ध्यान मुद्रा–इस प्रकार की मुद्रा में पद्मासन लगाये मूर्ति के दोनों हाथ गोद में रखे होते हैं जबकि हथेलियाँ ऊपर की ओर एवं ध्यानमग्न अवस्था में होती हैं।
2. अभय मुद्रा–इस प्रकार की मुद्रा में पद्मासन लगाये, बायां हाथ गोद में और दाहिना हाथ या हथेली सामने की ओर किये हुये एवं सीने में समांतर उठा हुई होती है।
3. भूमिस्पर्श मुद्रा–इस प्रकार की मुद्रा में पद्मासन लगाये, बायां हाथ उसी प्रकार गोदी में हथेली ऊपर की ओर व दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली भूमि की ओर संकेत करते हुये बनाई जाती है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

4. धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा–यह मुद्रा भगवान बुद्ध से संबंधित है। इसमें बुद्ध के दोनों हाथ सीने तक उठे हुये और एक हथेली सामने की ओर, एक हथेली अंदर की ओर, दोनों हाथों की तर्जनी और अंगूठे की स्थिति इस प्रकार हो मानो धागा पकड़े हों और दूसरे से उसकी परिधि घुमा रहे हों।
5. वरद मुद्रा–खड़ी या बैठी मूर्ति का दाहिना हाथ कुछ आगे रहता है। हथेली खुली रहती है और अंगुलियाँ सटी हुई नीचे की ओर आधी मुड़ी हुई रहती हैं। इसके माध्यम से वरदान देने की क्रिया दर्शायी जाती है।
6. व्याख्यान एवं वितर्क मुद्रा–दाहिने हाथ की तीन अंगुलियाँ (मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा) ऊपर की ओर सीधी रहती हैं तथा तर्जनी और अंगूठे को मिला देने पर वृत्त जैसा आकार बनता है। यह आकार पूर्णता भी दर्शाता है।
7. ज्ञानमुद्रा–इसे वज्र या बोधश्री मुद्रा भी कहा गया है। इसमें बाएं हाथ की शेष अंगुलियाँ तथा अंगूठा बंद दिखाये जाते हैं तथा तर्जनी सीधी खड़ी रहती है जिसे दाहिने हाथ की मुठ्ठी से बंद कर देते हैं। यह ज्ञान की सर्वोच्चता का प्रतीक है। इससे वज्र की आकृति बन जाती है इसलिए इसे वज्र की मुद्रा भी कहते हैं।
8. अंजलि मुद्रा–इसमें दोनों हाथ इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि प्रार्थना की जा रही हो।
9. पुष्प पुट–इस मुद्रा में दोनों हाथ इस प्रकार रहते हैं कि मानो देवताओं को पुष्प अर्पित किये जा रहे हों।
10. बुद्ध पात्र मुद्रा–इसमें बाएं हाथ की हथेली को इस प्रकार दिखाते हैं मानो उसमें कोई पात्र रखा हो। इसके ऊपर दाहिनी हथेली ऐसी स्थिति में होती है कि जैसे कोई पात्र ढंका जा रहा है। इसके द्वारा यह व्यक्त किया जाता है कि जो व्यक्ति यह सत्य नहीं जान पाता कि वह बंधन में है।
11. गोपन मुद्रा–इसमें बाएं हाथ की मुठ्ठी बनाकर सीधे हाथ से ढंकी दिखाते हैं जैसे किसी जलते हुये दीपक को बुझने से रोकने का प्रयास कर रहे हों।
12. वृषा भासन मुद्रा–इसमें खड़े हुये शिव का एक हाथ कुहनी से आगे की ओर मुड़ा हुआ इस प्रकार दर्शाया जाता है कि मानो वह वृषभ (नंदी) की पीठ पर रखा हो। शिव की भंगिमा इस प्रकार की होती है कि मानो वे वृषभ का थोड़ा सहारा लिये खड़े होते हैं।

आसन वस्तु *(Asanas)*

जिस वस्तु पर मूर्ति को बैठा या खड़ा दिखलाया जाता है उसे आसन वस्तु कहा गया है। देश में चौकी, सिंहासन, चटाई, शिला आदि पशु-पक्षियों जैसे हाथी, मृग, व्याघ्र चर्म, मकर, मयूर, गरुड़, बैल, शेर, शूकर, हंस, उल्लू, मूषक आदि, पुष्पों में कमल, कमलपत्र आदि।

आयुध *(Ayudh)*

मूर्तियों के सरूप प्रकार में मूर्ति के गुणों और शक्ति को प्रदर्शित करने को आयुध प्रयोग कहा गया है। किसी दैवीय प्रतिमा के अनेक गुण प्रकट करने के लिए मूर्तियों के हाथों की संख्या में बढ़ोतरी कर दी जाती है। इन प्रत्येक हाथों में शक्ति, क्रिया या गुण की प्रतीक वस्तुओं को बनाया जाता है। इन प्रतीकों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है–

आयुध	प्रतीक
शुक	प्रेम
पात्र	औषधि, भिक्षा
घंटा	क्षणभंगुरता
धनुष-बाण	प्रेम, एकाग्रता बुद्धि काम
शंख	नियम, धर्म
चंवर	गरिमा उच्चता, आध्यात्म संकेत
मणि	वैभव संपन्नता, मन, आत्मा
त्रिशूल	शक्ति, अधिकार, मन-वचन-कर्म, इच्छा-ज्ञान-क्रिया, अग्नि-स्वर्ग-पृथ्वी
पद्म -	पृथ्वी, निर्लिप्तता, पवित्रता, करुणा, सहानुभूति, ज्ञान की पवित्रता, नारी तत्व, योनी वरदान
दर्पण -	निस्सारता, प्रतिबिम्ब, सूर्य, भौतिक भ्रम, आत्म मुग्धता

Copyright– Drishti The Vision Foundation

कंदुक-	प्राकृतिक नियम, माया
पाश -	बंधन, प्रेम पाश, करूणा का बंधन
माला-	108 विषय, 108 देव
माला-सूत्र	सत्य का आधार, वस्तुओं में छिपा शाश्वत सत्य
पुस्तक-	ज्ञान, धर्मग्रंथ
खड्ग-	तप, अज्ञान का नाश, धर्म, शक्ति, विवेक, चातुर्य, प्रज्ञा
कलशः	सत्य, मदिरा, द्रव, जल, अमृत, निधि
चक्र -	पाप मुक्ति, बंधन मुक्ति, पुनर्जन्म, राजसी तत्व
वंशी -	माया
अग्निपात्र -	पाप नाश, संहार

जैन मूर्तियाँ *(Jain Sculpture)*

जैन धर्म के अंतर्गत तीर्थकरों या जिन की मूर्तियों का निर्माण किया गया है। जैन मूर्तियों के विकास के पहले चरण में जिनों की स्वतंत्र मूर्तियाँ नहीं मिलती हैं। तीर्थकर प्रतिमा के सर्वप्रथम दर्शन हमें प्रस्तर शिलाओं या आयोगपटटों पर ही होते हैं। अयागपटों पर बने चिह्नों में मत्स्य, मंगलघट, वर्धमान, स्वास्तिका आदि के चिह्न मिले हैं। जैन प्रतिमाओं के विकास का दूसरा चरण भी अयागपटों पर ही मिलता है लेकिन अब अयागपटों के मध्य तीर्थकरों को पद्मासन में दिखाया जाता है। जैन धर्म की प्रारम्भिक पूजा पद्धति में निम्नांकित प्रतीकों का स्थान महत्त्वपूर्ण था-धर्मचक्र, त्रिरत्न, स्तूप, चैत्यस्तंभ, चैत्य-वृक्ष, पूर्णघट, श्रीवत्स, सराव-समपुट, पुष्प-पडलग, स्वास्तिक, मत्स्य-युग्म व भद्रासन। ऐसे अयागपटों का समय पूर्व कुषाणकाल का माना गया है। जैन मूर्तियों के विकास के तीसरे चरण में जिनों की स्वतंत्र मूर्तियाँ मिलने लगी थीं। इन प्रतिमाओं के लक्षण बौद्ध प्रतिमाओं से मिलते जुलते हैं। इन पूरी तरह से निर्वस्त्र प्रतिमाओं के वक्ष पर 'श्रीवत्स' का चिह्न अंकित रहता है। ये मूर्तियाँ बैठी होने पर पद्मासन और खड़ी होने पर कायोत्सर्ग मुद्रा में बनाई गई।

इन मूर्तियों की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

- ये मूर्तियाँ केवल दो ही प्रकार की हैं, एक तो पद्मासन में बैठी हुई ध्यानस्थ मूर्तियाँ और दूसरी जाँघ से हाथों को सटाकर सीधी खड़ी प्रतिमाएँ जिन्हें 'कायोत्सर्ग' मुद्रा में स्थित प्रतिमाएँ कहा जाता है।
- तीर्थकरों के सिर केश रहित या छोटे घुँघराले केशों से अलंकृत हैं। आँखों की पुतलियाँ साधारणतः नहीं दिखाई जाती थी पर बाद के कलाकारों ने इस कमी को दूर करने के लिए कुछ कुषाण कालीन मूर्तियों में आँखें बनाई हैं।
- तीर्थकरों के कान कंधों तक लटकने वाले नहीं हैं और मुख पर भी कोई विशेष भाव लक्षित नहीं होता।
- महापुरुष के बोधक चिह्नों में हथेलियों पर धर्मचक्र और पैर के तलवों पर त्रिरत्न और धर्मचक्र दोनों बने रहते हैं। वक्षस्थल पर बीचो बीच 'श्रीवत्स' चिह्न बना रहता है। कुछ प्रतिमाओं में हाथ की उँगलियों के पोर में भी श्रीवत्सादि मंगल चिह्न बने हैं।
- उत्तर काल में दिखाई पड़ने वाले तीर्थकर लांछन या परिचय चिह्नों का पूर्ण कुषाण काल की मूर्तियों में अभाव है। इसलिए प्रत्येक तीर्थंकर की अलग-अलग पहचान करना कठिन है। 'आदिनाथ' या 'ऋषभनाथ' कन्धों पर लहराती हुई बालों की लटाओं के कारण तथा पार्श्वनाथ मस्तक के पीछे दिखाई पड़ने वाले सर्प फण के कारण पहचाने जाते हैं।
- तीर्थकर प्रतिमाएँ दिगम्बर हैं।
- आसनस्थ तीर्थकर बहुधा सिंहासनों पर बैठे दिखलाए गए हैं, जो उनके चक्रवर्तित का बोधक है।
- कुषाण कालीन तीर्थकर मूर्तियों के पीछे अर्धचन्द्रावली या हस्तिनख से सुशोभित किनारे वाला प्रभामण्डल दिखलाई पड़ता है। समकालीन बुद्ध वाया बोधिसत्व प्रतिमाओं में भी इसके दर्शन होते हैं।

कुषाण काल से ही तीर्थकर प्रतिमा का एक और प्रकार चल पड़ा जो चौमुखी मूर्तियाँ 'सर्वतोभद्र' प्रतिमा के नाम से पहचानी जाती हैं। इस प्रकार की मूर्तियों में एक ही केंद्र के चारों ओर चार तीर्थकर प्रतिमाएँ बनी होती हैं। इनमें बहुधा एक 'ऋषभनाथ' व दूसरी 'पार्श्वनाथ' की रहती है। इस प्रकार की चतुर्मुख प्रतिमा बनाने की पद्धति बाद में ब्राह्मण धर्म द्वारा भी अपनायी गयी।

जैन धर्म की देव-देवी प्रतिमाएँ

नेगमेश या हरिनेगमेशी– बकरे के मुख वाले इस देवता का शिशु जगत से संबंध है। यह महत्त्व की बात है कि कुषाण काल के बाद जैन मन्दिरों में इस देवता के स्वतंत्र रूप से स्थापित किये जाने के उदाहरण नहीं मिलते। और न उसकी प्रतिमाओं की बहुलता ही दिखलाई पड़ती है कुषाण कालीन माथुरी प्रतिमाओं में हम उन्हें बहुधा बच्चों से घिरा हुआ पाते हैं।

रेवती या षष्ठी–नेगमेश के समान इस देवी का संबंध भी बच्चों से है। इसका भी मुख बकरे का ही है। मथुरा संग्रहालय में कुछ ऐसी स्त्री मूर्तियाँ हैं जिनकी गोद में पालना है। इसमें एक शिशु भी दिखलाई पड़ता है। इन्हें रेवती या षष्ठी की मूर्तियाँ माना गया है।

सरस्वती–यह जैनों की भी देवी है और ब्राह्मण धर्म की भी देवी है। जैन सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुई है।

कृष्ण बलराम–तीर्थंकर नेमिनाथ के पार्श्ववर्ती देवताओं के रूप में इनका अंकन किया जाता है। कृष्ण चतुर्भुज हैं। बलराम हाथ में मदिरा का चषक लिये हुए हैं। उनके मस्तक पर नागफणं है।

गुप्त काल को जिन प्रतिमाओं के विकास का चौथा चरण माना जाता है। इस काल में मूर्तियों में विभेद रखने का प्रयत्न किया गया। प्रतिमाओं के पृथक लांछन या चिह्न बनाये गये। यह चिह्न प्रतिमा पीठ पर ठीक मध्य में बनाया गया। इस काल में निर्मित जैन तीर्थंकर मूर्तियाँ भी अधिकतर भाव प्रधान हैं। बुद्ध प्रतिमाओं के समान उनके प्रभामण्डल विविध प्रकार से अलंकृत पाए जाते हैं। हथेलियों और पैरों के तलुओं पर धर्मचक्र चिह्न बना रहता है। भौंह के मध्य का चिह्न ऊर्ण (बिंदी जैसा चिह्न) और उष्णीय (साफा) से युक्त जैन मूर्तियों के नमूने भी कम संख्या में मथुरा शैली में मिले हैं।

जिन प्रतिमाओं के विकास के पाँचवे चरण में मूर्तियों के साथ यक्ष-यक्षणियों और सेवक-सेविकाओं को भी दर्शाया जाने लगा। इन्हें शासन देवता भी कहा गया। मूर्तियों के समक्ष गणधर बनाये गये। तीर्थंकरों की मूर्तियों के साथ यक्ष-यक्षणियों की मूर्ति की भी पहचान निश्चित करके उनके नाम दे दिये गये। जैसे महावीर के यक्ष का नाम मातंग और यक्षिणी का नाम सिद्धायिका रखा गया। तीर्थंकरों की रक्षा में रत ये यक्षों के हाथों में अस्त्र-शस्त्र और फल-फूल आदि बनाये गये। समय के साथ-साथ जैनों का देवता-संघ भी बढ़ता गया और उनकी मूर्तियाँ निर्मित होती गई। मथुरा के संग्रहालय में जैनों के एक देवता क्षेत्रपाल की एक प्रतिमा विद्यमान है। यह भैरव का ही एक रूप है। इसी प्रकार जैनों की एक प्रसिद्ध देवी 'चक्रेश्वरी' की एक मूर्ति यहाँ देखी जा सकती है जिसके सभी हाथों में चक्र बने हैं। अन्य देवताओं में सिंहारुढ अम्बिका एवं कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए स्त्री-पुरुष दर्शनीय हैं।

बुद्ध की मूर्तियाँ *(Idols of Buddha)*

महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने बौद्ध धर्म की प्रारंभिक अवस्था में बुद्ध और उनसे संबंधित घटनाओं की अभिव्यक्ति प्रतीकों के द्वारा की है। इसी कारण हीनयान संप्रदाय में प्रतीकों को बहुत महत्त्व है। इन प्रतीकों को साँची, भरहुत, बोधगया और अमरावती में देखा जा सकता है। कालांतर में इन प्रतीकों को पवित्र मान लिया गया। इन प्रतीकों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

1. सिंहासन–बुद्ध का सिंहासन बोधिवृक्ष के नीचे दिखाया जाता है। सिंहासन पर फूलों के ढेर से बुद्ध की उपस्थिति दर्शाई जाती है।
2. बुद्धपद–सिंहासन पर महात्मा बुद्ध के चरण चिह्न प्रदर्शित किये जाते हैं। साँची स्थापत्य में बुद्ध की कपिलवस्तु की यात्रा को उनके चरण चिह्नों से ही प्रकट किया गया है।
3. बोधिवृक्ष–बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था। उनके सिंहासन को बोधिवृक्ष के नीचे दिखाया गया है। साँची में मानव और पशु को समान रूप से बोधिवृक्ष की पूजा करते दिखाया गया है। इस वृक्ष को भगवान बुद्ध को ज्ञानप्राप्ति की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है।
4. चक्रम–भरहुत के स्थापत्य में चक्रम का प्रदर्शन देखा जा सकता है। धर्मचक्र का प्रतीक बुद्ध के प्रथम उपदेश का भी सूचक है।
5. स्तूप–बुद्ध के परिनिर्वाण के संकेत के रूप में स्तूप का प्रयोग किया जाता है।
6. हाथी–बुद्ध की माँ मायादेवी को हाथी जल से स्नान कराते हुये दर्शाया जाता है जो कि बुद्ध के जन्म का प्रतीक है।

बुद्ध की प्रतिमाओं का प्रदर्शन तीन अवस्थाओं में किया जाता है–खड़ी, लेटी और बैठी। बैठी हुई बुद्ध प्रतिमाओं का प्रदर्शन पाँच मुद्राओं में अंकित किया जाता है–ध्यानमुद्रा, अभयमुद्रा, वरदमुद्रा, भूमिस्पर्श मुद्रा और धर्मचक्र प्रवर्तन या व्याख्यान मुद्रा। बुद्ध की खड़ी हुई प्रतिमाओं में दाहिना हाथ अभय या वरद मुद्रा में और बायां हाथ कमर पर रखा रहता है या सीधे नीचे लटका रहता है। बुद्ध की हथेली एवं पैरों पर कुछ शुभ चिह्न अंकित होते हैं। बोधिसत्व की मूर्ति को राजकीय वेशभूषा से अलंकृत किया जाता है।

मथुरा की बुद्ध प्रतिमाओं की विशेषताएँ

मुण्डित मस्तक, ऊपर कपर्द तथा घुमावदार एक लट से शोभित उष्णीष-ऊर्ण या दोनों भौहों के मध्य बना हुआ एक छोटा सावर्तुलाकार चिह्न, विशाल एवं चौड़ी छाती तथा एक, बहुधा बाँया कंध वस्त्र से ढका हुआ। दाहिना हाथ अभयमुद्रा में ऊपर उठा हुआ, बायां हाथ आसनस्थ मूर्तियों में जाँघ पर तथा खड़ी प्रतिमाओं में वस्त्र के छोर को पकड़ कर मुट्ठी बांधे हुए। शरीर में चिपका हुआ तथा बायें कंधे व निचले भाग पर सिकुड़नों से शोभित वस्त्र। कमर में गाँठ पड़ी हुई पट्टी या कायबंधन। पूरी खुली हुई आँखें तथा स्मितयुक्त मुख। आध्यात्मिक भाव दोनों पैरों का समान रूप से सीधे रहना, कभी-कभी उनके बीचोबीच कमल कलियों का गुच्छ, प्रभामण्डल।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

गुप्त कालीन बुद्ध मूर्तियों की विशेषताएँ

कुषाण काल के समान गुप्तों के समय भी मथुरा नगर कला का एक तीर्थ रहा, पर कला का मुख्य केन्द्र होने का सौभाग्य अब सारनाथ (वाराणसी) को मिला। यहाँ चुनार प्रस्तर से कई अमर कृतियाँ निर्मित हुईं। गुप्त कालीन बुद्ध मूर्तियों में अधोलिखित विशेषताएँ अवलोकनीय हैं-

आध्यात्मिक चिन्तन, शान्ति और स्मित के मुख पर स्पष्ट दर्शन, शरीर की संरचना में मृदुता, वस्त्रों का झीना और पारदर्शक होना। वस्त्र में विशेष प्रकार की सिकुंड़न। कुषाण काल की मूर्तियों में बहुधा वस्त्र की सिकुड़नें खोदकर बनाई जाती थीं पर गुप्त काल में ये धारियाँ उभरी हुई रहती हैं। साथ ही वस्त्र हल्के और पारदर्शक भी हैं, और प्रभामण्डल अलंकृत है। कुषाण काल में प्रभामण्डल के किनारे पर प्रायः अर्द्धचन्द्र की पंक्ति बनी रहती थी पर अब इसके साथ-साथ विकसित कमाल, पैत्रावली, पुष्पलता आदि कई अभिप्राय बने रहते हैं। घुंघराले बालों से अलंकृत मस्तक। अब बुद्ध को मुण्डित मस्तक पर घुँघराले बालों की घुमावदार लटों से दिखलाना साधारण प्रथा बन जाती हैं। कुषाण काल में भौंहों के बीच दिखलाई पड़ने वाला ऊर्णा चिह्न अब इनी-गिनी मूर्तियों में दिखलाई पड़ता है। इन मूर्तियों को केवल परिपाटी के पालन का नमूना कहा जा सकता है। साधारणतया ऊर्णा चिह्न अब कुषाण काल के समान आवश्यक नहीं समझा जाता था। अभयमुद्रा दिखलाने वाले हाथ की स्थिति में भी अब परितर्वन होता है। कुषाण मूर्तियों में यह हाथ लगभग कंधे तक ऊँचा उठा रहता है, पर गुप्त युगीन बुद्ध प्रतिमा में वह लगभग समकोण बनाते हुए अधिकाधिक कमर तक ही उठता है। दोनों पैरों के मध्य में दिखलाई पड़ने वाली वस्तुओं का लुप्त होना। कानों की लम्बाई व सारे चेहरे की बनावट तथा हाथों की बनावट में भी अन्तर है। गुप्त कालीन चेहरे की विशेषताएँ पहले वर्णित की जा चुकी हैं। हाथ की विशेषताएँ उसकी उँगलियों में दिखती हैं। कुषाण काल में जहाँ पाँचों उँगलियाँ मिली हुई दिखलाई पड़ती हैं, वहाँ गुप्त काल में वे सम्मुख भाग में एक-दूसरे से पृथक मालूम पड़ती हैं। हथेलियों पर निर्मित किए जाने वाले चिह्न गुप्त काल में कम हो जाते हैं। यहाँ आते-आते सामुद्रिक रेखाएँ तो रहती हैं, पर धर्म चक्र और त्रिरत्न नहीं रहते।

आठवीं शताब्दी के पश्चात् अर्थात् शंकराचार्य के समय में बौद्ध धर्म भारत से लगभग लुप्त हो गया था। इसलिए इन मूर्तियों का न मिलना स्वभाविक ही है।

ब्राह्मण धर्म की मूर्तियाँ *(Idols of Brahmin Religions)*

वैष्णव, शाक्त व शैव संप्रदाय ब्राह्मण धर्म के प्रमुख अंग हैं। गुप्त काल तक पहुँचते-पहुँचते इसमें गणेश उपासकों का भी समावेश हुआ। इस धर्म में विष्णु, दुर्गा, शिव, सूर्य व गणपति की उपासना 'पंच देवोपासना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। कुषाणकाल में ललितविस्तार एवं अन्य ग्रन्थों में ब्राह्मण धर्म के तत्कालीन देवी-देवताओं की मूर्तियों की एक तालिका मिलती है जिसमें शिव, स्कंद, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्म, नारायण, वैश्रवण, कुबेर, शुक्र व लोकपालों की प्रतिमाओं के नाम हैं। कुषाण काल में गणपति की उपासना मूर्ति रूप में अधिक प्रचलित नहीं थी, पर इनके स्थान पर कार्तिकेय व कुबेर अधिक पूजे जाते थे। ब्रह्मा की मूर्तियाँ कम संख्या में मिली हैं। इन सभी देव मूर्तियों के पीछे के हिस्से में या तो प्रतिमा का पृष्ठ भाग अंकित है अथवा वृक्ष बना हुआ है जिस पर गिलहरी, तोता आदि बैठे हुए हैं। गुप्त काल में राजधर्म वैष्णव होने के कारण यह स्वाभाविक था कि इससे संबंधित मूर्तियों का प्रचलन भी रहा हो। गुप्त काल में विष्णु की मूर्तियों की विपुलता है। प्रारम्भिक विष्णु मूर्तियों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में विष्णु प्रतिमा को गढ़ने के लिए पुरानी कुषाण कालीन विष्णुमूर्ति को ही आधार माना गया था, पर साथ ही साथ नवीन तत्वों का भी समावेश तेजी से होने लगा था। उनका सीधा-साधा मुकुट लुप्त होने लगा और उसका स्थान सिंह मुख, मकर, मुक्तक आदि अलंकरणों से युक्त मुकुट ने ले लिया। गले के आभूषण, प्रभामंडल तथा पहनने के वस्त्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। गुप्त काल से ही प्रारम्भ होने वाली एक दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता विष्णु की अस्त्र-शस्त्र धारित मूर्तियाँ हैं। इस काल में चार आयुधों के साथ खड़े विष्णु के अलावा त्रिविक्रम और नृसिंह-वाराह-विष्णु की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नृसिंह-वाराह-विष्णु की प्रतिमा में तीन मुख होते हैं। इनमें बीच का पुरुष तथा अगल-बगल के मुख वराह और सिंह के होते हैं। चतुर्भुज विष्णु की प्रतिमाएँ हाथों की डॉल की दृष्टि से सम्कालीन यक्ष और बोधिसत्व प्रतिमाओं से मिलती-जुलती हैं। इनके चार हाथ हैं, पर तीन में गदा, चक्र व छोटा सा जलपात्र या शंख है और चौथा अभय मुद्रा में कंधे तक उठा हुआ है। गदा का आकार मुगदर जैसा है। बुद्ध और बोधिसत्वों की समकालीन प्रतिमाओं में दिखलाई पड़ने वाला ऊर्णा चिह्न भी मिलता है। विष्णु के अवतारों से संबंधित मूर्तियाँ इस काल में बहुत कम बनीं। उनमें दो प्रकार की 'गरुड़ारुढ़ विष्णु' और 'अष्टभुज विष्णु' की मूर्तियों का निर्माण कुषाण काल से प्रारम्भ हो गया था। मथुरा कला की वैष्णव प्रतिमाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण मूर्ति आसनस्थ चतुर्भुज विष्णु की है। इस काल में खड़े या शेष नाग पर लेटे हुए विष्णु की प्रतिमाएँ साधारण रूप से बनी हैं। अन्य प्रकार की विष्णु मूर्तियों में ब्रह्मा, शिव, आयुध पुरुष, श्री देवी व भू देवी, नवग्रह, दस अवतार आदि अनेक छोटी मूर्तियाँ आस-पास बनी दिखलाई पड़ती हैं। विष्णु के वक्षस्थल पर दिखलाई पड़ने वाला चतुर्दल कुस्तुभ है जो मथुरा की कुषाण और गुप्त कालीन कला में अदृश्य था। अन्य प्रकार की वैष्णव मूर्तियों में शेषशायी विष्णु, वामन अवतार की मूर्तियाँ मुख्य हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

गुप्तकालीन ब्राह्मण धर्म की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बेहद उत्कृष्ट मानी जाती हैं। इनमें कुछ मूर्तियों का वर्णन इस प्रकार है-

नागराज की प्रतिमा–अजंता की 19वीं गुफा से मिली 'नागराज' की प्रतिमा चर्चित प्रतिमाओं में से एक है। इसमें नागराज की प्रतिमा के पीछे कई नागों के फनों का समूह है। उनके साथ उनकी रानी और चंवर हिलाती हुई दासी की भी प्रतिमा बनायीं गयी हैं। शिला पर आसीन नागराज का एक पैर ऊपर मुड़ा हुआ तथा दूसरा पैरा लटका हुआ है। ऊपर वाले पैर पर उनका एक हाथ टिका हुआ है। नागराज के माथे पर मुकुट और कंधे पर मोतियों से बना यज्ञोपवीत है। रानी के हाथ में कमल का फूल बनाया गया है।

शेषशायी विष्णु– गुप्तकाल में निर्मित देवगढ़ के दशावतार विष्णु मंदिर से शेषशायी (शेषनाग सर्प के शरीर की शैय्या) विष्णु की प्रतिमा मिली है। विष्णु की नाभि से निकलते कमल पर ब्रह्मा को बैठे दिखाया गया है। लक्ष्मी विष्णु के पैर दबा रही हैं। ऊपर आकाश में कार्तिकेय: इंद्र, ब्रह्मा, शिव-पार्वती आदि देवगण बनाये गये हैं। लक्ष्मी के पास योगी रूप में शिव खड़े हुये दिखाये गये हैं। विष्णु की शैया के नीचे पाँच पुरुष और एक स्त्री बनाई गयी है जो कि संभवतया पाँच पांडव और द्रौपदी हैं या फिर विष्णु के अनुचर हैं। देवगढ़ में ही एक दूसरी दीवार पर नर-नारायण की तपस्या का दृश्य उकेरा गया है। इसमें तपोवन के वातावरण को सुंदर ढंग से उकेरा गया है और तपस्वी पारलौकिक जगत के पुरुष के समान दिखाये गये हैं। तीसरी ओर गजेंद्र मोक्ष का दृश्य उकेरा गया है।

गोवर्धनधारी कृष्ण– काशी से मिली इस मूर्ति में कृष्ण को बहुत ओजपूर्ण मुद्रा में बनाया गया है। उन्होंने सहज भाव से गोवर्धन पर्वत को धारण किया हुआ है। इसमें कृष्ण अत्यंत दृढ़ता से खड़े हैं। इसके अलावा पहाड़पुर (बंगाल) से कृष्णलीला से संबंधित अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें भी गुप्त कालीन सुंदरता, सजीवता दिखती है। इनमें राधाकृष्ण की प्रेमलीला और धेनुकवध दो विशिष्ट उदाहरण हैं।

चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति– मथुरा से मिली इस मूर्ति में विष्णु ध्यान मुद्रा में हैं। उन्हें चतुर्भुजी बनाया गया है लेकिन उनके सभी हाथ कोहनी से भग्न हो गये हैं। उनके सिर पर अलंकृत मुकुट, गले में मोतियों की माला, अलंकृत यज्ञोपवीत, कानों में कुंडल और बाहों में भुजबंद है। उनकी लहरदार धोती एक मोटे कमरबंद से बंधी है। मूर्ति के ऊपर एक पूर्ण खिला हुआ कमल का बूटेदार छत्र भी बनाया गया है। यह प्रतिमा गुप्तकाल की सर्वश्रेष्ठ प्रतिमाओं में मानी जाती है।

विष्णु के अलावा शिव मूर्तियाँ भी पर्याप्त संख्या में मिलती हैं। शिव की लिंग-रुप और मानव-रुप दोनों प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं। इनकी प्रथम महत्त्वपूर्ण विशेषता शिव का तीसरा नेत्र है। शिवलिंगों में साधारण लिंगों के अतिरिक्त एकमुखी, द्विमुखी, चतुर्मुखी और पंचमुखी लिंग भी मिलते हैं। शिव की मूर्तियों में अर्द्धनारीश्वर व आलिंगन मुद्रा में शिव और पार्वती की प्रतिमाएँ अधिक मिलती हैं। अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति भारत की महान उपलब्धि मानी जाती है। पूजन हेतु शिव की पुरुष आकार प्रतिमा तथा लिंग दोनों बनाये गये। शिवलिंग के समान शिव की पुरुषाकार प्रतिमाएँ भी लोकप्रिय हो रही थीं। एकमुखी शिवलिंग में केवल मुखमण्डल और जटा दिखाई पड़ता है। शिव का तीसरा नेत्र भी दिखाया जाता है। लोकेश्वर शिव नामक प्रतिमा में लोकेश्वर शिव का मस्तक ही सुरक्षित बचा है। इसमें शिव की जटाओं को इस प्रकार बांधा गया है जैसा जापान और चीन की भारत से प्रभावित मूर्तियों में पाया जाता है। इसमें शिव को प्रसन्न मुखाकृति में बनाया गया है।

देवी की मूर्तियों में मुख्यत: लक्ष्मी, महिषासुर मर्दिनी दुर्गा व मातृकाओं की गणना की जा सकती है। इनके अतिरिक्त 'हारिति' व 'वसुधार' की प्रतिमाएँ भी मिलती हैं। लक्ष्मी और गजलक्ष्मी तो भरहुत और साँची से ही चली आ रही थी। ब्राह्मण धर्म के अलावा बौद्धों में भी लक्ष्मी की प्रतिमा मिलती है। हमें लक्ष्मी के तीन रूप प्राप्त होते है- 1. एक हाथ में कमल धारण करने वाली आसनस्थ लक्ष्मी। यह बहुधा त्रिभुज होती है। 2. उसी प्रकार की खड़ी प्रतिमा। 3. एक हाथ में कमल लिये खड़ी गजलक्ष्मी। 4. पूर्ण कुम्भ से उद्भूत होने वाली श्रीपर्णीलता या कमल लता के बीच खड़ी मातृत्व का संकेत करने वाली श्रीदेवी। दुर्गा के रूप में यहाँ केवल चतुर्भुज दुर्गा का रूप मिलता है। उसके ऊपरी हाथों में तलवार और दल है, निचले दायें हाथ में त्रिशूल है और बायें हाथ से वह महिष को दबा रही है। असुर भी पशुरुप ही हैं, मानव-पशु के रूप में नहीं। दुर्गा के आठ हाथ और अठारह हाथ वाले रुप उत्तर काल में बने, कुषाण काल में वे नहीं दिखलाई पड़ते। कुषाण काल में मातृकाओं की पर्याप्त उपस्थिति थी। कुषाण कालीन जो मादकापटट मिला है, उस पर अंकित देवियाँ मानव मुखों से नहीं अपितु पशु-पक्षियों के मुखों से युक्त हैं और प्रत्येक की गोद में एक शिशु है। अन्य देवियों में देवी हारीति का स्थान मुख्य है वे बच्चों से घिरी हुई अकेली अथवा कुबेर के साथ दिखलाई पड़ती हैं।

सूर्य की मूर्तियों का निर्माण दो प्रकार का मिलता है। पहला वृत्ताकार एवं किनारों पर किरणों से युक्त और दूसरा मानव रूप में। सूर्य की कुषाण काल से पूर्व की मानवाकार मूर्ति बोध गया से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति रथ पर आरुढ़ मानव की है। सूर्य का यह रूप ज्यादा लोकप्रिय नहीं हुआ कुषाण कालीन सूर्य मूर्तियाँ लम्बा कोट, चुस्त पाजामा और ऊँचे बूट पहने हुए अथवा 'उदीच्य' वेश से युक्त हैं। सूर्य की मूर्तियाँ शिल्प संबंधी ग्रंथों में वर्णन के अनुसार बनाई गई। विश्वकर्म शिल्प के अनुसार सूर्य के एक चक्र के रथ को सात अश्व खींचते हैं। सीधे केश, कुंडल और कवच से युक्त सूर्य के हाथों में कमल के फूल हसेते हैं। आभामंडल से युक्त मुख वाले शरीर पर रत्न एवं स्वर्णाभूषण अंकित होते हैं। उनके दाहिनी ओर सहभागिनी निक्षुमा और बाईं ओर राज्ञी होती हैं। एक अन्य ग्रंथ अंशुभद्भेदागम के अनुसार सूर्य के दाहिनी ओर ऊषा तथा बायीं ओर प्रत्युषा को बनाया जाना चाहिये। इसके अलावा बाईं ओर दंड और दाहिनी ओर श्यामवर्ण पिंगल बनाये जाना चाहिये।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

पौराणिक ग्रंथ सूर्य मंदिरों में 'नवग्रहों' की स्थापना के बारे में निर्देश देते हैं। इसके अनुसार पूर्व में सोम, दक्षिण-पूर्व में भौम (मंगल), दक्षिण में वृहस्पति, दक्षिण-पश्चिम में राहु, पश्चिम में शुक्र, उत्तर-पश्चिम में केतु, उत्तर में बुद्ध और उत्तर-पूर्व में शनि। इसका पालन करते हुये कोणार्क के सूर्य मंदिर में पूर्वी द्वार पर नौ ग्रहों की प्रतिमाएँ बनाई गई थीं। मंदिर के दक्षिण, पश्चिमी और उत्तरी कोने पर जो सूर्य प्रतिमाएँ हैं उनमें सूर्योदय, मध्यान्ह सूर्य और अस्त होते हुये सूर्य का प्रदर्शन भी किया गया है।

मूर्तियों के अतिरिक्त 'कार्तिकेय', 'कुबेर', 'इन्द्र' व अग्नि मूर्तियाँ भी कुषाण काल में बनीं। अन्य देवताओं के समान इन देवताओं के ध्यान (लांछन) कुषाण काल में बड़े ही सीधे-सादे थे। कार्तिकेय का मुख्य चिह्न था शक्ति या भाला। एक मुखद्विभुजशक्तिधर कुमार कार्तिकेय की सुन्दर प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में है जो शक संवत 11 अथवा ई. सन 89 में बनी थी कुबेर की मूर्तियों का मथुरा में वैपुल्य है। मोटे पेट वाले स्थूलकाय धन के देवता कुबेर देखते ही बनते हैं। कभी वे पालथी मार कर सुख से स्मित करते हुए बैठे दिखलाई पड़ते हैं, कभी मदिरा का चषक हाथ में लिए रहते हैं और कभी लक्ष्मी और हारीति के साथ रहते हैं।

अग्नि की मुख्य पहचान उनकी तुंजडिल तनु, यज्ञोपवीत, जटाभार, व पीछे दिखलाई पड़ने वाली ज्वालाएँ हैं। इनके विशेष आयुध, वाहन मेष आदि बातें कुषाण कालीन मूर्तियों में दिखलाई नहीं पड़तीं।

इन प्रमुख देवी-देवताओं के अतिरिक्त माथुरा कला में नाग व नाग स्त्रियों की प्रतिमाएँ भी अच्छी संख्या में मिलती हैं। कुषाण काल में यहाँ पर 'दधिकर्ण नाग' का मन्दिर विद्यमान था। इस नाग का रेखांकित प्रतीक यहाँ से प्राप्त हुआ है। नाग प्रतिमाओं में अन्य नागों के अतिरिक्त बलराम की मूर्तियों को भी गिनना होगा। पुराणों के अनुसार बलराम शेषावतार थे। उनके हल और मूसल को धारण करने वाली एक शुंग कालीन मूर्ति मथुरा में पाई गई है। कुषाण कालीन बलराम की मूर्तियों में वे हाथ में मद का प्याला लिए दिखलाई पड़ते हैं। गले में वनमाला पड़ी रहती है, पीछे सर्प का फण बना रहता है।

साधारणतया यहाँ नाग की प्रतिमाएँ मनुष्याकार ही होतीं हैं। मस्तक के ऊपर सर्पफण बना रहती है। हाथ में बहुधा छोटा-सा जलकुम्भ रहता है। नाग स्त्रियों की मूर्तियाँ भी लगभग ऐसी ही होती हैं। एक विशेष मूर्ति ऐसी भी मिली है, जिसमें एक नाग रानी के कंधे से पाँच अन्य नाग शक्तियाँ उद्‌भूत होती हुई दिखलाई गई हैं।

अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियों में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य निम्नांकित प्रतिमाएँ हैं-नृत्यरत गणेश, आलिंगन मुद्रा में सपत्नीक गणेश, देव सेनापति कार्तिकेय का ब्रह्मा व शिव द्वारा अभिषेक, अग्नि जिसमें उसके वाहन मेष को पुरुष रूप में दिखलाया गया है। हनुमान, कुबेर और गणेश के साथ लक्ष्मी, शिवलिंग और गणेश से युक्त तपस्या में लीन पार्वती, तीन पैरों वाले भृंगी ऋषि, महिषासुरमर्दिनी, वीरभद्र और गणेश के मध्य सप्त मातृकाएँ, उषा व प्रत्यूषा के साथ रथ पर बैठे सूर्य दण्ड पिंगल के साथ खड़े सूर्य आदि।

चालुक्य मूर्तिकला *(Chalukya Sculpture)*

चालुक्य कालीन मूर्तिकला के चार प्रमुख केंद्र बादामी, ऐहोल, पट्टडकल और महाकूट हैं। चालुक्य मूर्तियाँ बलिष्ठ और विशालकाय हैं तथा अंग-प्रत्यंग समानुपातिक हैं। इन मूर्तियों की शरीर संरचना में एक लयात्मकता देखी जा सकती है।

बादामी की आकृतियों में दोहरे चिबुक, चौड़े कंधे और गोल चेहरे बनाये गये हैं। पुरुष आकृतियों की अपेक्षा नारी आकृतियों की लंबाई कुछ अधिक रखी गई है। कम महत्त्व वाली मूर्तियाँ जैसे गंधर्व, नाग और मिथुन आकृतियाँ छोटी, इकहरे शरीर वाली, हल्की मगर ऊर्जावान और गत्यात्मक हैं। बादामी की महिषासुर मर्दिनी प्रतिमा में देवी दुर्गा को महिष देहधारी असुर को पूंछ से पकड़ कर उस पर त्रिशूल से प्रहार करते दिखाया गया है। दो हाथों में शंख और चक्र धारण करने वाली यह मूर्ति देवी की शक्ति का आभास कराती है। बादामी में मिली नटराज की 18 हाथों की मूर्ति भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसमें कुछ हाथों को नृत्य की मुद्रा में जबकि अन्य हाथों में त्रिशूल, सर्प आदि को अंकित किया गया है। यहाँ मिली हरिहर की मूर्ति में शिव और विष्णु को एक साथ दिखाया गया है। इस कारण मूर्ति के दोनों भागों में केशसज्जा, शरीर के अंग और आयुध अलग-अलग बनाये गये हैं। इनके पार्श्व में नंदी और गरुड़ वाहनों को बनाया गया है और लक्ष्मी एवं पार्वती की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। मूर्ति के निचले हिस्से में गणों को अंकित किया गया है। बादामी में विष्णु के त्रिविक्रम स्वरूप की मूर्ति को भी विशेष प्रशंसा मिली है। आठ भुजाओं वाली इस प्रतिमा में विष्णु के हाथों में चक्र, गदा, धनुष, बाण, तलवार आदि बनाये गये हैं। विष्णु का दायां पैर पृथ्वी पर एवं बायां पैर ब्रह्माण्ड को नापने की मुद्रा में है। पृथ्वी के पास चंद्रमा बनाकर व्यापकता को दर्शाने का प्रयास किया गया है। इस मूर्ति के बायीं ओर वामन-बली की कथा भी चित्रित की गई है। मूर्ति के पृष्ठ पर शिवगणों का अंकन किया गया है। इसके अलावा यहाँ से वराह अवतार, वैकुंठ नारायण विष्णु की भी प्रशंसनीय प्रतिमाएँ मिली हैं।

पट्टडकल की मूर्तियाँ चालुक्य शिल्प के उत्कर्ष का उदाहरण हैं। ये मूर्तियाँ शांत, संतुलित, ऊर्जा से युक्त, जीवंत और भव्य हैं। इन मूर्तियों में स्वच्छंद गतिशीलता का गुण चालुक्य काल की मूर्तियों का विशेष गुण माना जाता है। आगे चलकर चालुक्य कालीन मूर्तियों में शिल्प ग्रंथों में मौजूद लक्षणों की प्रधानता दिखने लगी जिससे उनमें यांत्रिकता का समावेश आने लगा और भावों की अभिव्यक्ति कमजोर होने लगी। इसके कारण मूर्ति स्वरूप की कल्पना में गिरावट आई और प्रत्येक छोटे स्थान में भी मूर्ति बनाने

Copyright– Drishti The Vision Foundation

का प्रयास होने लगा। पट्टडकल से मिली त्रिपुरांतक और अंधकारि मूर्तियों को विशेष प्रशंसा मिली है। पट्टडकल में रावण द्वारा कैलाश पर्वत उठाने वाले मूर्तिशिल्प में शिव और पार्वती बहुत छोटे जबकि रावण को दस भुजाओं के माध्यम से शक्तिशाली दिखाया गया है। इसके अलावा विरूपाक्ष मंदिर में प्रेमी युगल और द्वारपाल की मूर्ति, छत पर बने सूर्य और मल्लयुद्ध रत दो आकृतियाँ और मलिल्कार्जुन मंदिर में खंभों में बने बौनों का शिल्प दर्शनीय है।

एहोल की मूर्तियों में आलंकारिक अंकनों में विशेष कुशलता दिखाई देती है। उनमें लयात्मकता ने उच्च स्तर को छुआ है। शरीर रचना भी हल्की, पतली और लंबी नजर आती है। धोती एवं अन्य वस्त्रों पर गहरी धारी दिखती है। एहोल में बना दुर्गा मंदिर चालुक्य मूर्तिशिल्प का महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है। इसके अलावा रावण-फाड़ी गुफा की छत पर उत्कीर्ण गंधर्व-युगल के बेहद आकर्षक चित्रण के साथ-साथ नटराज-शिव, महिषासुर मर्दिनी के दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। नटराज शिव की इस दस हाथ वाली मूर्ति में प्रत्येक हाथ भिन्न मुद्रा में अंकित होता है। इसमें शिव के शरीर से लिपटे हुये नागों को दर्शाया गया है। उनके पैरों के पास गणेश और कार्तिकेय की छोटी मूर्तियाँ बनाई गई हैं। महिषासुर मर्दिनी प्रतिमा में अष्टभुजाधारी दुर्गा के महिषासुर नामक राक्षस से संहार का दृश्य अंकित है। दुर्गा मंदिर में ही गर्भगृह की अर्द्धवृत्ताकार प्रदक्षिणापथ की बाहरी दीवार पर शिव का वृषवाहन रूप उत्कीर्ण किया गया है। शिव ने इसमें दो हाथों से वृष को थाम कर अपना भार उस पर डाल दिया है। इस प्रतिमा के साथ एक बौना भी बनाया गया है। संभवतया इससे शिव की विशालता और महानता का आभास देने का प्रयास किया गया है।

महाकूट के महाकूटेश्वर मंदिर में अर्द्धनारीश्वर 'लकुलीश' और 'हरिहर' की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें लयात्मकता और गतिशीलता को देखा जा सकता है। इसके अलावा विष्णुकुंड, अर्द्धनारीश्वर, वराह अवतार की मूर्तियाँ भी सराही गई हैं।

राष्ट्रकूट मूर्तिशिल्प (*Rastrakuta Sculpture*)

राष्ट्रकूटों के काल में मुख्यतः एलोरा, एलीफेंटा और कन्हेरी में मूर्तिशिल्प का काम हुआ है। एलोरा या वेरुल और एलीफेंटा में शिव के विविध रूपों का विस्तारपूर्वक अंकन हुआ है। एलोरा में शिव, विष्णु, शक्ति और सूर्य की मूर्तियों के उदाहरण जबकि कन्हेरी में बौद्ध शिल्प के उदाहरण मिलते हैं।

एलोरा के शिल्प की शैली को गुप्त परंपरा का ही विस्तार माना जाता है। इसमें विशाल पृष्ठभूमि पर विशाल आकृतियों का निर्माण किया गया है। इन मूर्तियों में एकरसता दिखती है। यहाँ की मूर्तियों का ओज कथावस्तु के उपयुक्त है लेकिन उसमें सजीवता नहीं दिखती। इनमें बड़ी-बड़ी घटनाओं को अंकित किया गया है जिसमें स्थान की कमी है। कथा अंकन में केंद्रीय तत्व का ध्यान रखा गया। मूर्तियाँ चट्टानों को काटकर उन्हें उभारकर बनायी गयी हैं। उनके मुख गोल हैं और आँखों की बनावट में कल्पनाशीलता मिलती है। शरीर में बनावट में कौशल दिखता है। मूर्तियों को वस्त्र कम लेकिन आभूषण अधिक पहनाये गये हैं। एलोरा की सभी गुफाओं के बाहर अधिकांश 'द्वारपाल' या 'गंगा एवं यमुना' की मूर्तियाँ बनायी गई हैं।

एलोरा की शिल्प शैली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण राष्ट्रकूट राजा कृष्ण I के समय में बना 'कैलाश मंदिर' है। यह दो मंजिला विशाल मंदिर एक ही चट्टान को काट कर बनाया गया है। इस एक ही चट्टान में मंदिर के द्वार, खिड़कियाँ, खंभे, विशाल दीप स्तंभ और सीढ़ियाँ आदि भी बनायी गई हैं। इस मंदिर में शैव धर्म से संबंधित शिल्प के अलावा अन्य धर्मों वैष्णव और शाक्त के शिल्प भी मिलते हैं। इनकी दीवारों पर रामायण महाभारत संबंधित कथाओं को भी उकेरा गया है। मंदिर में बनी 'गजलक्ष्मी', महिषासुर मर्दिनी दुर्गा, रति व कामदेव, कामान्तक महायोगी शिव के अलावा रावणानुग्रह, त्रिपुर-दाह, यमान्तक, भैरव, कल्याण सुंदर (शिव-पार्वती विवाह), त्रिविक्रम, नरसिंह आदि की मूर्तियाँ भी बनाई गई हैं। एलोरा में बौद्ध धर्म से संबंधित 12 गुफाएँ हैं जिनमें बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ उकेरी गई हैं। इनमें पद्मपाणि की विशाल प्रतिमा और वज्रपाणि की मूर्ति भी शामिल है। एलोरा की गुफा संख्या 30 से 34 तक जैन धर्म से संबंधित हैं। ये अधिकतर जैन धर्म की दिगम्बर शाखा से संबंधित हैं। इनका निर्माण अमोघवर्ष के काल में हुआ। इनकी दीवारों पर पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी और बाहुबली गोमतेश्वर की मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं। यक्षिणियों में अंबिका और सर्वानुभूति यक्ष की मूर्तियाँ सर्वाधिक बनाई गई ~~हैं। इनके~~ अ~~लावा चक्रेश्वरी~~, पद्मावती और सिद्धायिका यक्षिणियों की भी मूर्तियाँ मिली हैं। जैन गुफाओं में इंद्रसभा, जगन्नाथ सभा और छोटा कैलाश हैं जिनमें इंद्रसभा की मूर्तिकला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

एलीफैंटा या धारापुरी में शैवधर्म से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण शिल्प मिलते हैं। एलोरा के गुफा मंदिरों की तरह इनका निर्माण भी चट्टानों को काट कर किया गया है। ये शिल्प आकार में बहुत बड़े हैं। गुफा मंदिरों के बीच में सीधी पंक्तियों के रूप में काटे गये स्तंभ पूर्ण गोलाकार और अलंकरणों से युक्त हैं। यहाँ की शिल्पाकृतियाँ पतली नहीं बनाकर कुछ मांसल बनाई गई हैं। मूर्ति के शरीर के अंगों को गोलाकार रखने का प्रयास करते हुये अंग-विन्यास में संतुलन रखा गया है। यहाँ के शिल्प की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक यह है कि यहाँ की प्रत्येक आकृति में निचला होठ थोड़ा मोटा और आगे की ओर निकला हुआ बनाया गया है। स्त्री आकृतियाँ कोमल रखते हुये उनके कमर के नीचे का भाग वस्त्र एवं आभूषणों से ढका हुआ लेकिन ऊपरी भाग वस्त्ररहित बनाया गया है। गले में मोतियों की माला और यज्ञोपवीत पहनाया गया है। पुरुष आकृतियों के नीचे के भाग में एक छोटा वस्त्र और

Copyright– Drishti The Vision Foundation

ऊपरी भाग में मालाएँ एवं यज्ञोपवीत पहनाये गये हैं। मूर्तियों में वक्षस्थल विस्तृत, लंबे कान और अतिशय नाटकीयता से भावों को व्यक्त किया गया है। एलीफैंटा का सबसे प्रमुख शिल्प उदाहरण शिव की प्रकांड त्रिमूर्ति है। यह शिव के तीन रूप दर्शाते हैं–संहारक, पालक और स्त्री (अर्द्धनारीश्वर)। इन तीनों मुखों पर भिन्न भावों की अभिव्यक्ति की गई है। इनके मस्तक पर विशाल जटाओं के मुकुट हैं जिनकी लटें बहुत कौशल से बनाई गई हैं। मूर्ति के आभूषणों को भी अलंकृत तरीके से बनाया गया है। इसके अलावा शिव-तांडव नृत्य मूर्ति, लकुलीश मूर्ति, गंगाधर शिव, असुरविनाश, पार्वती विवाह, रावण द्वारा क्षमायाचना; अर्द्ध-नारीश्वर मूर्तियों का शिल्प भी विशेष रूप से सराहनीय है।

कन्हेरी *(Kanheri)*

ठाणे (महाराष्ट्र) में स्थित कन्हेरी गुफाओं में उत्कीर्ण बौद्ध प्रतिमाएँ मिलती हैं। इनमें गुफा संख्या 14 में 11 मुखों वाली अवलोकितेश्वर प्रतिमा और अन्य गुफा में विशाल अवलोकितेश्वर प्रतिमा दर्शनीय हैं। इस युग की बौद्धकला में 'तंत्र' के विशेष प्रभाव के कारण सहायक देवताओं की संख्या में वृद्धि हो गई। कन्हेरी में बौद्ध प्रतिमाओं के अलावा मानव की लघु आकृतियाँ अधिक उल्लेखनीय हैं। इन मूर्तियों में आलंकारिक सज्जा का सौंदर्य प्रशंसनीय बन पड़ा है।

पल्लवकालीन मूर्तिशिल्प *(Sculpture of Pallava Period)*

पल्लवशिल्प कला के विषय वैष्णव धर्म से संबंधित हैं और उनमें भी 'महाभारत' और पुराणों की कथाओं से सम्बद्ध शिल्प सामग्री विशेष रूप से मिलती है। पल्लव मूर्तिशिल्प की मुख्य विशेषता आकृतियों का अतिशय लंबा और पतला होना है। गुप्तकाल की तुलना में पल्लवकाल की मूर्तियों के मुख अधिक अंडाकार और लम्बे माने गये हैं। इनकी यही विशेषता इन्हें एलीफेंटा और एलोरा की मूर्तिकला से भिन्नता प्रदान करती है। इस शिल्प में मानव और देव मूर्तियों को समान रूप से भव्यता प्रदान की गई है और पशु आकृतियों का जीवंत किस्म का अंकन किया गया है।

महाबलीपुरम के रथों में पल्लव मूर्तिकला के कुछ बेहतरीन उदाहरण हैं। द्रौपदी रथ में दो स्त्री द्वारपालों की दंडधारी मूर्तियाँ हैं। धर्मराज रथ के शिखर पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव की चतुर्भुज मूर्तियों के अलावा अर्द्धनारीश्वर, सोमस्कंद, नरसिंह, त्रिविक्रम अवतारों की मूर्तियाँ हैं। इसमें नरसिंह वर्मन (प्रथम) की आकृति भी उत्कीर्ण है। त्रिमूर्ति मंडप के गर्भगृह में गुरुमूर्ति शिव और विष्णु की मूर्तियाँ हैं। वराह मंडप में सिंह विष्णु और महेंद्र वर्मन की सपत्नीक मूर्तियाँ हैं। इसके अलावा त्रिविक्रम, नृवराह, गजलक्ष्मी की मूर्तियाँ भी विशेष उल्लेखनीय हैं। पल्लवकालीन मूर्ति शिल्प में दुर्गा द्वारा महिषासुर के संहार का दृश्य न केवल इस युग का बल्कि सम्पूर्ण मूर्तिकला के श्रेष्ठतम उदाहरणों में से एक है। इसमें सिंह पर सवार अष्टभुजाधारी देवी को महिषासुर के शिर संधान की मुद्रा में आकाश से अत्यंत उग्र रूप में राक्षस के साथ युद्धरत दिखाया गया है। इसमें असाधारण गतिशीलता के दर्शन होते हैं। महिषासुर का सिर भैंसे के जैसा बनाया गया है लेकिन शेष शरीर मानव रूप है। दुर्गा प्रतिमा का रौद्र रूप होते हुये भी यह नारी सौंदर्य से परिपूर्ण है। अर्जुन का रथ नामक मंदिर की दीवार पर दो रानियाँ, बायीं ओर एक रक्षक, हाथी पर सवार महावत को उत्कीर्ण किया गया है। इन नारियों को अभिजात्य मुद्रा में बनाया गया है। महाबलीपुरम के इन गुफा मंदिरों के अलावा एक विशाल चट्टान को काटकर 'भगीरथ की तपस्या' का दृश्य अंकित किया गया है। इस दृश्य के प्रत्येक अंकन को बहुत भावपूर्णता के साथ बनाया गया है। इनके अतिरिक्त बंदर परिवार, गंगावतरण और हाथियों के शिल्प को बहुत सराहना मिली है।

ओडिशा (कलिंग) का मूर्तिशिल्प *[Sculpture of Odisha (Kalinga)]*

ओडिशा भारतीय वास्तुकला और मूर्तिशिल्प का महत्त्वपूर्ण केंद्र रहा है। इसमें पुरी, कोणार्क और भुवनेश्वर के शिल्प को शामिल किया गया है। ओडिशा में अनेक स्थानों पर मंदिर बनाये गये। इनमें प्रयुक्त शैली को श्रृंगार-प्रधान शैली भी कहा गया है। इस शैली के प्रमुख मंदिरों में पुरी का जगन्नाथ, भुवनेश्वर का लिंगराज, और कोणार्क का सूर्य मंदिर प्रसिद्ध है और उनकी मूर्तियाँ शिल्प की दृष्टि से विशेष स्थान रखती हैं। इन मंदिरों में रामायण, महाभारत और कृष्णलीला से संबंधित अनेक दृश्यों का अंकन दिखता है। पुरी का प्रसिद्ध जगन्नाथ मंदिर (1085-90 ई.) भगवान विष्णु को समर्पित है। इसमें भगवान जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की विशाल मूर्तियों के अलावा शिव-पार्वती, ब्रह्मा-सावित्री और विष्णु-लक्ष्मी की भी मूर्तियाँ बनाई गई हैं। मंदिर में रामायण, महाभारत और कृष्णलीला के साथ-साथ मानवीय भावनाओं से युक्त मूर्ति शिल्प, शालभंजिका एवं अप्सराओं की मूर्तियाँ बनी हैं। इन मूर्तियों का जीवंत अंकन इन मूर्तियों की बड़ी विशेषता मानी गई है। इस विशाल मंदिर की दीवारें, स्तंभों और शिखरों पर अनेक यौन दृश्य भी अंकित किये गये हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

कोणार्क के सूर्य मंदिर गंग शासक नरसिंह देव (1238-64 ई.) के शासनकाल में बने। कोणार्क का आशय है–सूर्य का कोना। इसे ब्लैक पैगोडा भी कहा गया है। इसका निर्माण कार्य शिल्पाचार्य सदाशिव सामंतराय महापात्र की देखरेख में हुआ था। यह मंदिर 'सप्ताश्व-रथ' के आकार में बनाया गया। इसमें सूर्य के रथ को सात जीवंत अश्व खींच रहे हैं और रथ के दोनों ओर बारह-बारह विराट पहिये भी बनाये गये हैं। यानी ये 24 पहिये प्रति महीने आने वाले शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष का और सात अश्व प्रत्येक दिन का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये मंदिर शिल्पकला की अदभुत कारीगरी का प्रतिनिधित्व करते हैं। सप्ताश्व-रथ के साथ उषा-प्रत्यूषा, दंड, पिंगल, गंधर्व तथा अन्य आकृतियाँ भी बनाई गई हैं। सूर्य प्रतिमा में सूर्य के मुख का मंद हास्य भाव विशेष रूप से सराहा गया है। सूर्य के अलावा सूर्य के साथी अरुण, ज्योतिष, नवग्रह, युद्ध, दरबार, मनुष्य की काम-क्रीड़ा सहित अन्य कार्यकलाप, पशु आकृतियाँ, नृत्य एवं गायन से संबंधित मूर्तियाँ और विभिन्न हिस्सों पर राजा नरसिंह वर्मन से संबंधित 24 दृश्यों को उत्कीर्ण किया गया है। भुवनेश्वर को मंदिरों की नगरी भी कहा जाता है। यहाँ के मंदिरों में लिंगराज मंदिर (1100 ई.), मुक्तेश्वर (950 ई.), राजारानी (11वीं सदी), मेघेश्वर, केदारेश्वर और अनंत वासुदेव प्रमुख हैं। लिंगराज मंदिर पूर्वी भारत के मंदिरों में श्रेष्ठतम और विशालतम है। तीन तोरणद्वार वाले इस मंदिर की दीवारों पर सूर्य, गणेश, कार्तिकेय, ब्रह्मा, अर्द्धनारीश्वर की मूर्तियों के अलावा रामायण महाभारत के दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। इनमें 'पांडवों का स्वर्गारोहण' को अत्यंत ही उत्कृष्ट कलाकृति कहा गया है। इस मंदिर में 'प्रेमपत्र लिखती नारी की मूर्ति को भी प्रशंसा मिली है। इस मूर्ति के अंग-प्रत्यंग का लालित्य, अलंकरण, केश-विन्यास आदि विशेष रूप से दर्शनीय है। इसी तरह का एक अन्य शिल्प 'माता-शिशु' का है। इनके अतिरिक्त देवताओं, शृंगाररत नारियाँ, काम क्रीड़ा के दृश्य, नृत्य करती सुंदरियाँ भी उल्लेखनीय हैं। मुक्तेश्वर मंदिर की चाहरदीवारी और प्रवेश द्वार बेहद अलंकृत हैं और मकर द्वार तोरण इसकी विशेषता है। यहाँ के शिल्प में नटराज, गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी, गज-लक्ष्मी दुर्गा, नवग्रह, बुद्ध और जैन मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। मंदिर की दीवार पर वानर परिवार, नाग-नागिन तथ सुर-सुंदरियों का आकर्षक अंकन मिलता है। इसमें नारी संगीतकारों का सजीव चित्रण, फूल-पत्तियों का अलंकरण, साधुओं का शिल्प उल्लेखनीय है। राजारानी मंदिर अपनी निर्माण शैली और वास्तु योजना में अन्य मंदिरों से भिन्न दिखता है। इनमें मंदिर की उत्कीर्ण आकृतियाँ, केंद्रीय हिस्से के चारों ओर समूह रूप में बने शिखर और ऊपर की ओर मुड़े हुये छज्जे प्रमुख हैं। इस मंदिर के प्रवेश द्वार के दोनों ओर कलात्मक आलों में नागराज की प्रतिमाएँ, शालभंजिका, देवताओं, मानवों अप्सराओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं।

बंगाल का शिल्प *(Sculpture of Bengal)*

बंगाल के पाल शासक बौद्ध धर्मावलंबी थे इसलिए उनके शासनकाल में बौद्ध कला को प्रश्रय मिला। पाल युग में बुद्ध, अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, हारिति, बोधिसत्व, मंजुश्री, तारा आदि की मूर्तियाँ बनीं। इसके अलावा जैन तीर्थंकरों और यक्षियों की भी मूर्तियाँ बनाई गईं। पाल शैली में बनी मूर्तियों में भाव-भंगिमाओं की अधिकता, अलंकरण और लक्षणों की प्रधानता के तत्व प्रभावी रूप में दिखाई देते हैं। इस मूर्तिकला पर सारनाथ कला का प्रभाव माना गया है जिसके अंतर्गत हल्के, इकहरे बदन और पारदर्शी वस्त्र पहनी मूर्तियाँ प्रमुख हैं। पाल कला का प्रमुख केंद्र नालंदा विश्वविद्यालय रहा है। पालकालीन मूर्तियों का निर्माण गया और राजमहल से मिलने वाले भूरे और काले रंग के मुलायम बेसाल्ट पत्थरों से हुआ है। पत्थरों के मुलायम होने के कारण मूर्तियों में मूर्तिकला के लक्षणों और वस्त्राभूषण को सूक्ष्मता के साथ उकेरा जाना संभव हो सका। इसके अलावा अधिकतर पाल मूर्तियाँ लेखयुक्त हैं और उनमें तिथियाँ भी दी गई हैं। इससे उनमें शैलीगत विकास को ठीक ढंग से समझने में मदद मिली है। पाल मूर्तियों में प्रतिमाशास्त्र के नियमों का पालन करने के कारण मूर्तियों में बोझिलता आ गई है। पाल प्रतिमाओं में मुख्य रूप से दैव-प्रतिमाओं के ही उदाहरण मिलते हैं और इनमें अप्सराओं, काम भावना अंकन और लौकिक विषयों का अभाव रहा है। ये मूर्तियाँ चारों ओर से खोदकर बनाई गई हैं या पत्थर की शिला पर उत्कीर्ण फलक शिल्प परंपरा से विकसित हुई हैं। पाल शैली में बनी बौद्ध, जैन और ब्राह्मण मूर्तियों में शैली के स्तर पर कोई अंतर नहीं है लेकिन आयुध, वाहनों और लाक्षणिकता के स्तर पर अंतर देखा जा सकता है। पाल बौद्ध प्रतिमाओं में कुर्किहार से प्राप्त बुद्ध की सीधी खड़ी अभय मुद्रा की मूर्ति, नालंदा से मिली बुद्ध की भूमि स्पर्श मुद्रा वाली मूर्ति, बौद्ध देवी मारीची या अष्टभुजी मूर्ति, नलगिरी हाथी को शांत करते हुये बुद्ध की मूर्ति, वज्रपर्यंक आसन के अंतर्गत धर्मचक्र प्रवर्तन हस्तमुद्रा में बैठे बुद्ध के दायीं ओर उन्हें ही वरद और बायीं ओर अभय मुद्रा में अंकित किया गया है।

पाल मूर्तियों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि बौद्ध संप्रदाय में तंत्र से प्रभावित बौद्ध देवी-देवताओं का जितना लाक्षणिक अंकन मिलता है उतना अन्यत्र कहीं और देखने को नहीं मिलता। इनमें बोधिसत्व अवलोकितेश्वर, तारा, भृकुटि, हयग्रीव आदि का अंकन प्रतिमा लक्षणों के आधार पर किया गया है। इस काल में मैत्रेय की कम और मंजूश्री की अधिक मूर्तियाँ मिलीं हैं। इस युग में निर्मित मूर्तिशिल्प में ब्राह्मण धर्म से संबंधित अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें काशीपुर से मिली सूर्य प्रतिमा, गंगासागर से मिली सात घोड़ों के रथ पर सवार सूर्यदेव की प्रतिमा, शंकरबंध (बांग्लादेश) से शिव का नटेश या नटराज रूप की प्रतिमा, सेनकालीन सदाशिव प्रतिमा, नृत्य करते हुये गणेश की तीन मूर्तियाँ, गया से प्राप्त शिव की कल्याण-सुंदर (पार्वती से परिणय) प्रतिमा आदि उल्लेखनीय

Copyright- Drishti The Vision Foundation

है। जैन धर्म से संबंधित मूर्तियों में जिन चौमुखी मूर्ति, ऋषभनाथ, आदिनाथ प्रतिमा, मुनि सुव्रत और विशेष तौर पर जैन प्रवर्तकों की संयुक्त मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। बंगाल के मूर्ति शिल्प में विभिन्न धर्मों की दैव मूर्तियों के साथ ही दो या दो से अधिक धर्मों के देवताओं की संयुक्त या संघात मूर्तियों की परंपरा भी मिलती है। ये मूर्तियाँ धार्मिक सामंजस्य और कटुता दोनों का ही प्रदर्शन करती हैं। ऐसी मूर्तियों में अर्द्धनारीश्वर, हरिहर, इंद्र और ब्रह्मा सहित बुद्ध की वरद मुद्रा में खड़ी स्थानक मूर्ति, हरिहर-सूर्य-बुद्ध (हरिहर की प्रतिमा के पार्श्व में बुद्ध और सूर्य की मूर्ति), शिवलिंग के चारों ओर गणेश, विष्णु, सूर्य और शक्ति की मूर्तियाँ मिली हैं। इसके साथ ही परस्पर कटुता वाली मूर्तियों में अपराजिता, पर्णशबरी, त्रैलोक्यविजय, देवी प्रतिमा हैं। इनमें दूसरे धर्म के देवताओं को मूर्ति के पैरों के पास बनाया गया है।

बुंदेलखंड का शिल्प *(Sculpture of Bundelkhand)*

खजुराहो में शिल्प का उत्कर्ष काल नौवीं से 12वीं सदी के मध्य तक का माना जाता है। इसके अंतर्गत चंदेलवंशीय राजाओं हर्षदेव, यशोवर्मन और धंग आदि के शासनकाल में बने मंदिर आते हैं। खजुराहो के नागर शैली में बने मंदिर समूह चंदेल कला के उत्कर्ष का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। खजुराहो में विश्वप्रसिद्ध शैव, वैष्णव, शाक्त और जैन संप्रदायों से संबंधित मंदिर बने और उनके विभिन्न भागों पर मूर्तियाँ उकेरी गईं। खजुराहो के शैव मंदिरों के अंतर्गत कंदरिया महादेव, विश्वनाथ, दूलादेव, मातंगेश्वर, लालगुहा और महादेव का उत्कीर्णन है। वैष्णव मंदिरों में लक्ष्मण मंदिर (बैकुंठ मंदिर), वराह, वामन, जवारी चतुर्भुज, चित्रगुप्त (सूर्य) हैं। शाक्त मंदिरों में देवी जगदंबा और 64 योगिनी हैं। जैन मंदिरों में पार्श्वनाथ, आदिनाथ और घंटई आदि प्रमुख हैं। अन्य स्थानों के मंदिरों की तरह खजुराहो में भी मंदिर की दीवारों, गर्भगृह, शिखर, प्रदक्षिणापथ आदि जगहों पर मूर्तियाँ उकेरी गईं। इन मंदिरों में बाह्य और गर्भगृह की भित्ति पर देव, अप्सरा, व्याल और काम संबंधी मूर्तियों की दो पंक्तियाँ मिलती हैं लेकिन आगे चलकर इन दो सामान्य पंक्तियों के ऊपर तीसरी पंक्ति भी बनने लगी। इस तीसरी पंक्ति में गंधर्व, किन्नरों और विद्याधरों को उकेरा गया। ये मूर्तियाँ सामान्यतः खड़ी मुद्रा में हैं और उनकी मुखाकृतियों एवं शरीर रचना में वक्रता और ऐंद्रिकता दर्शनीय है। ये विशेषताएँ अप्सराओं और काम कला से संबंधित मूर्तियों में ज्यादा दिखाई देती हैं। खजुराहो की मूर्तियों में कालगत विकास के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इसलिए इन मूर्तियों में शैलीगत भिन्नता को सहज ही पहचाना जा सकता है। मूर्तियों में किये गये अलंकरणों, केश विन्यास और वस्त्र विन्यास में यही विकास पर्याप्त ढंग से देखा जा सकता है। खजुराहो की उत्तरकालीन कला में 'तंत्र' का प्रभाव माना गया है और इसी कारण से इन मूर्तियों में अश्लीलता का समावेश हुआ।

खजुराहो की मूर्तियों को अध्ययन की सुविधा के लिए पाँच भागों में बाँट कर देखा जा सकता है। पहले भाग में देवी-देवताओं और तीर्थकरों की मूर्तियों को रखा जा सकता है जैसे लक्ष्मण, चतुर्भुज, वराह और वामन आदि। इन्हें परंपरागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर बनाया गया है। इन मूर्तियों के मुखाभावों में परम शांति और आनंद का भाव देखा जा सकता है। इस वर्ग में ब्राह्मण और जैन धर्मों के मध्य परस्पर सौहार्द्र संबंध को दर्शाती मूर्तियों को भी रखा जा सकात है। दूसरे वर्ग में देवों के परिवार और आवरण के रूप में रथिकाओं, मंदिर की दीवारों और प्रवेश द्वारों पर उत्कीर्ण प्रतिमाएँ जैसे मकरवाहिनी गंगा, कूर्मवाहिनी यमुना और नवग्रह अंकन मिलता है। ऐसे मूर्तिशिल्पों में शिव के विभिन्न रूपों का, विष्णु के दशावतार पट्ट और अन्य स्वरूप, शक्ति के विभिन्न रूप, नृत्यरत गणेश सहित अन्य देव, विद्याधरों, गंधर्वों और नागों का महत्त्वपूर्ण अंकन मिलता है। इस वर्ग में संघात या समन्वित मूर्तियों जैसे हरिहर, अर्द्धनारीश्वर, हरिहरपितामह आदि प्रतिमाएँ, जैन धर्म संबंधित ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्तियों को भी रखा गया है। तीसरे वर्ग में श्रृंगार-प्रधान मूर्तियों को रखा गया है। खजुराहो को विश्व-प्रसिद्धि दिलाने में इन्हीं मूर्तियों का बहुत योगदान है। मंदिर के विभिन्न स्थानों पर बनी इन मूर्तियों को वस्त्राभूषणों से अलंकृत, अलौकिक और नृत्य मुद्राओं में बनाया गया है। ये मूर्तियाँ पत्र लिखती, वीणा और वंशी बजाती, दर्पण में मुख देखने जैसे दैनिक क्रियाकलापों को ध्यान में रखकर बनाई गई हैं। चौथे वर्ग में ऐसी मूर्तियों को रखा जा सकता है जिनमें आम जीवन जैसे-गुरु-शिष्य, श्रमिक, परिवार, युद्ध, आखेट आदि दृश्यों को उकेरा गया है। इन प्रतिमाओं में बनाये गये काम-क्रीड़ा के दृश्यों की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं हैं। रतिक्रिया में संलग्न ऐसी मूर्तियों में सामान्य और असामान्य दोनों प्रकार के संभोग के दृश्य मूर्तियों में जीवंत तरह से बनाए गये। पाँचवे वर्ग में पशु मूर्तियों को सम्मिलित किया गया है। इनमें व्याल नामक कल्पित पशु की मूर्ति प्रमुख है। इस व्याल के अनेक रूप जैसे गजव्याल, वराहव्याल आदि भी बने। शिल्पकारों ने अप्सराओं की तरह व्याल को भी प्रिय विषय के रूप में चुना। कुछ पशु मूर्तियों में पशु-पशु संभोग और मानव-पशु संभोग को भी दर्शाया गया है।

राजस्थान-गुजरात की शिल्प कला *(Sculpture of Rajasthan - Gujarat)*

गुजरात के सोलंकी या चालुक्य राजाओं ने ब्राह्मण और जैन धर्म प्रतिमाओं का निर्माण करवाया। इनमें राजस्थान के सिरोही जिले में आबू पर्वत पर बने दिलवाड़ा जैन मंदिरों में बहुत प्रशंसनीय कार्य हुआ है। चालुक्य राजवंश द्वारा बनवाये गये मंदिरों में

Copyright– Drishti The Vision Foundation

देवी-देवताओं, रामायण-महाभारत, कृष्णलीला, गंधर्व, किन्नरों, तीर्थंकरों, देवदूतों, यक्ष-यक्षिणियों, पशु-पक्षियों आदि की प्रतिमा बनवाई गई। इस काल के मंदिरों में 'सप्तमातृकाओं' का अंकन विशेष लोकप्रिय हुआ। लगभग सभी ब्राह्मण मंदिरों में ब्रह्मा और विष्णु की एकाकी, शेषशायी तथा उनके अवतार स्वरूपों की मूर्तियाँ मिली हैं। इनके अलावा गणेश, कार्तिक आदि का अंकन भी मिलता है। इन मंदिरों में दक्षिण की मूर्तियों के समान प्रतिकृतियों जैसे लूणवसही में वस्तुपाल और तेजपाल के परिवार, दबोई में बीसलदेव की गजारुढ़, और अन्हिलपाटन के पार्श्वनाथ मंदिर में वनराज और जाम्ब की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। चालुक्य कालीन आकृतियाँ भी वस्त्राभूषणों से अलंकृत हैं और उन्हें बहुत दक्षता और गहराई के साथ उकेरा गया है। इस काल की मूर्तियों की कला शैली में समन्वयात्मक प्रवृत्ति देखने को मिलती है जैसे दिलवाड़ा जैन मंदिर में कृष्ण लीलाओं का अंकन, मोढेरा के सूर्य मंदिर में अर्द्धनारीश्वर, हरिहर स्वरूपों के अलावा सूर्य-शिव, सूर्य-ब्रह्मा, ब्रह्म-विष्णु आदि का अंकन। जैन मंदिरों की देव-देवियों में अलंकरण की प्रबल प्रवृत्ति दिखाई देती है। तीखे नैन-नक्श, इकहरा शरीर, छोटे और गोल मुख, अलंकरण में तकनीकी दक्षता इन मूर्तियों की विशेषता है लेकिन इनमें एक दोष यह है कि मूर्तियों के मुख पर भावशून्यता दिखाई देती है। चालुक्य मूर्तियाँ समय के साथ संख्यात्मक रूप से बढ़ती चली गईं। कुंभारिया के जैन मंदिर, मोढेरा और उसका सभामंडप मूर्तियों से आच्छादित हैं।

उत्तरमध्यकालीन मंदिर शिल्पकला का वैभव देववाड़ा के जैन मंदिरों में देखा जा सकता है। दिलवाड़ा पाँच मंदिरों का एक समूह है जिसमें कलात्मक दृष्टि से 'विमलवसहि' और 'लूणवसहि' जैन मंदिर सर्वोच्च माने जाते हैं। दिलवाड़ा मंदिरों के गुंबदों में कमल पुष्प, पंक्ति में बैठे सिंह, नर्तक, वादक और कई प्रकार के फूलों की आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। सफेद संगमरमर पत्थर से बने इन मंदिरों में बारीक नक्काशीदार जालियाँ, मेहराबें, बेलबूटों और छतों में अद्भुत किस्म का अलंकरण किया गया है। शिल्पकला की दृष्टि से यही इनका दोष भी बन गया है। अलंकरण और मूर्तियाँ एक ही दिखाई देने लगती हैं। दिलवाड़ा के विमलवसहि मंदिर के चार प्रमुख भागों रंगमंडप, गर्भगृह, गुंबद और प्रदक्षिणापथ में अप्रतिचक्र, वज्रांकुशा, वज्रश्रृंखला आदि की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। इसी तरह लूणवसहि मंदिर के रंगमंडप के मध्य में लटकता झुमर शिल्पकला का अद्भुत नमूना है। इनके अलावा चित्तौड़गढ़ के कालिकामाता, कुंभश्याम और समाधीश्वर, जगत का अंबिकामाता मंदिर (राजस्थान का लघु खजुराहो), नागदा का सास-बहू मंदिर, उनवास (उदयपुर) के दुर्गामंदिर या पिप्लादमाता मंदिर (उदयपुर), जोधपुर के निकट ओसियां में बने वैष्णव और जैन मंदिर जिनमें हरिहर और सूर्य मंदिर, बाड़मेर में किराडू में मंदिरों का समूह, जयपुर में आभानेरी, जोधपुर में बुचकला, सीकर में हर्षानाथ पहाड़ी पर बना महादेव मंदिर, पाली के रणकपुर में बना चौमुख और अन्य जैन मंदिर, आदि जगहों पर उल्लेखनीय मूर्तिशिल्प कार्य हुआ है।

धातु मूर्ति शिल्प *(Mental Sculpture)*

भारत में धातु से बनी मूर्तिकला का प्राचीन इतिहास है। इसका पहला उदाहरण हमें हड़प्पा सभ्यता से मिली नर्तकी की मूर्ति में मिलता है। बिहार के सुल्तानपुर से मिली बुद्ध की तांबे की प्रतिमा भी धातु मूर्तिशिल्प कौशल की कहानी कहती है। पाँचवीं सदी में निर्मित यह मूर्ति लयात्मकता का अनुपम उदाहरण है। इसी तरह कोल्हापुर में भी धातु मूर्तिशिल्प के कुछ उदाहरण मिले हैं जो संभवतया सातवाहन के कालों के हैं। उत्तर भारत से अधिक दक्षिण भारत में धातु मूर्तिशिल्प के अधिक उदाहरण मिलते हैं। इस कला का प्रचलन दक्षिण में ज्यादा होने से वहीं इसका चरमोत्कर्ष भी देखने को मिलता है। शुरुआती धातु मूर्तिशिल्प ने प्रस्तर मूर्तिशिल्प से ही प्रेरणा ली। इससे उनमें स्वतंत्र चेतना का विकास कम दिखता है। लेकिन आगे के समय में धातु मूर्तिशिल्प ने अपना एक अलग स्थान बनाना शुरु कर दिया। दक्षिण भारतीय धातुमूर्तिकला के अधिकांश उदाहरण शैव धर्म से संबंधित हैं। खासकर चोल साम्राज्य के समय में शिव संबंधी धातुमूर्तिशिल्प ने उन्नति की। शैव मत के अलावा वैष्णव धर्म के देवों की मूर्तियाँ भी बहुतायत से बनीं। देवियों में सीता और पार्वती की मूर्तियों में नारी की सम्पूर्ण सुंदरता के प्रतीक के स्वरूप को बनाया गया है।

दक्षिण भारत कांस्य मूर्तिकला में सर्वाधिक नाटकीय और स्फूर्तिकारक तत्त्व नटराज की प्रतिमा में उपलब्ध होते हैं। नटराज की प्रतिमा में ही शिव को नृत्य के स्वामी के रूप में दर्शाया गया है। नटराज की मूर्ति नृत्यमय कल्पना और उनके विराट स्वरूप की विशेषताओं को प्रकट करती है। इसमें नटराज की त्रिनेत्रधारी, शांत और प्रसन्न मुद्रा, जटा मुकुट गंगा आदि, एक पैर पर खड़ी मुद्रा और चार हस्त को दर्शाया जाता है। नटराज की नृत्य मुद्रा में गति, ओज और समन्वय उन्हें उदात्त, सृजनकर्ता, प्रलयकर्त्ता और सृष्टा के रूप में प्रतिष्ठित करता है। शिव के तांडव नृत्य करती हुई मूर्तियों को कम संख्या में बनाया गया है। ऐसी मूर्तियों में शिव को दस हाथों वाला बनाया जाता है और उनके प्रत्येक हाथ में कोई चमत्कारिक वस्तु या आयुध दिया गया होता है।

मूर्तिकला में आधुनिकता *(Modesnity in Sculpture)*

भारत में चित्रकला के क्षेत्र में तो अभिनव प्रयोग हुए, परंतु मूर्तिकला में कोई पहल नहीं हुई। यहाँ तक कि 1906 के दौरान जब अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने चित्रकला की नई शैली - 'बंगाल स्कूल' का सूत्रपात किया तब भी इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया। उस समय तक दो ही प्रवृत्तियाँ देखी जा रही थीं। पहली के अंतर्गत विदेशी कलाकार ही यूरोपीय शैली की मूर्ति कला का प्रयोग

Copyright– Drishti The Vision Foundation

कर रहे थे और पारंपरिक भारतीय कलाकार भिखारिन, पनिहारिन जैसे सामान्य विषयों पर ध्यान केंद्रित करते थे। रोहितकांत नाग (1868-1895), फणीन्द्रनाथ बसु (1888-1926) हिरणमय रायचौधरी (1884-1962), एवं प्रमथनाथ मल्लिक (1894-1963) भी विदेशी कलाकारों से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे।

ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में देवीप्रसाद राय चौधरी ने पहली बार यूरोपीय शैली से थोड़ा हटकर भारतीय स्पर्श देने की कोशिश की। देवीप्रसाद राय चौधरी (1899-1975) आचार्य अवनीन्द्रनाथ टैगोर के योग्य शिष्यों में गिने जाते हैं। चित्रकला और मूर्तिकला, दोनों विषयों पर उनका समान अधिकार था। वह ओरिएंटल आर्ट स्कूल (कोलकाता) से शिक्षण ग्रहण कर वहीं शिक्षक भी बने। बाद में वे मद्रास स्थित गवर्नमेंट स्कूल ऑफ आर्ट्स के प्रिंसिपल बने। वे पहले आधुनिक मूर्तिकार थे जिन्होंने कांस्य माध्यम में काम किया। उनकी आदमकद मूर्तियों में गति, ऊर्जा व भाव का अदभुत समन्वय है। बिहार के पटना सचिवालय के सामने जो शहीद स्मारक इनके कला कौशल की है उसमें गति और लयात्मकता सहज ही देखी जा सकती है। कला जगत में उनके अतुल्य योगदान को देखते हुए भारत सरकार ने उन्हें 'पद्म भूषण' से 1958 में सम्मानित किया।

देवीप्रसाद चौधरी के बाद रामकिंकर बैज ने मूर्तिकला में नए आयाम जोड़कर आधुनिक भारतीय मूर्तिकला को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। कई कला विशेषज्ञ रामकिंकर बैज से ही भारत में आधुनिक मूर्तिकला की शुरुआत मानते हैं। वर्ष 1925 में शांति निकेतन पहुँचे रामकिंकर बैज की प्रतिभा को नंदलाल बोस और रवीन्द्रनाथ ने उभरने का भरपूर मौका दिया। चित्रकला के साथ-साथ उन्होंने मूर्तिकला भी सीखी। उनकी प्रसिद्धि मूर्तिकार के रूप में ज्यादा है। उनके द्वारा 1938 में बनाई गयी 'संथाल परिवार' की मूर्ति को बहुत प्रशंसा मिली है। देवी-देवता, राजा-महाराजा और महान विभूतियों के समकक्ष उन्होंने संथाली परिवार को निर्मित कर साधारण जन को गरिमा प्रदान की जो उनकी सामाजिक राजनीतिक चेतना को दर्शाता है। शांति निकेतन में बनी उनकी मूर्तियों को देखकर यह जाना जा सकता है कि वे विषय-वस्तु और बाह्य-परिवेश में अद्भुत समरसता का समावेश करते थे। मूर्तिकला में रामकिंकर ने आधुनिक कला की सभी प्रवृत्तियों जैसे यथार्थवाद, घनवाद से लेकर अतियथार्थवाद आदि को सहज रूप में अपनाया। रामकिंकर बैज ने मूर्तियों के माध्यम के लिए परंपरागत सामग्रियों को छोड़कर सीमेंट तक से मूर्तियाँ बनायीं।

देवीप्रसाद चौधरी और रामकिंकर बैज के शिष्यों - धनराज भगत, पी.वी. जानकीराम, रजनीकांत पंचाल, ए. एम. डाबरीवाला, राघव कनोरिया जैसे कुछ मूर्तिकारों ने आधुनिक भारतीय शैली की मूर्तिकला को और आगे बढ़ाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बंगाल के जिन मूर्तिकारों ने इस दिशा में अपने कदम बढ़ाए उनमें प्रमुख है-सुधीर रंजन खस्तगीर (1907-1974), प्रदोष दास गुप्त (1912-1991), चिंतामणि कर (1915-2005), शंखो चौधरी (1916-2006), सोमनाथ होर (1921-2006), मीरा मुखर्जी (1923-1998), सुनील कुमार पाल (1920-2012) इत्यादि। इन कलाकारों ने अपनी निज की शैली तो विकसित की ही है साथ ही मूर्तिशिल्प के परंपरागत आधार तत्वों एवं दर्शन में पश्चिम की कला शैली व तत्वों का समावेश कर भारतीय मूर्तिकला को विविधता प्रदान करने के साथ-साथ आधुनिक प्रवृत्तियों से भी समृद्ध किया। मानवीय सौंदर्य एवं प्रकृति को रूपायित करने के अलावा इन कलाकारों ने अपनी निर्मितियों में सामाजिक विसंगतियों को भी प्रकट किया।

चिंतामणि कर ने आधुनिक मूर्तिकला की विषय एवं रूप को अपनाने से पहले प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का इतना अभ्यास कर लिया था कि उनके मूर्तिशिल्प में वर्तमान ही नहीं भूत और भविष्य के रूपों को भी नहीं देखा जा सकता है। उनकी कला निर्मितियों में एक ओर जहाँ मथुरा की पाषाण प्रतिमाओं की लयात्मकता और सादगी है वहीं दूसरी ओर हेनरी मूर की मूर्तियों की पृथकता, कामनीयता एवं नवनीयता के दर्शन भी होते हैं। मूर्तियों की वक्रता में लय है जो उनके मूर्ति शिल्प की खास पहचान है। शंखो चौधरी नारी आकृति, वन्यजीवन के अलावा पोर्ट्रेट के भी सिद्धहस्त कलाकार थे। लोक और आदिवासी कला के साथ उनका विशेष लगाव था। शंखो चौधरी की मूर्तिकला का दायरा माध्यम के हिसाब से काफी विस्तृत था। उनकी बनाई मूर्तियों में व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व की झलक मिलती है। शंखो चौधरी ने 1976 में दिल्ली में 'गढ़ी' में सामुदायिक कार्यशाला की शुरुआत की जो उनके रचनात्मक प्रबंधन कौशल का कमाल है। वर्ष 1971 में भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मश्री' से सम्मानित किया। सोमनाथ होर (1921-2006) मूर्तिकार के साथ प्रिंटमेकर भी थे। वे 1943 में बंगाल में पड़े दुर्भिक्ष के चित्रण के साथ चर्चा में आये। उन्होंने अपने काम से बंगाल स्कूल की प्रवृत्तियों पर प्रश्नचिह्न लगाये। उन्होंने युद्ध और अकाल की विभीषिका को अपनी मूर्तियों में इस कदर ढाला कि यह देखने वाले को एकबारगी झकझोर देता है। वे मानवीय दुर्दशा के मात्र प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे वरन् अपनी गवाही को उन्होंने कला के माध्यम से अभिव्यक्त किया।

बाद की पीढ़ी यानी छठे और सातवें दशक में क्रियाशील मूर्तिकारों ने मूर्तिशिल्प में नित्य नये-नये आयाम जोड़े और नितांत भारतीय शैली का निर्माण किया जो पश्चिमी शैली से बिल्कुल अलग थी। इन कलाकारों की सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति के केन्द्र में हैं–अंतर्मन की भावनाओं का प्रकटीकरण तथा मूर्तिकला के अंतर्राष्ट्रीय प्रतिमानों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की प्रवृत्ति। इस दौर के उल्लेखनीय शिल्पी हैं–सरवरी राय चौधरी (1933-2012), माधव भट्टाचार्जी (1933), विपिन गोस्वामी (1934), उमा सिद्धांत (1933), शंकर घोष (1934), दिलीप सरहर (1944) एवं माणिक तालुकदार (1944)। इन मूर्तिकारों के प्रेरक एवं उद्दीप्त विचारों को उनकी विलक्षण मूर्तियों में देखा जा सकता है।

Copyright- Drishti The Vision Foundation

सन 1950 के दशक में देश में राष्ट्रीय आधुनिक कला दीर्घा और ललित कला अकादमी की स्थापना की गई। ये ऐसी दो बड़ी संस्थाएं थीं जिनके माध्यम से समसामयिक कला धारा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

मूर्तिकारों की परवर्ती पीढ़ी ने शैली, विषय और माध्यम तीनों ही स्तर पर नये-नये विचारों का समावेश किया। इस पीढ़ी के कलाकारों में परंपरागत भारतीय मूर्तिशिल्प का अवशेष मात्र भी नहीं है। इन कलाकारों के लिए त्रिआयामी मूर्तिकला में ठोस आयतन, मात्रा और स्थूलता जैसे विषय महत्त्वपूर्ण नहीं होकर सामाजिक परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण हो गई। आधुनिक समय में विज्ञान एवं तकनीक का वर्चस्व सामाजिक जीवन में बढ़ा है, जो उनके शिल्प रचनाओं में समाविष्ट है। इन कलाकारों के मूर्तिशिल्प में जैविक संरचना और आकृति का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि विषय वस्तु के अंतर्निहित गुण एवं भाव की अभिव्यक्ति का है तथा इसके अलावा नित्य प्रकरण में जटिल सामाजिक संरचना, मानवीय समस्याएँ, विश्व में घटित घटनाएँ इत्यादि भी विषय वस्तु के रूप में समाहित हैं। फलत: अभिव्यक्ति के नये-नये रूप दृष्टिगोचर हुए हैं। नयी पीढ़ी के शिल्पी मूर्तिकला के परंपरागत माध्यम- संगमरमर, कांस्य, धातु, प्रस्तर, लकड़ी, प्लास्टिक, फाइबर, ग्लास, रबर, चमड़ा एवं स्टील प्लेट इत्यादि का उपयोग कर रहे हैं फलत: मूर्तिशिल्प नित्य नई-नई सम्मोहक संभावनाओं का द्वार खोलते जा रहा है। बंगाल के जिन कलाकारों ने मूर्तिकला में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है और आधुनिक भारतीय मुहावरों में देश-विदेश में अपनी धाक जमाई है उनमें प्रमुख हैं–विमल कुंडु, गोपीनाथ राय, सुनील कुमार दास, श्यामल राय, सुभाष राय, सुनंदा दास, सुनील पाल एवं सुरजीत दास, रामकुमार मन्ना (टेराकोटा), इनु मन्ना (टेराकोटा) इत्यादि। उदारीकरण के बाद पश्चिम के प्रभाव से मूर्तिकला में एक नई भाषा के रूप में इंस्टालेशन का प्रादुर्भाव हुआ है।

हिन्दुस्तान में पहली बार विवान सुंदरम् ने इंस्टॉलेशन का प्रयोग किया था। बाद में बंगाल के कलाकारों-वीणा भार्गव, परेश मैड़ती इत्यादि ने इसका उपयोग किया। उदारीकरण के बाद हिन्दुस्तान के मूर्ति शिल्प में जिस प्रवृत्ति की शुरूआत हुई है, उसके केन्द्र में कोई आदर्श का नहीं है। इस दौर में अनीश कपूर (भारतीय मूल के ब्रितानी कलाकार), सुबोध गुप्ता, रवीन्द्र रेड्डी, भक्ति खेर, रकीब साह, परेश मैती की मूर्तियों को अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व मिला है।

Copyright- Drishti The Vision Foundation

नृत्य (Dance)

नृत्य क्या है

नृत्य एक प्रकार का सशक्त आवेग है। मनुष्य जीवन के दोनों पक्षों-सुख और दुख में नृत्य हृदय को व्यक्त करने का अचूक माध्यम है। लेकिन नृत्य कला एक ऐसा आवेग है, जिसे कुशल कलाकारों के द्वारा ऐसी क्रिया में बदल दिया जाता है, जो गहन रूप से अभिव्यक्तिपूर्ण होती है और दर्शकों को, जो स्वयं नृत्य करने की इच्छा नहीं रखते, आनन्दित करती है। परिभाषा के तौर पर देखें तो अंग-प्रत्यंग एवं मनोभाव के साथ की गयी नियंत्रित यति-गति को नृत्य कहा जाता है। नृत्य में करण, अंगहार, विभाव, भाव, अनुभाव और रसों की अभिव्यक्ति की जाती है। नृत्य के दो प्रकार हैं-

- नाट्य।
- अनाट्य।

मनुष्य और देवों के अनुकरण को नाट्य कहा जाता है और अनुकरण से रहित नृत्य को अनाट्य कहा जाता है।

शारीरिक गति या संचालन, नृत्य या तालबद्ध गति मनुष्य की प्राचीनतम अभिव्यक्तियों में से एक है। सभी समाजों में किसी न किसी रूप में नृत्य विद्यमान है। प्रागैतिहासिक गुफा चित्रों से लेकर आधुनिक कला मर्मज्ञों, सभी ने गति और भावनाओं के प्रदर्शन को अपनी कलाओं में बाँधने का प्रयास किया है।

शास्त्रीय नृत्य

शास्त्रीय नृत्य में नर्तक अपनी भंगिमाओं के जरिये एक कथा को नृत्य के माध्यम से मंचन कर प्रस्तुत करता है। कुछ शास्त्रीय नृत्यों में जैसे कथकली, कुचिपुड़ी में लोकप्रिय हिन्दू पौराणिक कथाओं का अभिनय होता है।

भारतीय शास्त्रीय नृत्यों के भावपूर्ण नर्तन हेतु भंगिमाओं का जटिल भंडार होता है। शरीर के प्रत्येक अंग के लिए निश्चित भंगिमाओं का विधान किया गया है। इन अंगों में आँखें व हाथ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सिर के लिए 13, भौंहों और ठोड़ी के लिए 7-7, नाक और गालों के लिए 6-6, गर्दन के लिए 9, वक्ष के लिए 5 व आँखों के लिए 36, पैरों व इसके निचले अंगों के लिए 32 (जिनमें से 16 भूमि और 16 वायु के लिए निर्धारित हैं।) भंगिमाओं का विधान है। इसी प्रकार एक हाथ की 24 मुद्राएँ और दोनों हाथों की 13 मुद्राएँ, एक हस्त मुद्रा के एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न 30 अर्थ हो सकते हैं। जैसे एक हाथ की पताका मुद्रा, जिसमें सभी अंगुलियों को आगे बढ़ाकर, मुड़े हुए अंगूठे के साथ मिलाकर, गर्मी, वर्षा, भीड़, रात्रि, वन, घोड़ा या पक्षियों के उड़ने की भंगिमा को दिखाया जा सकता है। पताका मुद्रा में ही तीसरी अंगुली मोड़ने का अर्थ मुकुट, वृक्ष विवाह, अग्नि द्वार या राजा भी हो सकता है। दोनों हाथों का उपयोग कर; अंगुलियों को जोड़कर मधुमक्खी का छत्ता, जम्हाई या शंख दिखाया जा सकता है। इन अलग-अलग अर्थों के लिए हाथ की स्थिति या क्रिया भिन्न होगी। किसी एकल नृत्य नाटिका में नर्तक चेहरे का भाव, मुद्राएँ व मिजाज बदलते हुए क्रमशः दो या तीन प्रमुख चरित्रों का अभिनय करते हैं। जैसे भगवान कृष्ण, उनकी ईर्ष्यालु पत्नी सत्यभामा व उनकी सौम्य पत्नी रुक्मिणी की तीन पृथक भूमिकाओं को एक ही नर्तक व्यक्ति प्रस्तुत कर सकता है।

नृत्य का सौंदर्यात्मक आनंद इस बात पर निर्भर करता है कि कोई नर्तक किसी विशिष्ट भाव को व्यक्त करने व रस जगाने में कितना सफल है। शाब्दिक रूप में रस का अर्थ 'स्वाद' या 'महक' है और यह आनन्दातिरेक की मनोदशा है, जिसका अनुभव दर्शक किसी नृत्य प्रदर्शन को देखकर करता है। यही बात नाटकों पर भी लागू होती है। इन विधाओं के समीक्षक प्रस्तुति में रस पर अधिक ध्यान देते हैं। नृत्य में नौ रस हैं- शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। इन रसों के ग्रहण से सहृदय के अन्तःकरण में मनोविकास या संस्कार रूप में संगत भाव या स्थायी भाव स्वतः जागृत हो जाते हैं जो क्रमशः हैं- रति या प्रेम, हास्य, शोक या दुःख, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा (घृणा), विस्मय, निर्वेद (राम)।

शास्त्रीय नृत्य की प्रमुख शैलियाँ-

नृत्य का यदि भारतीय परम्परा में अवलोकन करें तो यह स्पष्ट होगा कि इसकी जड़ें परम्परा के विकास क्रम में सन्निहित हैं। इसी क्रम के परिणामस्वरूप इस विशाल उपमहाद्वीप में नृत्यों की विभिन्न विधाओं ने जन्म लिया है। प्रत्येक विधा ने विशिष्ट समय व वातावरण के प्रभाव से आकार ग्रहण किया है। प्रत्येक विधा किसी विशिष्ट क्षेत्र अथवा व्यक्तियों के समूह के लोकाचार का प्रतिनिधित्व करती है। शास्त्रीय नृत्यों मे भरतनाट्यम, कुचीपुड़ी, कथक, कथकली, ओडिसी, मणिपुरी, मोहिनीअट्टम और सत्रिय शामिल हैं।

इन नृत्यों में दो प्रकार के भाव परिलक्षित हैं। एक है तांडव और दूसरा लास्य। तांडव भगवान शिव के रौद्र पौरुष का प्रतिनिधित्व करता है तो लास्य शिव की पत्नी पार्वती के लयात्मक लावण्य का प्रतिनिधित्व करता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से जन्मे भरतनाट्यम में लास्य की प्रधानता है और इसका उदय तमिलनाडु में हुआ है। कथकली केरल में जन्मी तांडव भाव की मूकाभिनय नृत्य नाटिका है जिसमें भारी-भरकम कपड़े पहने जाते हैं और मुख एवं हस्त पर गहरा शृंगार किया जाता है। कथक लास्य व तांडव का मिश्रण

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

है। क्लिष्ट पदताल व लयात्मक रचनाओं की गणितीय परिशुद्धता इसकी विशेषता है। इसी प्रकार पूर्वोत्तर राज्य मणिपुर के नृत्य मणिपुरी में लास्य की विशेषताएँ होती हैं। 1958 में नई दिल्ली स्थित संगीत नाटक अकादमी ने दो नृत्य शैलियों, आंध्र प्रदेश की कुचिपुड़ी व ओडिशा की ओडिसी शैली को शास्त्रीय नृत्य का दर्जा दिया। अकादमी ने वर्ष 2000 में असम के नृत्य सत्रिय को भी अपनी सूची में शामिल कर लिया। मोहिनीअट्टम और सत्रिय में लास्य की प्रधानता है। इन नृत्यों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है:

भरतनाट्यम-

भरतनाट्यम

इस नृत्य शैली का विकास तमिलनाडु में हुआ है। यह नृत्य तमिलनाडु में देवदासियों द्वारा किया जाता था इसलिए प्राचीन काल में इसे प्रतिष्ठाच्यु समझा जाता था। लेकिन बीसवीं सदी में रुक्मणि देवी अरुंडेल और ई कृष्ण अय्यर के प्रयासों ने इस नृत्य को प्रर्याप्त सम्मान दिलाया और आज तमिलनाडु में इस नृत्य की शिक्षा ग्रहण करना नृत्याभ्यास एवं मंचन प्रतिष्ठा के विषय के रूप में देखा जाने लगा है। आज इस नृत्य के प्रमुख कलाकारों में पद्मा सुब्रहमण्यम, अलारमेल वल्ली, यामिनी कृष्णमूर्ति, अनिता रत्नम, मृणालिनी साराभाई, मल्लिका साराभाई, मीनाक्षी सुंदरम पिल्लई, सोनल मानसिंह, स्वप्न सुंदरी, रोहिंटन कामा और बाला सरस्वती आदि शामिल हैं।

इस नृत्य में पैरों के लयबद्ध तरीके से जमीन पर थाप दी जाती है, पैर घुटने से विशेष रूप से झुके होते हैं एवं हाथ, गर्दन और कंधे विशेष प्रकार से गतिमान होते हैं। भरतनाट्यम में शारीरिक प्रक्रिया को तीन भागों में बाँटा जाता है: समभंग, अभंग और त्रिभंग। इसमें नृत्य क्रम इस प्रकार होता है।

आलारिपु : इसका मूल आशय कली का खिलना है। यह नृत्य का पहला चरण है जिसमें नर्तक अपने नृत्य, देवता और दर्शकों की स्तुति करके नृत्य शुरू करता है। इसे भूमिका भी कहते हैं। इस अंश में कविता रहती है। मिश्र छंद, करताल और मृदंग के साथ यह अंश अनुष्ठित होता है।

जातीस्वरम : यह अंश कला ज्ञान का परिचय देने का होता है। इसमें नर्तक अपने कला ज्ञान का परिचय देते हैं। इस परिचय से तात्पर्य स्वर, ताल के साथ अंग-प्रत्यंग तथा मुद्राओं के परिचय से होता है।

शब्दम : यह तीसरे क्रम का अंश होता है। सभी अंशों में यह अंश सबसे आकर्षक अंश होता है। शब्दम में नाट्यभावों का वर्णन किया जाता है। इसके लिए बहुविचित्र तथा लावण्यमय नृत्य पेश करके नाट्यभावों का वर्णन किया जाता है।

वर्णम : इस अंश में नृत्य कला के अलग-अलग वर्णो को प्रस्तुत किया जाता है। वर्णम में भाव, ताल और राग तीनों की प्रस्तुति होती है। भरतनाट्यम के सभी अंशों में यह सबसे चुनौतीपूर्ण अंश होता है।

पदम : इस अंश में सात पंक्तियुक्त वंदना होती है। यह वंदना संस्कृत, तेलुगु, तमिल भाषा में होती है। इसी अंश में नर्तक के अभिनय कौशल का पता चलता है।

तिल्लाना : यह अंश भरतनाट्यम का सबसे आखिरी अंश होता है। इस अंश में बहुविचित्र नृत्य भंगिमाओं के साथ-साथ नारी के सौंदर्य के अलग-अलग लावण्यों को दिखाया जाता है।

कथकली-

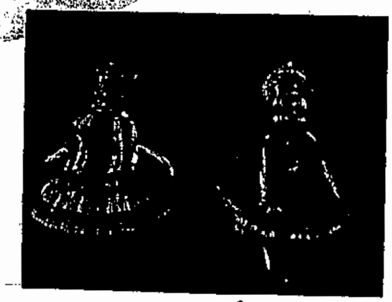
कथकली

कथकली केरल का शास्त्रीय नृत्य है। इस नृत्य में प्राचीन पुराणों की कथाओं को आधार बनाया जाता है। कथकली के बारे में आज यह माना जाता है कि यह तीन सौ या चार सौ साल पुरानी कला नहीं है, अपितु इसकी वास्तविक उत्पत्ति पंद्रह सौ साल पहले से है।

कथकली विकास की एक लंबी प्रक्रिया से गुजरी है और इसकी यात्रा ने केरल में कई अन्य मिश्रित कलाओं के जन्म और विकास का मार्ग भी प्रशस्त किया है। कथकली को अन्य प्रकार के नृत्य एवं कलाओं को भी सामने लाने का श्रेय है। केरल के सभी प्रारंभिक नृत्य और नाटक जैसे चकइरकोथू और कोडियाट्टम, कई धार्मिक नृत्य जैसे मुडियाअट्टू, थियाट्टम और थेयाम, सामाजिक, धार्मिक और वैवाहिक नृत्य जैसे सस्त्राकली और इजामट्क्कली और बाद में विकसित नृत्य जैसे कृष्णाअट्टम और रामाअट्टम आदि कथकली की ही देन हैं। कथकली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस कला में कई नृत्य और नाटकों की विशेषताओं को शामिल किया जा सकता है। कथकली अभिनय, नृत्य और संगीत तीन कलाओं से मिलकर बनी एक संपूर्ण कला है। यह एक मूकाभिनय है जिसमें अभिनेता बोलता एवं गाता नहीं है लेकिन हाथ के इशारे और चेहरे की भावनाओं के सहारे अपनी भावनाओं की सुगम अभिव्यक्ति देता है। कथकली नाटकीय और नृत्य कला दोनों है लेकिन मुख्य तौर पर यह नाटक है। इसे मुख्यत: पुरुष नर्तक करते हैं और महिला पात्रों की भूमिका भी पुरुष नर्तक ही निभाते हैं। हालाँकि अब महिलाएँ भी इस नृत्य में भाग लेती हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

कथकली में संगीत एक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य तत्त्व है। इनमें एक व्यक्ति भूमिका चेंगला नामक यंत्र के साथ गीत की तैयारी करता है और दूसरा झांझ और मंजीरा के साथ मिलकर इलाथम नामक जोड़ी की रचना करता है, जिसमें चेंडा और मदालम बाद्य भी प्रमुख हैं। कथकली संगीत की गायन शैली धीमी गति वाली एक विशिष्ट सोपान शैली में विकसित की गयी है। इसमें मुद्रास यानी हाथ के इशारों को शाब्दिक भाषा के विकल्प के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है इसके साथ अभिनेता के द्वारा चेहरे के हाव-भाव, शारीरिक व्यवहार, अंगुलियों की भाषा और हाथों के इशारों के माध्यम से संगीत का अनुवाद भी किया जाता है। जैसे ही गाने की शुरुआत होती है अभिनेता अपने मूकाभिनय के साथ और अपने इशारों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रारंभ करता है।

कथकली के अधिकांश चरित्र पौराणिक होते हैं इसलिए नर्तकों की साज सज्जा यानि कपड़े और श्रृंगार वास्तविक आधार पर नहीं होते हैं। इनके पाँच प्रकार तय किए गए हैं जो चरित्र और गुणों का वर्णन करते हैं। ये पाँच हैं, पचा (हरा), काठी (चाकू), थोड़ी (दाढ़ी), कारी (काला) और मिनुक्कू (पॉलिश)। पचा में धार्मिक और महान चरित्र हैं। गर्वित, आक्रामक और अधिकार से वंचित चरित्र काठी के प्रकार में हैं। दाढ़ी को तीन रूपों में समझा जा सकता है। सबसे अधिक आक्रामक और आसुरी को चवन्न थाड़ी (लाल दाढ़ी), बंदर देवताओं की तरह मिथकीय चरित्र को वेला थाड़ी (सफेद दाढ़ी), आदिवासी, वन पुरुष और गुफा में रहने वाले लोगों को करुथा थाड़ी (काली दाढ़ी) माना जाता है। इन सभी में सबसे निम्नतम प्रकार कारी (काला) है। सज्जन और धार्मिक (जैसे महिलाएँ, साधु, ब्राह्मण आदि) प्रकार के चरित्र मिनुक्कू (पॉलिश) के अंतर्गत आते हैं। इस नृत्य से जुड़े प्रमुख कलाकारों में गुरु रामकुट्टी, गोपालकृष्णन, कुंचूकुरुप, कलामंडलम केसवम नंबूदरी, कोट्टकल सिवारामन, कलामंडलम वासु पिशोरडी, कावुंगल, चाथुन्नी पणिक्कर, कलामंडलम कृष्ण प्रसाद; कलामंडलम गोपी, क्लामंडलम राजीव, कलामंडलम बालासुब्रहमण्यम, कलामंडलम गोपालकृष्णन, उदय शंकर और कलामंडलम रामदास आदि प्रमुख हैं।

मोहिनीअट्टम-

मोहिनीअट्टम

मोहिनी का आशय है लुभाना और अट्टम का अर्थ है नृत्य अर्थात् मोहिनीअट्टम का आशय लुभाने वाले नृत्य से है। यह एकल महिला द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला ऐसा नृत्य है जो रागात्मकता उत्पन्न करता है। तकनीक के स्तर पर मोहिनीअट्टम, कथकली और भरतनाट्यम के बीच है। इसमें भरतनाट्यम की मनोहरता और लालित्य, कथकली की ताकत और गतिशीलता है। मोहिनीअट्टम की तकनीकी संरचना काफी हद तक भरतनाट्यम के समान है। मोहिनीअट्टम में इशारों की भाषा बहुत हद तक भरतनाट्यम के समान होती है लेकिन इसमें कथकली परंपरा के तत्त्व भी शामिल हैं। भरतनाट्यम की तरह मोहिनीअट्टम शुद्ध नृत्य के साथ-साथ भाव भंगिमा वाला नृत्य है। इसमें भावनाओं के प्रवाह के साथ कदम ताल, शारीरिक हावभाव और विशेष संगीत की बारीकियों का संतुलन साधा जाता है। इसके साथ ही आँखों और इशारों की अभिव्यक्ति के लिए भी मोहिनीअट्टम कथकली की ऋणी है। भरतनाट्यम में यदि सथाम और वीराम प्रमुख स्वभाव है तो मोहिनीअट्टम में श्रृंगार प्रमुख है। मोहिनीअट्टम मुख्यत: लास्य नृत्य है जिसकी प्रस्तुति नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार होती है। मोहिनीअट्टम की प्रस्तुति चोलकेतु, वर्णम, पदम, तिल्लाना, कईकोटरिकली, कुमी और स्वर के रूप में होती है।

मोहिनीअट्टम नृत्य को पुनर्जीवन प्रदान करने में तीन लोगों की भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। ये हैं- स्वाति थिरूनल राम वर्मा, वल्लतोल नारायण मेनन (कवि, केरल मंडलम संस्था के संस्थापक) और कलामंडलम कल्याणीकुट्टी अम्मा (द मदर ऑफ मोहिनीअट्टम)। आधुनिक समय में इस नृत्य से जुड़े कलाकारों में जयप्रभा मेनन, सुनंदा नायर, पल्लवी कृष्णन, गोपिका वर्मा, विजयलक्ष्मी, राधा दत्ता स्मिता रंजन, तारा नेदुगुडी, कनक रेले, कलामंडलम कल्याणीकुट्टी अम्मा आदि शामिल हैं।

कुचिपुड़ी-

कुचिपुड़ी आंध्र प्रदेश की एक नृत्य शैली है। इसका जन्म राज्य के कृष्णा जिले के कुचेलापुरी या कुचेलापुरम में हुआ। कुचिपुड़ी कला का जन्म भी अन्य भारतीय शास्त्रीय नृत्यों की तरह धर्म से जुड़ा हुआ है। एक लंबे समय से यह कला आंध्र प्रदेश के कुछ मंदिरों में वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रदर्शित की जाती थी। पूर्व परम्परा के अनुसार यह नृत्य केवल ब्राह्मण पुरुषों द्वारा किया जाता था। यह नृत्य वास्तव में उन नाटकों का प्रदर्शन था जो तेलुगु भाषा में लिखे जाते थे। इस नृत्य नाटिका को अट्टा भागवतम कहते थे।

कुचिपुड़ी का मंचन खुले और अभिनय के लिए तैयार मंचों पर होता है। इसका प्रस्तुतिकरण कुछ पारम्परिक रीतियों के साथ शुरू होता है और फिर दर्शकों के समक्ष पूरा दृश्य प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सूत्रधार मंच पर सहयोगी संगीतकारों के साथ आता है और ड्रम तथा घंटियों की ताल पर नाटक की शुरुआत करता है। एक कुचिपुड़ी प्रदर्शन में प्रत्येक मुख्य चरित्र दारुवु यानि नृत्य और गीत की लघु रचना के साथ आकर अपना परिचय देता है। कुचिपुड़ी नृत्य का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप मटकां नृत्य है जिसमें एक नर्तकी मटके में पानी भर कर और उसे अपने सिर पर रखकर पीतल की थाली में पैर जमा कर नृत्य करती है। भाभा कल्पम और गोला कल्पम इससे जुड़ी नृत्य नाटिकाएँ हैं।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright– Drishti The Vision Foundation

इस कला की साज-सज्जा और वेशभूषा इसकी विशेषताएँ हैं। इसके मंचन हेतु महिला चरित्र कई आभूषण पहनती हैं जैसे रकुडी, चंद्र व्रानिकी, अडाभासा और कसिनासारा तथा फूलों और आभूषणों से सज्जित लंबी वेणी कुचिपुडी का संगीत शास्त्रीय कर्नाटक संगीत होता है। मृदंग, वायलिन और एक क्लेरियोनेट इसमें बजाए जाने वाले सामान्य संगीत वाद्य हैं।

इस नृत्य शैली के प्रमुख नर्तकों में भावना रेड्डी, यामिनी रेड्डी, कौशल्या रेड्डी, राजा एवं राधा रेड्डी, वेम्पत्ति चेन्नासत्यम आदि शामिल हैं।

सत्रिया नृत्य-

इस नृत्य शैली को संगीत नाटक अकादमी द्वारा 15 नवम्बर, 2000 को अपने शास्त्रीय नृत्य की सूची में शामिल किया गया। इससे पहले अकादमी की तालिका में केवल सात नृत्य थे लेकिन अब असम के इस नृत्य के आने के बाद इनकी संख्या बढ़ कर आठ हो गयी है। इस नृत्य शैली को असम के 15वीं सदी के महान भक्ति संत श्रीमंत शंकरदेव ने जन्म दिया था। शंकरदेव ने इसे अंकिया नाट के सह-प्रदर्शन के लिए विकसित किया था। अंकिया नाट असम के मठों में खेला जाता था।

इस नृत्य शैली में पौराणिक गाथाओं को चुना जाता है। इस नृत्य नाटिका को पूर्व समय में केवल मठों के भीतर ही खेला जाता था और केवल पुरुष ही इसका मंचन या अभिनय करते थे लेकिन आधुनिक युग में महिलाओं ने भी इस नृत्य को सीखना शुरू किया और अब उनकी गिनती इस नृत्य के कुशल नर्तकों में होती है, इतना ही नहीं इस नृत्य की कथाओं का आधार पौराणिक से आगे बढ़ गया है।

इस नृत्य को कई विधाओं में बाँटा गया है जैसे अप्सरा नृत्य, बेहर नृत्य, चाली नृत्य, दसावतार नृत्य, मंचोक नृत्य, रास नृत्य आदि। अन्य शास्त्रीय नृत्यों की तरह इसमें भी नाट्यशास्त्र, संगीत रत्नाकर और अभिनय दर्पण के सिद्धांतों का प्रयोग होता है। इसमें शंकरदेव द्वारा संगीतबद्ध रचनाओं का प्रयोग होता है। इसे बोरगीत कहते हैं जो शास्त्रीय रागों पर आधारित होते हैं। इसमें खोल (ढोल), ताल और बांसुरी का प्रयोग किया जाता है। हाल के दिनों में वायलिन और हारमोनियम का प्रयोग भी होने लगा है। इसमें नर्तक असम में निर्मित होने वाले रेशम से बने कपड़े, जिसे पट कहा जाता है, का प्रयोग करते हैं। वे इस नृत्य के लिए विशेष आभूषण भी पहनते हैं। अब इस नृत्य का प्रचार असम से बाहर भी हो रहा है।

इस नृत्य के मुख्य नर्तकों में मनीराम दत्ता मोकतर, बापूराम बयन अत्ताई, इंदिरा पी पी बोरा, परमानंद बोरबयन, जतिन गोस्वामी, माणिक बोरनयन, घनकंता बोरनयन, रोसेश्वर सैकिया, भायन मोटकर आदि हैं।

ओडिसी नृत्य-

ओडिसी

ओडिशा के इस नृत्य को पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर सबसे पुराने जीवित शास्त्रीय नृत्य रूपों में से एक माना जाता है। इस परंपरा का जन्म मंदिर में नृत्य करने वाली देवदासियों के नृत्य से हुआ था। ओडिसी नृत्य का उल्लेख शिलालेखों में भी मिलता है। ब्रह्मेश्वर मंदिर के शिलालेखों और कोणार्क के सूर्य मंदिर के केन्द्रीय कक्ष में इसका उल्लेख मिलता है।

इसमें त्रिभंग पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। त्रिभंग का आशय है शरीर को तीन भागों में बाँटना यथा सिर, शरीर और पैर। इस नृत्य की मुद्राएँ और अभिव्यक्तियाँ भरतनाट्यम से मिलती-जुलती हैं।

ओडिसी नृत्य में भगवान कृष्ण के बारे में प्रचलित कथाओं के आधार पर नृत्य किया जाता है। इस नृत्य में ओडिशा के परिवेश तथा वहाँ के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता, भगवान जगन्नाथ की महिमा का गान किया जाता है। इस नृत्य में प्रयुक्त होने वाले छंद संस्कृत नाटक गीतगोविंदम से लिए गए हैं, जिन्हें प्रेम और भगवान के प्रति समर्पण को प्रदर्शित करने में उपयोग किया जाता है।

इसके प्रमुख नर्तकों में केलुचरण महापात्रा, संयुक्ता पाणिग्राही, सोनल मानसिंह, कुमकुम मोहंती, गंगाधर प्रधान, माधवी मुद्गल, हरेकृष्णा बेहरा, दुर्गाचरण रणबीर, रंजना गौहर, गीता महालिक, रामिल इब्राहिम, पंकज चरण दास, देबा प्रसाद दास, प्रियम्वदा मोहंती, डी एन पटनायक और रघुनाथ दत्ता आदि शामिल हैं।

मणिपुरी-

मणिपुरी

यह अनमोल कलानिधि वाला नृत्य देश के पूर्वोत्तर राज्य मणिपुर क्षेत्र से में प्रचलित है। मणिपुरी नृत्य भारत के अन्य नृत्य रूपों से भिन्न है। इसमें शरीर धीमी गति से चलता है और संकेतों एवं शरीर की गतियों का प्रयोग होता है। इसमें नर्तक बहुत हल्के से जमीन पर पैर रखता है। पैरों के संचालन में कोमलता और मृदुलता का परिचय मिलता है। यह नृत्य रूप 18वीं शताब्दी में वैष्णव संप्रदाय के साथ विकसित हुआ इस नृत्य में विष्णु पुराण,

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright- Drishti The Vision Foundation

भागवत पुराण तथा गीत गोविंदम की रचनाओं से आई विषय वस्तुएँ प्रमुख रूप से उपयोग की जाती हैं। इसलिए इस नृत्य का मुख्य विषय रासलीला है। इसमें प्रयुक्त वाद्य करताल, मंझीरा और दो मुख वाला ढोल या मणिपुरी मृदंग होते हैं।

इन नृत्य नाटिकाओं में बंला और कुछ मणिपुरी गुरुओं की रचनाओं का प्रयोग होता है। अन्य प्रकार के शास्त्रीय नृत्यों से इसकी खासियत यह है कि इसमें घुंघरू नहीं पहने जाते हैं। इस नृत्य में गोल घूमने पर ज्यादा जोर होता है। यह नृत्य अपनी नाजुक भंगिमाओं के लिए जाना जाता है। नृत्य में किसी प्रकार के तेज मोड़ नहीं होते और शरीर को कोई झटका नहीं दिया जाता एवं कुछ प्रसंगों में नर्तक की चाल सीधी रखी जाती है।

इसके विकास का श्रेय महाराज भाग्यचंद्र (1759-98) को जाता है। उन्होंने पाँच प्रकार के रास लीलाओं की चर्चा की। इसमें महारास, वसंतरास और कुंज रास ज्यादा चर्चित हुये हैं। उन्होंने गोविंदसंगीत लीला विलास ग्रंथ लिखा जिसमें उन्होंने इस नृत्य की बारीकियों का वर्णन किया है। महाराज गंभीर सिंह ने तांडव रूप की दो रचनाएँ कीं। इसके अलावा महाराज चंद्रकीर्ति सिंह ने भी इसके विकास में योगदान दिया। आधुनिक समय में गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर ने इसके विकास में महती भूमिका निभाई। गुरु नभकुमार, गुरु विपिन सिंह, झावेरी बहनें-नयना, सुवर्णा, दर्शना और रंजना ने अपनी कड़ी मेहनत से इस नृत्य को प्रसिद्धि दिलाई।

कथक-

कथक

कथक का आशय कथा कहने से है। कथक का नृत्य रूप तालबद्ध पदचाप, विहंगम चक्कर द्वारा पहचाना जाता है। इसमें पैराणिक गाथाओं के साथ ईरानी एवं उर्दू कविता से ली गई विषय वस्तुओं का नाटकीय प्रस्तुतीकरण किया जाता है। यह नृत्य उत्तर भारत में बेहद लोकप्रिय हुआ और मंदिरों के अलावा दरबारी मनोरंजन तक पहुँच गया। कथक का जन्म उत्तर भारत में हुआ। किंतु ईरानी और मुस्लिम प्रभाव से यह मंदिर की रीति से दरबारी मनोरंजन तक पहुँच गया।

इसमें कथा कहने की शैली और अधिक विकसित हुई तथा एक नृत्य रूप बन गया। इस नृत्य को नटवरी नृत्य के नाम से भी जाना जाता है। मुगलों के आगमन के बाद यह नृत्य दरबार में पहुँचा। इसका प्रभाव यह हुआ कि इस नृत्य में धर्म की अपेक्षा सौंदर्य बोध पर अधिक बल दिया जाने लगा। पुराने समय में कथा वाचक गानों के रूप में इसे बोलते और अपनी कथा को एक नया रूप देने के लिए नृत्य करते।

कथक के घराने-

इस नृत्य शैली को संगीत के कई घरानों का समर्थन मिला। इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:

जयपुर घराना : कथक के जयपुर घराने में नृत्य के दौरान पाँव की तैयारी, अंग संचालन व नृत्य की गति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस घराने के गुरुओं नृत्याचार्य गिरधारी महाराज व शशि मोहन गोयल ने अपनी मेहनत के जरिए इस नृत्य की परंपरा को बनाये रखा है। उनके अलावा जयपुर घराने को शीर्ष पर पहुँचाने में उमा शर्मा, प्रेरणा श्रीमाली, शोभना नारायण, राजेन्द्र गंगानी और जगदीश गंगानी ने पर्याप्त योगदान दिया है।

लखनऊ घराना : इस घराने के नृत्य पर मुगल प्रभाव के कारण नृत्य में शृंगारिकता के साथ-साथ अभिनय पक्ष पर भी विशेष ध्यान दिया गया। शृंगारिकता और सबल अभिनय की दृष्टि से लखनऊ घराना अन्य घरानों से काफी आगे है। इस घराने की वास्तविक पहचान बनाने का श्रेय पंडित लच्छू महाराज, पंडित बिरजू महाराज को दिया जाता है।

बनारस घराना : उत्तर प्रदेश का बनारस घराना जयपुर घराने के समकालीन माना जाता है। इस घराने में गति व शृंगारिकता के स्थान पर प्राचीन शैली पर अधिक जोर दिया गया। बनारस घराने के नाम पर प्रख्यात नृत्यगुरु सितारा देवी के पश्चात उनकी पुत्री जयंतीमाला ने इसके वैभव और छवि को बरकरार रखने का प्रयास किया है। इस घराने की एक शाखा का नाम सांवलदास जानकी प्रसाद घराना है। परंतु इस नाम के साथ विवाद है।

रायगढ़ घराना : अन्य सभी घरानों की तुलना में नया माने जाने वाले इस घराने की स्थापना जयपुर घराने के पंडित जयलाल, पंडित सीताराम, हनुमान प्रसाद और लखनऊ घराने के पंडित अच्छन महाराज, पंडित शम्भू महाराज और पंडित लच्छू महाराज ने रायगढ़ के महाराजा चक्रधर सिंह से आश्रय प्राप्त करके की। इस घराने ने इन चर्चित कलाकारों के संरक्षण में बहुत कम समय में जो ख्याति अर्जित की, वह सराहनीय है। इस घराने को लोकप्रिय बनाने में पंडित कार्तिक राम और उनके पुत्र पंडित रामलाल का योगदान अविस्मरणीय रहा है।

वर्तमान समय का कथक सीधे पैरों से किया जाता है। जबकि भरतनाट्यम में घुटने को मोड़ा जाता है। कथक में पैरों में पहने हुए घुंघरुओं को नियंत्रित किया जाता है। भरतनाट्यम में हस्त मुद्राओं पर दिए जाने वाले बल की तुलना में यहाँ पद ताल पर अधिक जोर दिया जाता है। कथक में एक उत्तेजना और मनोरंजन की विशेषता है जो इसमें शामिल पद ताल और तेजी से चक्कर लेने की प्रथा के कारण है। यह इस शैली की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

लोकनृत्य-

ऐसे नृत्य जो जीवन के विविध रंगों के प्रकाश के कारण आभामंडित हैं, लोकनृत्य की श्रेणी में आते हैं। ये नृत्य विशेष अवसरों पर किये जाते हैं। भारतीय लोकनृत्यों में अनंत स्वरूप और ताल हैं। इनमें धर्म, व्यवसाय और जाति के आधार पर अंतर पाया जाता है। मध्य और पूर्वी भारत की जनजातियाँ (मुरिया, भील, गोंड, जुआंग और संथाल) सभी अवसरों पर नृत्य करती हैं। जीवन चक्र और ऋतुओं के वार्षिक चक्र के लिए अलग-अलग नृत्य हैं। नृत्य, दैनिक जीवन और धार्मिक अनुष्ठानों का अंग हैं। बदलती जीवन शैलियों के कारण नृत्यों की प्रासंगिकता विशिष्ट अवसरों से भी आगे पहुँच गई है।

भारतीय लोकनृत्यों का वर्गीकरण करना कठिन है, लेकिन सामान्य तौर पर इन्हें चार वर्गों में रखा जा सकता है:

- वृत्तिमूलक (जैसे जुताई, बुआई, मछली पकड़ना और शिकार),
- धार्मिक,
- आनुष्ठानिक (तांत्रिक अनुष्ठान द्वारा प्रसन्न कर देवी या दानव-प्रेतात्मा के कोप से मुक्ति के लिए) और
- सामाजिक

रउफ *(Rouf)*-

यह कश्मीर घाटी का सबसे लोकप्रिय लोकनृत्य है जिसे केवल महिलाओं द्वारा किया जाता है। यह नृत्य फसल की कटाई के मौके पर किया जाता है। इसे पवित्र रमजान के महीने में भी किया जाता है। इसी तरह यहाँ के धमाली (Dhamali) नृत्य को पुरुष करते हैं और इसे ईश्वर की कृपा पाने के लिए किया जाता है। यह यहाँ का परंपरागत नृत्य है और दरगाहों में यह बेहद लोकप्रिय है। इसमें एक व्यक्ति झंडा लेकर नृत्य दल का नेतृत्व करता है और यह आलमी झंडा जमीन में गाड़ कर उसके चारों तरफ एक वृत्त बना कर नृत्य किया जाता है।

हिक्कात *(Hikkat)*-

इसे कश्मीर में युवा लड़के-लड़कियाँ आपस में जोड़ा बनाकर करते हैं। इसमें नर्तक जोड़ा एक दूसरे के हाथों को पकड़ते हुए एक पैर आपस में जोड़ता है और शरीर को थोड़ा पीछे झुका कर नृत्य करता है। नर्तक एक-दूसरे का चेहरा देखते हुए गोल घूमते हैं। इसमें किसी प्रकार के वाद्य का प्रयोग नहीं होता और नर्तक केवल गीत के बोलों पर नृत्य करते हैं।

चक्कारी-

चक्कारी कश्मीर का सबसे लोकप्रिय लोकगायन है। इसका गायक चक्कारी गीत गाते समय उनके बोलों पर नृत्य भी करता है। इस प्रकार से नर्तक, गायक की भूमिका में भी रहता है। इसे प्रायः सभी शुभ अवसरों पर किया जाता है। इसमें रबाब, नूत, तुंबकनारी, सारंगी आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता है।

कूद *(Kud)*-

यह कश्मीर नृत्य सामूहिक तौर किया जाता है। जब फसल पक जाती है तो किसान किसी पहाड़ी के पास एकत्र होते हैं और स्थानीय ग्राम देवता के समक्ष नृत्य करके उन्हें धन्यवाद देते हैं। इसमें रात में आग जलाकर उसके इर्द गिर्द भी नृत्य किया जाता है।

जाब्रो *(Jabro)*-

यह लद्दाख क्षेत्र का नृत्य है और यह वहाँ के चांग-थांग क्षेत्र में ज्यादा लोकप्रिय है। इसमें महिलाएँ और पुरुष दोनों भाग लेते हैं। यह नृत्य थोड़ा धीमा शुरू होता है लेकिन अंत तक आते-आते यह तेज हो जाता है। इसे प्रायः चाँदनी रात में काफी देर तक किया जाता है और इसमें रबाब जैसा वाद्य यंत्र दमनयान बजाया जाता है।

भांगड़ा-

भांगड़ा फसल कटाई और शुभ अवसरों के समय किया जाने वाला नृत्य है। इसमें पंजाबी गीतों की धुन पर एक घेरे में लुंगी और पगड़ी पहने एक व्यक्ति ढोल बजाता है और उसके इर्दगिर्द लोग नृत्य करते हैं। इसमें नर्तक रंगीन पगड़ियाँ बाँधते हैं और कुर्ता-धोती पहनते हैं। इसमें ढोल, ताशे और करतालों जैसे वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता है।

गिद्दा-

यह नृत्य केवल महिलाओं द्वारा किया जाता है। इसमें एक गोले में बोलियाँ गाई जाती हैं तथा तालियाँ बजाई जाती हैं। दो प्रतिभागी घेरे से निकलकर बीच में आती हैं और अभिनय करती हैं। जबकि शेष समूह में गाती हैं। यह पुनरावृत्ति 3-4 बार होती है। प्रत्येक

Copyright– Drishti The Vision Foundation

और दूसरी टोली होती है जो एक नई बोली से शुरुआत करती है। इसमें ढोलक वाद्य का प्रयोग होता है। यहाँ यह ध्यान रखा जाना होगा कि मालवी गिद्दा पुरुषों द्वारा किया जाता है। इसमें व्यंग्य भरे गीतों का प्रयोग होता है। इसका उद्गम पंजाब के मालवा क्षेत्र के संगरूर जिले के गाँव छत्ता से माना जाता है। इसमें तुंबी, चिमटा, सप्पो आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता है। इसी तरह कीकली (Kikli) नृत्य भी केवल महिलाओं द्वारा किया जाता है। इसमें दो लड़कियाँ एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर एक घेरे में गोल घूमती हैं। इसमें शामिल अन्य लड़कियाँ गीत के साथ एक लय में तालियाँ भी बजा कर उनका उत्साहवर्धन करती हैं। कभी-कभी इसमें एक साथ नृत्य कर रही लड़कियों की संख्या चार भी होती है। इसके अलावा सम्मी (Sammi) केवल महिलाओं द्वारा किया जाने वाला लोकनृत्य है। यह लोकनृत्य पंजाब के ग्रामीण इलाकों में लोकप्रिय है। इस नृत्य को बाजीगर, लोबाना और सांसी समूह की महिलाएँ बड़े चाव से करती हैं। इसमें नर्तक लहँगा और कुर्ता पहनती हैं और बालों में रजत आभूषण लगाती हैं। गिद्दा की तरह यह नृत्य भी घेरे में होता है।

नृत्य संबंधी ग्रंथ और उनके रचयिता

1.	संगीत रत्नाकर	शारंग देव (13वीं सदी)
2.	संगीतोपनिषद्	वाकानाचार्य (14वीं सदी)
3.	हस्तमुक्तावली	शुभंकर
4.	भरतारनामा	तुलजाराजा (18वीं सदी)
5.	आदिभारतम्	तुलजाराजा
6.	नाट्यवेदनामा	तुलजाराजा
7.	संगीत मकरन्द	नारद
8.	गीत गोविन्द	जयदेव
9.	नृत्य रत्नावली	जय सेनापति
10.	संगीत दामोदर	रघुनाथ
11.	बालाराम भारतम्	बालाराम बर्मन
12.	संगीत मल्लिका	मोहम्मदशाह
13.	गोराट शै विजय	विद्यापति

गतका (*Gatka*)-

यह वास्तव में सिख शस्त्र-कला कौशल का प्रदर्शन है। इसमें सिख पुरुष तलवार और ढाल लेकर अपने युद्ध कौशल को नाचते हुए प्रदर्शित करते हैं।

पुंग चोलम-

यह नृत्य शैली मणिपुर की है। यह नृत्य मणिपुर के शास्त्रीय और संकीर्तन संगीत से प्रेरित है। इसे पुरुष और महिला दोनों ही करते हैं। हालाँकि यह नृत्य पुरुष प्रधान है। इसका विषय रासलीला है। इसमें एक खास प्रकार का ढोल बजाया जाता है जिसे पुंग भी कहते हैं। इस पुंग को नृत्य करते समय नर्तक गले में पहन रहता है। यह नृत्य मधुर लय से शुरू होता है और चरम पर पहुँचने पर ध्वनि तेज हो जाती है। इस नृत्य ने मणिपुर के मार्शल आर्ट थंग-ता से भी प्रेरणा ली है।

थुलाल-

इसके उद्भव का श्रेय केरल के प्रसिद्ध कवि कंचन नांबियार को है। नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार देखें तो इस कला की तकनीक कठोर नहीं है। गीत सरल मलयालम में होते हैं जिनमें हास्य का पुट होता है। थुलाल में जीवन के हर दिन से सीधा संबंध इसे लोकप्रिय बनाता है। थुलाल में उपयोग होने वाले वाद्य यंत्र मद्दलम् और झांझ हैं, झांझ बजाने वाले की धुन नर्तकी (थुलाकरन) को गाने में सहायता करती है। सभी थुलाल नृत्यों को तीन प्रकार में वर्गीकृत किया जाता है। ओट्टन, सीथंकन और परायन ये तीन प्रकार विभिन्न वेशभूषा, नृत्य और थुलाल गीतों के लय पर आधारित हैं।

रामाअट्टम-

यह भगवान राम के जीवन पर आधारित केरल की नृत्य नाटिका है। यह लगातार आठ दिन सफलता के साथ चलता है। इसमें चेहरे के अभिनय और हाथों के इशारों को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। सभी गीत मलयालम में होते हैं। रामाअट्टम को कथकली के रूप में भी विकसित किया गया।

कोथू-

इस शास्त्रीय नृत्य का मंचन केरल के चकयार कलाकारों द्वारा कोथामबम मंदिर में किया जाता है। यह केरल की सबसे पुरानी एवं नाटकीय कला में शामिल है। इसमें नर्तक के शरीर और चेहरे के हाव-भाव तथा चिह्न एवं नियोजित इशारे सांस्कृतिक ग्रंथों में वर्णित सिद्धांतों पर आधारित हैं। कोथू में हास्य तत्त्व भी है। इसके वाद्य यंत्रों में झांझ और मंजीरे की जोड़ी और एक ढोल होता है। झांझ को हमेशा महिलाओं के द्वारा ही बजाया जाता है जिन्हें ननगियार कहते हैं। कोथू को एकल तौर पर प्रस्तुत किया जाता है जिसे प्रबंधा कोथू के नाम से भी जाना जाता है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright– Drishti The Vision Foundation

पटाकोम-

यह केरल की नृत्य कला है जो अपनी तकनीकी में कोथू के ही समानांतर है। लेकिन इसमें नृत्य तत्त्व को लगभग छोड़ दिया जाता है और कथन को गद्य एवं गीत दृश्यों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है तथा इशारों एवं भावभंगिमाओं को बनाए रखा जाता है। इसमें नर्तकी लाल रंग के कपड़े और कलाई पर लाल रेशम का रूमाल बांधे होती है। उसके गले के चारों ओर हार तथा माथे पर चंदन के लेप लगाए जाते हैं।

कोडियाट्टम-

कुडियाट्टम

केरल की इस नृत्य शैली में कलाकारों का एक समूह नृत्य नाटक का मंचन करता है इसलिए इसे कोडियाट्टम या "एकसाथ नृत्य" (केरल नाटक कला की शुरुआत इसी नृत्य से मानी जाती है) कहते हैं। इसमें महिला एवं पुरुष दोनों ही भाग लेते हैं। कोडियाट्टम का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व अभिनय है। इसका प्रदर्शन भी लंबे समय तक चलता है। नाटकों का मंचन मंदिरों में मन्नत प्रसाद के तौर पर किया जाता है।

कोडियाट्टम का मंचन एक मंदिर की तरह बनाए गए थियेटर में किया जाता है जिसे कोथामबम कहते हैं। इस नृत्य में ढोल, मंझीरा प्रयुक्त होता है। यह नृत्य भी लंबे समय तक चलता है। भारत में जितनी भी नृत्य कलाएँ हैं उनमें कोडियाट्टम संभवतया सबसे पुरानी नृत्य कला है।

कुडियांट्टम-

यह केरल का शास्त्रीय नृत्य है। यह देश की पुरानी नृत्य नाटिकाओं में शामिल है जिनका निरंतर प्रदर्शन हो रहा है। राजा कुलशेखर वर्मन ने 10वीं सदी में इसमें सुधार किये थे। इसमें भास, हर्ष और महेन्द्र विक्रम पल्लव द्वारा लिखे गए नाटक शामिल हैं। पारम्परिक रूप से चकयार जाति के सदस्य इसमें अभिनय करते हैं। इसका प्रदर्शन आम तौर पर कई दिनों तक चलता है। इसमें कुछ चरित्रों के परिचय और उनके जीवन की घटनाओं को समर्पित किया जाता है। इसमें जटिल हाव भाव की भाषा, मंत्रोच्चार, चेहरे और आँखों की अतिशय अभिव्यक्ति, विस्तृत मुकुट और चेहरे की सज्जा के साथ मिलकर कुटियांट्टम का अभिनय करते हैं। इसमें मिझावू, छोटी घंटियां, एडक्का, कुझाल और शंख से संगीत दिया जाता है।

अष्टापडी अट्टम-

यह जयदेव के गीत गोविंद पर आधारित केरल की प्रसिद्ध नृत्य शैली है। इसमें पाँच चरित्र होते हैं, कृष्ण, राधा और तीन अन्य महिलाएँ। यह शैली अब लगभग विलुप्त हो चुकी है। इसमें चेंडा, मदलमख् इलाथलम और चेंगला आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है।

कृष्णाअट्टम-

केरल की इस नृत्य नाटिका में भगवान कृष्ण की पूरी कहानी एक नाटक चक्र में दिखाई जाती है। इसका प्रदर्शन आठ रातों तक चलता है। इसका प्रदर्शन गुरुव्यूर मंदिर में भी होता है। प्राचीन धार्मिक लोक नृत्यों जैसे थियाट्टम, मुडियाट्टू एवं थियाम की कई विशेषताओं को कृष्णाअट्टम में देखा जा सकता है जिनमें चेहरे को रंगना, रंगीन मुखौटे का उपयोग, सुंदर वस्त्र और कपड़ों का उपयोग आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें मदालम, इलाथलम और चेंगला नामक संगीत यंत्रों का प्रयोग होता है।

चाक्यारकूंतु नृत्य-

यह केरल की शास्त्रीय नृत्य शैलियों में से एक है। पहले इसका आयोजन केवल मंदिर में किया जाता था। इसके नृत्यगार को कूत्तम्बलम कहते हैं। इस शैली में स्वर के साथ कथापाठ किया जाता है, जिसके अनुरूप चेहरे और हाथों से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। इसके साथ सिर्फ झाँझ और ताँबे का बना व चमड़ा मढ़ा ढोल जैसा एक वाद्य यंत्र बजाया जाता है।

ओट्टनतुल्ललू नृत्य-

यह केरल की नृत्य शैलियों में से एक है। कुंचन नाम्बियार द्वारा विकसित ओट्टनतुल्ललू नृत्य एक एकाकी नृत्य शैली है। इसमें सरल मलयालम भाषा की वार्तालाप शैली में इस नृत्य के द्वारा सामाजिक अवस्था, वर्ग-भेद, धनी-गरीब का भेद, मनमौजीपन आदि को दर्शाया जाता है। ओट्टनतुल्ललू नृत्य जनसाधारण में बहुत लोकप्रिय है।

नामागेन-

यहाँ शरद काल मनाने के लिए सितंबर के महीने में नामागेन नृत्य का आयोजन किया जाता है। इनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली नृत्य का नाम गाडीस है। इस नृत्य के परिधान ऊनी होते हैं और महिलाएँ चाँदी के भारी-भरकम आभूषण पहनती हैं। इस नृत्य में

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright- Drishti The Vision Foundation

...यात्मक ताल पर थिरकते कदमों का अद्‌भुत तालमेल देखते ही बनता है। इस नृत्य के साथ मुख्य रूप से नगाड़ा बजाया जाता है। सामगेन की भाँति करयाला भी एक प्रसिद्ध नृत्य है, जिसके अभिनय में छोटी-छोटी नाटिकाओं, प्रहसनों, बहुरंगी विधाओं और पैरोडी श्रृंखलाओं का उपयोग किया जाता है। इसके प्रदर्शन में सामाजिक मुद्दों और नौकरशाहों के मामलों को बहुत खुल कर और तीखे व्यंग्यों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

लोसर शोना चुकसम-

यह कृषि महोत्सव के अवसर पर किया जाने वाला नृत्य है। लोसर का आशय है तिब्बती लोगों का नया साल। इस नृत्य को किन्नौरी लोगों द्वारा अनूठी शैली में पेश किया जाता है। इसमें नृत्य के दौरान बुआई से लेकर कटाई तक खेती की पूरी प्रक्रिया से संबंधित सभी गतिविधियों का प्रदर्शन किया जाता है। इस नृत्य में मूकाभिनय या माइम के रूप में नये-नये प्रदर्शनों को शामिल किया जाता है। इसमें नर्तक गाना गाने के साथ वाद्य यंत्र भी बजाता है।

लुड्डी-

लुड्डी नृत्य हिमाचल प्रदेश मंडी में विशेष उत्सवों, मेलों व त्यौहारों के अवसर पर किया जाने वाला लोकनृत्य है। पूर्व समय में इसे केवल पुरुष करते थे लेकिन अब इसे महिलाएँ भी करती हैं। इस लोक नृत्य में युवक श्वेत चोलू या कुर्ता-पायजामा व पगडी पहनते हैं और युवतियाँ रंग-बिरंगे बड़े घेरेदार चोलू व पारम्परिक आभूषण पहनकर गोल-गोल घूम कर समूह नृत्य करती हैं। आरंभ में लुड्डी नृत्य धीमी गति से प्रारंभ होकर धीरे-धीरे गति पकड़ता जाता है। नर्तक अपने आकर्षक हाव-भाव व पैरों को गति प्रदान करते हुए लोकवाद्यों व लोक गीतों के माध्यम से संगीत के साथ एकाकार हो जाते हैं।

नाटी नृत्य-

नाटी नृत्य हिमाचल प्रदेश में कुल्लू, सिरमौर, मंडी, किन्नौर, शिमला इत्यादि जनपदों में किया जाता है। इसे धीमी गति से आरंभ किया जाता है, जिसे आरंभ में ढीली नाटी कहा जाता है, बाद में यह द्रुत गति से बढता जाता है जिसमें ढोलक, करताल, रणसिंघा, बांसुरी, शहनाई एवं नगाड़े का प्रयोग किया जाता है।

झमाकड़ा-

यह कांगड़ा क्षेत्र का नृत्य है। यह नृत्य बरात के वधू के द्वार पर पहुँचने पर होता है। उस समय महिलाएँ नए वस्त्र पहन कर बरात की आगवानी करती हैं, और मीठी-मीठी गाली-गलौज भी करती हैं। हास्य-व्यंग्य द्वारा बरातियों को संबोधित किया जाता है। झमाकड़ा नृत्य करते समय पारंपरिक पहनावे में घाघरी कुर्ता पहना जाता है तथा चाँदी का चाक, कठहार तथा चन्द्रहार, नथनी, पाजेब पहना जाता है। इस नृत्य में ढोलक, बांसुरी, खंजरी का प्रयोग होता है।

गिद्धा नृत्य (पडुआ)-

यह नृत्य हिमाचल प्रदेश सोलन, बिलासपुर तथा मंडी के कई स्थानों पर प्रचलित है। पंजाब में भी गिद्धा होता है परंतु यहाँ का गिद्धा पंजाब से बहुत भिन्न है। यह नृत्य अर्द्धचंद्राकार स्थिति में किया जाता है। यह नृत्य विवाह परंपरा से जुड़ा है। जब बरात वधू के घर जाती है तो उसके बाद घर की स्त्रियाँ घर पर यह मंगल नृत्य करती हैं। यह नृत्य वधू के संदर्भ में उसके साजन की प्रशंसा, जेठानी तथा सास के किस्सों से व सौत की डाह में गाए जाने वाले गीतों से जुड़ा है। ऊना जिले में भी गिद्धा नृत्य की परंपरा है जो पंजाब के गिद्धा से बहुत मिलता है।

सिंघी छम्म (सिंह नृत्य) और राक्षस छम्म-

बौद्ध संस्कृति से प्रभावित लाहुल-स्पीति जनपद में होने वाले इस सिंह नृत्य में लामा या बौद्ध धर्म से जुड़े लोग सिंह का वेश धारण कर पारंपरिक लोक वाद्यों के ताल पर नृत्य करते हैं। इसमें यह धारणा है कि विकट रूप धारण करने से दुष्ट आत्माएँ तंग नहीं करती हैं। इसी तरह राक्षस छम्म में मुखौटा पहन कर नृत्य किया जाता है।

गी नृत्य-

हिमाचल प्रदेश के सिरमौर जिले में लोहड़ी पर्व के अवसर पर गी नृत्य किया जाता है। इसमें गायक एक घेरा बना कर बैठते हैं और एक घेरे का एक व्यक्ति बीच में जाकर संगीत पर नृत्य करता है। इसमें गाँव में पैदा हुई लड़कियाँ ही नृत्य कर सकती हैं। सिरमौर का एक अन्य प्रसिद्ध नृत्य रास है। यह ब्रज और मणिपुर के रास से भिन्न होता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बूरहा नृत्य-

यह हिमाचल प्रदेश के युद्ध कौशल को दर्शाने वाला नृत्य है जिसमें नर्तक कुल्हाडी लेकर नृत्य करते हैं। इसमें पौराणिक नायकों की गाथा गाई जाती है। इसमें स्थानीय वाद्य हुलकी बजाया जाता है। इसी तरह थोढा नृत्य में धनुष-बाणों का प्रदर्शन होता है। इसी तरह कुल्लु में होने वाले युद्धकौशल के नृत्यों में खारैत, उजगजामा, छादेग्बिरक, लुडी बंथाडे और ढीली फेंटी एवं बसारी नृत्य प्रसिद्ध हैं। ये नृत्य हथियार लेकर किये जाते हैं। इनमें देशभक्ति और परंपरा से जुड़े गीतों पर नृत्य किया जाता है।

शुंतो-

लाहुल-स्पीति में होने वाले इस नृत्य में भगवान बुद्ध की प्रशंसा की जाती है। शब्बो नृत्य पर्वों पर और गाफिला नृत्य जोड़े में किया जाता है। दोदरा कंवर नृत्य खेती से जुड़ा है।

माला कायड और जांतरू कायड-

जातरू कायड त्यौहारों के अवसर पर आयोजित होता है और इसमें पर्व से संबंधित गीत गाए जाते हैं। माला कायड में पारंपरिक वेशभूषा से सज्जित नर्तक एक-दूसरे को गुणा चिह्न के अनुरूप पकड़ते हैं। शन और शाबू लाहुल घाटी के लोकप्रिय नृत्य हैं। शन प्रकार के नृत्य का अभिप्राय भगवान बुद्ध की स्तुति से है। जबकि शाबू इस क्षेत्र में फसल कटने के बाद किया जाता है।

गरबा-

गुजरात का अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य गरबा विशेष रूप से नवरात्रि पर्व पर किया जाता है। इस लोकनृत्य में स्त्रियाँ घेरा बनाकर वृत्ताकार रूप में नृत्य करती हैं। वृत्त के बीच में एक महिला सिर पर घड़ा रखे हुए खड़ी होती है। घड़े पर एक जलता हुआ दीपक रखा होता है। गरबा देवी दुर्गा की आराधना में किया जाता है।

घूमर-

घूमर-लोकनृत्य राजस्थान, पंजाब, हिमाचल प्रदेश आदि राज्यों में प्रचलित है। यह नृत्य केवल महिलाओं द्वारा होली तथा नवरात्रि के अवसर पर किया जाता है। महिलाएँ अपने शरीर को घुमाकर नृत्य करती हैं, इसीलिए इस नृत्य को घूमर नृत्य कहते हैं।

बिहू नृत्य-

बिहू असम का लोकप्रिय लोकनृत्य है। बिहू नृत्य असम की कचारी, खासी आदि जनजाति के लोग सामूहिक रूप से करते हैं। बिहू नृत्य के तीन रूप हैं, जो एक ही वर्ष में विभिन्न अवसरों पर किए जाते हैं—

(i) बोहाग बिहू - नववर्ष के स्वागत हेतु
(ii) माघ बिहू - धान की फसल के पकने पर
(iii) बैशाख बिहू - वसन्त उत्सव पर

पण्डवानी-

पण्डवानी छत्तीसगढ़ राज्य का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। इस लोकनृत्य का मूल आधार पांडवों की कथाएँ हैं। इसी कारण इसे पण्डवानी नृत्य कहा जाता है। इसमें नृत्य एवं अभिनय द्वारा पाण्डवों की कथाएँ, एकतारे के साथ प्रदर्शित की जाती हैं। इस नृत्य से सम्बन्धित कलाकार हैं–तीजन बाई, ऋतु वर्मा आदि।

कालबेलिया-

यह राजस्थान की कालबेलिया जनजाति का प्रसिद्ध लोकनृत्य है, जो महिलाओं द्वारा किया जाता है।

कालबेलिया

तेरहताली-

राजस्थान का एक प्रसिद्ध लोकनृत्य है, जो महिलाओं द्वारा किया जाता है। इस नृत्य में गायन पुरुषों द्वारा किया जाता है। इस नृत्य में नर्तकी लय के साथ हाथ-पाँव में बँधी घंटियों को बजाकर नृत्य करती है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

रासलीला-

रासलीला भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं पर आधारित लोकनृत्य है। यह लोकनृत्य उत्तर प्रदेश के मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि क्षेत्रों में प्रचलित है। इस नृत्य में नर्तक राधा-कृष्ण तथा गोप और गोपियों का रूप धारण करके नृत्य करते हैं।

छाऊ नृत्य-

छाऊ

छाऊ का आशय छाया अथवा मुखौटा से होता है। छाऊ नृत्य बिहार, ओडिशा और पश्चिम बंगाल में प्रचलित है। यह नृत्य-गीत फाल्गुन माह में तीन दिन तक चलता है।

तमाशा-

तमाशा महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। पहले यह 'गाथा' पर आधारित था जिसमें प्रेम-प्रसंग और छेड़छाड़ वाले दोहे बोले जाते थे, लेकिन बाद में इसे रंगमंच पर किया जाने लगा।

बाँस नृत्य-

बाँस नृत्य मिजोरम के आदिवासियों द्वारा किया जाने वाला नृत्य है। यह नृत्य बाँस के डण्डों को आपस में बजाकर किया जाता है। यह नृत्य की एक चुनौतीपूर्ण शैली होती है।

सरहुल नृत्य-

सरहुल

यह लोकनृत्य छोटा नागपुर क्षेत्र तथा छत्तीसगढ़ की ओरांव जनजाति का नृत्य है। यह नृत्य चैत्र मास में फसल की कटाई पर किया जाता है। सरहुल की विशेषता यह है कि यह अविवाहित युवक व युवतियों द्वारा किया जाता है।

डांडिया-

डांडिया गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र के कुछ क्षेत्रों में प्रचलित है। इसमें महिलाएँ एवं पुरुष विशेष परिधान पहनकर डेढ़-डेढ़ फुट के डंडों के साथ नृत्य करते हैं।

चारकुला-

चारकुला उत्तर प्रदेश के ब्रज क्षेत्र का लोकप्रिय नृत्य है, जो मुख्य रूप से होली के अवसर पर किया जाता है। इस नृत्य में महिलाएँ दीपक रखे हुए किसी पहिए को सिर पर रखकर नृत्य करती हैं।

नौटंकी-

नौटंकी मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश का प्रमुख लोकनृत्य है, जो मेलों अथवा विवाहोत्सवों पर किया जाता है। नौटंकी में नृत्य, नाटक एवं संगीत सभी शामिल हैं।

यक्षगान-

यक्षगान

यक्षगान कर्नाटक का पारम्परिक नृत्य नाट्य है। इसका प्रमुख विषय पौराणिक धर्म कथाएं होती हैं। इन पौराणिक कथाओं के भावों को व्यक्त करने ~~के लिए~~ कथावस्तु में गीत और संगीत को भी जोड़ा जाता है। इसकी प्रस्तुति में चेंड और मेडल, घंटियों जैसे वाद्यों का प्रयोग भी होता है। कलाकारों का भव्य और भड़कीला श्रृंगार किया जाता है। उनके आभूषण लकड़ी के होते हैं और उन्हें शीशे व सुनहरे कागजों से सजाते हैं। कलाकार विशाल मुकुट भी पहनते हैं। यक्षगान में युद्ध का मंचन भी होता है।

शास्त्रीय नृत्य एवं उससे जुड़े नर्तक एवं नर्तकियाँ

1. **भरतनाट्यम**–अरुण्डेल रुक्मिणी देवी, यामिनी कृष्णमूर्ति, एस. के सरोज., सोनल मानसिंह, टी. बाला सरस्वती, ई. कृष्ण अय्यर, रामगोपाल, पद्मा सुब्रह्मण्यम, स्वप्नसुन्दरी, मृणालिनी साराभाई, रोहिण्टन कामा, मालविका सरकार, वैजयन्तीमाला बाली, कोमला वर्धन आदि।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright– Drishti The Vision Foundation

2. **कथकली**–वल्लतोल नारायण मेनन, रामगोपाल, मृणालिनी साराभाई, शान्ताराव, उदयशंकर, आनन्द शिवरामन, कृष्णन कुट्टी आदि।

3. **कथक**–लच्छू महाराज, अच्छन महाराज, सुखदेव महाराज, शम्भू महाराज, नारायण प्रसाद, जयलाल, दमयन्ती जोशी, सितारादेवी, चन्द्रलेखा, भारती गुप्ता, शोभना नारायण, मालविका सरकार, गोपीकृष्ण, बिरजू महाराज आदि।

4. **कुंचिपुड़ी**–वेम्पति सत्यनारायणन्, यामिनी कृष्णमूर्ति, राजा रेड्डी, लक्ष्मीनारायण शास्त्री आदि।

5. **ओडिसी**–इन्द्राणी रहमान, काली चन्द्र, कालीचरण पटनायक, संयुक्ता पाणिग्रही, मिनाती दास, मायाधर राउत, रंजना डेनियल्स, प्रियंवदा मोहन्ती, माधवी मुद्गल आदि।

6. **मणिपुरी**–रीता देवी, सविता मेहता, थाम्बल थामा, सिंहजीत सिंह, झावेरी बहनें, कलावती देवी, निर्मला मेहता, गाम्बिनी देवी आदि।

7. **मोहिनीअट्टम**–तारा निडुगाडी, तंकमणि, के. कल्याणी अम्मा, भारती शिवाजी, श्रीदेवी, सेशन मजूमदार, कला देवी, गाता गायक, कनक रेले, रागिनी देवी आदि।

भारत के विभिन्न राज्यों में प्रचलित लोकनृत्य

1. **आंध्र प्रदेश:** गों-बी, भामाकलप्पम, बुर्रकथा, वीरानाट्यम, बुट्टामोम्मालू, टापेट्टा गुल्लू, लम्बाडी, धीमसा, कोलट्टम, चिंड़ू, बोतालू, बाथारवम्मा और माधुरी आदि।
2. **लक्षद्वीप:** लावा, परिचाकाली, कोलकाली आदि।
3. **बिहार:** जट-जट्टिन, विदापत (विद्यापति), जोगीडा, कठघोडवा, झिंझियाँ, पवंडिया, खोलडिन, लौन्डा, झूमर, करमा, झरनी, करिया, पाईका, छेकवा आदि।
4. **अंडमान-निकोबार:** शूकर उत्सव या ओस्सुआरी उत्सव पर यहाँ के आदिवासी पूरी रात नृत्य करते हैं। यह पर्व परिवार के वरिष्ठ लोगों की याद में मनाते हैं।
5. **सिक्किम:** मारूनी, तमांग सेलो, सिंगी छाम, जो-मल-लोक, ताशी सबदो, याक नृत्य आदि।
6. **अरुणाचल प्रदेश:** बारछो छाम, पोनयंग, भुईयाँ, खम्पाटी वाचो।
7. **छत्तीसगढ़:** पंथी, सुआ, रावत, करमा, डोमकच, सरहुल, घासियाबाजा आदि।
8. **गोवा:** तरंगामेल, कुनबी, सामयी, जागर, रनमाले, गोंफ, तोन्या मल्ले, देखनी, दशावतारा, घोड़े मोड़नी, झागोर और गफ्फ आदि।
9. **गुजरात:** गरबा, डांडिया, पनिहारी, टिप्पनी (सौराष्ट्र), भवई, पढार, रास, झकोलिया आदि।
10. **हिमाचल प्रदेश:** महाथू, सांगला, झैंती, छपेली, छारबा आदि।
11. **हरियाणा:** फाग, संग, छत्ती, खोडिया, घूमर, झूमर, घुंग्गा, लूर, धमाल आदि।
12. **कर्नाटक:** यक्षगान, बायतुला, डोल्लु कुनीथा, वीरागास्से, भूतकोला, कुर्ग, भूतकोला (तुलु क्षेत्र) आदि।
13. **केरल:** पदियानि, ककारिसी काली, डापू काली, सरपम थुलाल, भद्रकली थुलाल, वेलाकली, थिव्वायट्टू, कोलम थुलाल, थंपी थुलाल, खुम्मी, कोडुवा, देसुथुकाली, थिरायेट्टम, कुम्माटी, अर्जुन नृत्यम, मुदीयेट्टू, कुथीयोट्टम, पोरराक्कली, गारुडम थोक्काडम, थोलापावाकथथु, कृष्णन्नोत्तम, मथालीअट्टम कझाई कोथू आदि।
14. **मध्यप्रदेश:** तेरताली, पंडवानी, जावारा, मटकी, फूलती, गिरदा, माच, गौड मुडिया, बिल्मा, टपारी, सींगमडिया, भागोरिया, रीना, छैत, छेरिया आदि।
15. **महाराष्ट्र:** तमाशा, लावणी, कोली, पोवडम, धंगारी गजा, डिंडी, कला, दहिकला, ललिता आदि।
16. **मणिपुर:** पुंगकोलोन, माइबी, खंभा, लाई हरोबा, नूपा, थांग्टा, कीतलम, राखाल, रास (बसंत, महारास, नट) आदि।
17. **मिजोरम:** चेरवा, खुल्लम, चैलम, स्वालाकिन, च्वानांग्लाईजन, छीइयेलम, जांगटालम, सरलामकई, परलाम आदि।
18. **नागालैण्ड:** चांग लो, सुआ, जेमिज, जेईलांग, नूरालिम, चोगलिम आदि।
19. **मेघालय:** नांगक्रेम, शाद सुखमाईसियम, बेहदीखलम, वांगला, डोरेसगाता, लाहो आदि।
20. **त्रिपुरा:** गारिया, लेबांग, होजागिरि, बिजू, हाई-हाक, वांगेला, स्वागत (वेलकम) आदि।
21. **असम:** बिहू, सतारिया, बारपेटा, जूमर, बागुरुउम्बा (बोडो), आली-आई-लियांग, भोरताल, छा बागानर, हसारी, बिहून्स, धुलिया, बांवारिया, देवधानी, जिकरीस, मोहाडुहाडु या महाखेडा, बिछुआ, बोईसाजू, होब्जानई, राखललीला, चौगंबी, और अप्सरा-सबाह आदि।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

22. **ओडिशा:** पाला, छाऊ (रुक मार नाचा) डंडा नट, घूमर, करमा, केईसावाडी जदूर मदारी कठपुतली, चांगू, घंटा पटुआ, केला केलुनी, ढलखई, दसकठिया, छैती घोडा पैका, अया, प्रहलाद नाटका, भरत लीला, देवधानी, दीपा धुलिया घुडकी नबारंगा नट और धानु जात्रा।

23. **तमिलनाडु:** कारागाट्टम, कुम्मी, मवियाअट्टम, कईसिलाम्बु, चक्कीआट्टम, थाप्पअह्हम, भागवतानंदनम, थेरुकोथा, देवारत्तनम, ओविलाअट्टम, कालीअट्टम, सेवईअट्टम, उरुम्मी, कुरुवंजी, कारागट्टम, कोलाअट्टम, कावाडीअट्टम, नोंडी नाटकम, पोवाई कोथू, काई सिलाम्बू अट्टम, माइलअट्टम, कनमांडीया कमन पांडिगई, देवारत्तम, पाम्पू, ओविलाट्टमख, पुलियाअट्टम, पोईकाल कुदारई, बोम्मलाअट्टम आदि।

24. **पश्चिम बंगाल:** बृत्ता, छाऊ, गंभीरा, तासू, संथाली, लाठी, करमा, बूरा, काली, व्रता, कालीकापातदी, नसनी, अकल्प, डोमनी आदि।

25. **झारखंड:** संथाली, झूमर, पाईका, छाऊ, भेजा, सारहुल, फागुआ, जदूरखू, जात्रा झसी, पांवडिया, झिंझिया, खोलडिन आदि।

26. **उत्तराखंड:** पांडौ, रणभूत, थडया, चौफुला, खुदेड, घसियारी, चांचरी, बौछडों, छपेली, केदरा, सरौं, बौ-सरेला, छेपती, घुघती, फौफटी, बनवारा, लांघवीर, बराडा जात्रा, झोंडा, भैला, खुसौडा, थाली, कुलाचार, झुमेलो, सुई आदि।

27. **उत्तर प्रदेश:** रामलीला, रासलीला, नौटंकी, चारकुला, जोगिनी, शैरा, धुरिया, छोलिया, छपेली, नटवरी, देवी, पाईडंडा, राई, दीप, ख्याल, नक्काल, स्वांग, दादरा, झूला आदि।

28. **पंजाब:** भांगडा, गिद्दा, मालवी गिद्दा, घूमर, कुरथी, कीकली, सम्मी, डंडास, लुड्डी, और जिंदुआ।

29. **पुड्डुचेरी:** गराडी

30. **राजस्थान:** गैर, चंग, डांडिया, बमरसिया, घूमर, तेरहताली, घुडला, शंकरिया, कच्छी घोडी, पणिहारी, बागडिया, गवरी, वालर, घुडला, गोवारी, कालबेलिया, गैर और भवाई आदि।

31. **दमन और दीव:** मांडो, वेरडीगाओ, वीरा।

32. **दादरा एवं नगर हवेली:** भावदा, तारपा, बोहाडा, तुर और थाली, ढोल, घेरिया।

33. **जम्मू कश्मीर:** रौफ या रऊफ, घमाली, हिक्कात, चक्कारी, कूद जगराना, जाब्रो, लाडीशाह आदि।

चौंसठ कलाओं का परिचय

प्राचीन साहित्य में वर्णित चौंसठ कलाओं में नृत्य को भी कला के रूप में स्वीकृती दी गयी है। हालाँकि इनके नामों पर विभिन्न विद्वानों में मतभेद है लेकिन संख्या को लेकर ये सभी एकमत हैं। टीकाकार जयमंगल के अनुसार इन कलाओं की सूची इस प्रकार है-

1. *गीत कला*
2. *वाद्य कला*
3. *नृत्य कला*
4. *आलेख्य कला*
5. *विशेषकच्छेद्य कला (मस्तक पर तिलक लगाने के लिये कागज, पत्ती आदि काटकर आकार या साँचे बनाना)*
6. *तण्डुल-कुसुमबलिविकार कला (देव-पूजनादि के अवसर पर तरह-तरह के रंगे हुए चावल, जौ आदि वस्तुओं तथा रंगबिरंगे फूलों को विविध प्रकार से सजाना)*
7. *पुष्पास्तरण कला*
8. *दशनवसनांगराग कला (दाँत, वस्त्र तथा शरीर के अवयवों को रंगना)*
9. *मणिभूमिका-कर्म कला (घर के फर्श के कुछ भागों को मोती, मणि आदि रत्नों से जड़ना)*
10. *शयनरचन कला (पलंग लगाना)*
11. *उदकवाद्य (जलतरंग)*
12. *उदकाघात कला (दूसरों पर हाथों या पिचकारी से जल की चोट मारना)*
13. *चित्राश्च योगा कला (जड़ी-बूटियों से औषधियाँ बनाना)*
14. *माल्यग्रंथनविकल्प कला (माला गूँथना)*
15. *शेखरकापीड़योजन कला (स्त्रियों की चोटी पर पहनने के विविध अलंकारों के रूप में पुष्पों को गूँथना)*
16. *नेपथ्यप्रयोग कला (शरीर को वस्त्र, आभूषण, पुष्प आदि से सुसज्जित करना)*
17. *कर्णपत्रभंग कला (शंख, हाथीदाँत आदि के अनेक तरह के कान के आभूषण बनाना)*
18. *गंधयुक्ति कला (सुगंधित धूप बनाना)*
19. *भूषणयोजन कला*
20. *ऐन्द्रजाल कला (जादू के खेल)*
21. *कौचुमारयोग कला (बल-वीर्य बढ़ाने वाली औषधियाँ बनाना)*
22. *हस्तलाघव कला (हाथों की काम करने में फुर्ती और सफाई)*

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

23. विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकार-क्रिया कला (तरह-तरह के शाक, कढ़ी, रस, मिठाई आदि बनाने की क्रिया)
24. पानकरस-रागासव-योजन कला (विविध प्रकार के शर्बत, आसव आदि बनाना)
25. सूचीवान कर्म कला (सुई का काम, जैसे सीना, रफू करना, कसीदा काढ़ना, मोजे-गंजी बुनना)
26. सूत्रक्रीड़ा कला (तागे या डोरियों से खेलना; जैसे कठपुतली का खेल)
27. वीणाडमरूकवाद्य कला
28. प्रहेलिका कला (पहेलियाँ बूझना)
29. प्रतिमाला कला (श्लोक आदि कविता पढ़ने की मनोरंजक रीति)
30. दुर्वाचकयोग कला (ऐसे श्लोक आदि पढ़ना जिनका अर्थ और उच्चारण दोनों कठिन हों)
31. पुस्तक-वाचन कला
32. नाटकाख्यायिका दर्शन कला
33. काव्य समस्यापूरण कला
34. पट्टिकावेत्रवानविकल्प कला (पीढ़ा, आसन, कुर्सी, पलंग, मोढ़े आदि वस्तुएँ बेंत आदि सामग्रियों से बनाना)
35. तक्षकर्म कला (लकड़ी, धातु को विभिन्न आकारों में काटना)
36. तक्षण कला (बढ़ई का काम)
37. वास्तुविद्या कला
38. रूप्यरत्नपरीक्षा कला (सिक्के, रत्न आदि की परीक्षा करना)
39. धातुवाद कला (पीतल आदि धातुओं को मिलाना, शुद्ध करना आदि)
40. मणिरागाकर ज्ञान कला (मणि आदि को रंगना, खान आदि के विषय का ज्ञान)
41. वृक्षायुर्वेदयोग कला
42. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि कला (मेंढे, मुर्गे, तीतर आदि को लड़ाना)
43. शुकसारिका प्रलापन कला (तोता-मैना आदि को बोली सिखाना)
44. उत्सादन-संवाहन केशमर्दनकौशल कला (हाथ-पैरों से शरीर दबाना, केशों का मलना, उनका मैल दूर करना आदि)
45. अक्षरमुष्टि का कथन (अक्षरों को ऐसी युक्ति से कहना कि उस संकेत को जानने वाला ही उनका अर्थ समझे दूसरा नहीं; मुष्टिसंकेत द्वारा बातचीत करना जैसे दलाल आदि कर लेते हैं)
46. म्लेच्छित विकल्प कला (ऐसे संकेत से लिखना, जिसे उस संकेत को जानने वाला ही समझे)
47. देशभाषा-विज्ञान कला
48. पुष्पशकटिका कला
49. निमित्तज्ञान कला (शकुन जानना)
50. यंत्र मातृका कला (विविध प्रकार के मशीन, कल-पुर्जे आदि बनाना)
51. धारणमातृका कला (सुनी हुई बातों का स्मरण रखना)
52. संपाठ्य कला
53. मानसी काव्य-क्रिया कला (किसी श्लोक में छोड़े हुए पद को मन से पूरा करना)
54. अभिधानकोष कला
55. छन्दोज्ञान कला
56. क्रियाकल्प कला (काव्यालंकारों का ज्ञान)
57. छलितक योग कला (रूप और बोली छिपाना)
58. वस्त्रगोपन कला (शरीर के अंगों को छोटे या बड़े वस्त्रों से यथायोग्य ढँकना)
59. द्यूतविशेष कला
60. आकर्ष-क्रीड़ा कला (पासों से खेलना)
61. बालक्रीड़न कला
62. वैनयिकी ज्ञान कला (अपने और पराये से विनयपूर्वक शिष्टाचार करना)
63. वैजयिकी-ज्ञान कला (विजय प्राप्त करने की विद्या अर्थात् शस्त्रविद्या)
64. व्यायाम विद्या कला

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

संगीत *(Music)*

संगीत क्या है

प्राकृतिक ध्वनियां कई प्रकार की होती हैं लेकिन जिन ध्वनियों में लय होती है केवल वही संगीत के लिए उपयोगी हैं, बाकी ध्वनियों का संगीत से कोई सरोकार नहीं है। संगीत भाव उत्पन्न करने वाली ध्वनियों से पैदा होता है। भाव लाने वाली ध्वनियां ही गान का आधार हैं। संगीत शब्द गीत में सम् जोड़ने से बना है। सम् का आशय है सहित और गीत यानी कि गान। नृत्य और वादन के साथ किया गया गान ही संगीत है। भारतीय संगीत की अवधारणा में गायन, वादन और नृत्य अवश्य ही तीन अलग-अलग कलाएं स्वीकार की गयीं हैं लेकिन तीनों का मेल संगीत कहलाता है।

संगीत का इतिहास

संगीत का इतिहास देखें तो हम पाते हैं कि पौराणिक गाथाओं में इंद्र की सभा का उल्लेख कई जगह मिलता है जहां देवराज अपने सहयोगियों के साथ संगीत का आनंद ले रहे हैं। उनकी सभा में हमें गायक, नर्तक, और वादकों की उपस्थिति का जिक्र मिलता है। कथाओं में दृश्य वर्णन में गंधर्व गाते हैं। अप्सराएं नृत्य कर रही होती हैं और किन्नर वाद्य बजा रहे होते हैं।

संगीत की सामाजिक जीवन में उपस्थिति के प्रारंभिक प्रमाण हमें सिंधु घाटी की सभ्यता में मिलते हैं। खुदाई में ऐसी मूर्तियां भी मिली हैं जिनमें ढोल बजाते हुए लोग बनाये गये हैं। कई मूर्तियों में नृत्य की भंगिमाएं हैं। नर्तकी की एक प्रसिद्ध मूर्ति कमर पर हाथ रखकर खड़ी है लगता है नृत्य करने ही जा रही है।

वैदिक युग के ग्रंथ ऋग्वेद में जिक्र मिलता है कि आर्यों के मनोरंजन का मुख्य साधन संगीत था। इस युग का ग्रंथ सामवेद भारतीय संगीत का मूल माना गया है। इस ग्रंथ में देवताओं की स्तुति करते हुए गाये जाने वाले मंत्रों का वर्णन मिलता है। सामवेद में उच्चारण के हिसाब से तीन प्रकार के स्वरों और संगीत के हिसाब से सात प्रकार के स्वरों का उल्लेख मिलता है। इसके अलावा रामायण और महाभारत में कई ऐसे प्रसंगों का उल्लेख है जहां संगीत की उपस्थिति देखी जा सकती है। तैत्तिरीय उपनिषद, शतपथ ब्राह्मण, याज्ञवल्क्य-रत्न प्रदीपिका और नारदीय शिक्षा प्रभृति आदि ग्रंथों में उस समय के संगीत का परिचय मिलता है। लेकिन संगीत की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है। इस ग्रंथ के छह अध्यायों में संगीत पर चर्चा की गई है। इसमें विभिन्न वाद्य और उन्हें बजाने, छंद, लय और तालों का वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ में छह रागों यथा राग भैरव, राग हिंडोल, राग कौशिक, राग दीपक, राग श्रीराग और राग मेघ का वर्णन मिलता है। इसी तरह का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मतंग मुनि का वृहद् देशी है। इसका रचना काल पाँचवी सदी का है। संगीत के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में नारद कृत नारदीय शिक्षा और संगीत मकरंद हैं।

आगे चलकर भारतीय संगीत में दो शास्त्रीय परंपराएं विकसित हुईं। जो शास्त्रीय परंपरा उत्तर भारत में चली, उसे उत्तर भारतीय संगीत कहा गया जबकि जो धारा दक्षिण में बलवती हुई, उसे कर्नाटकी संगीत कहा गया। इन दोनों शास्त्रीय परंपराओं के अलावा लोक संगीत भी विकसित और पल्लवित होता रहा। ये तीनों धाराएं आज भी प्रचलन में हैं और एक-दूसरे को प्रभावित कर रही हैं। इसके अलावा उपशास्त्रीय संगीत भी प्रचलन में है। उपशास्त्रीय संगीत में, शास्त्रीय संगीत की तुलना में गायक को थोड़ी बहुत छूट रहती है।

आधुनिक काल में उन्नीसवीं सदी में संगीत में क्रांतिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। हुआ यह कि संगीत के दो विद्वानों ने संगीत के स्वरों की लिपि तैयार की ताकि संगीत को लिखा जा सके। ये विद्वान थे विष्णु नारायण भातखंडे और विष्णु दिगम्बर पलुस्कर। उस समय तक जो संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध थे, वे अधिकांशत: संस्कृत में थे और उन्हें समझना अपेक्षाकृत जटिल था। दूसरी समस्या यह थी कि संगीत को सुन-सुन कर ही लोगों ने सीखा और पीढ़ी दर पीढ़ी संगीत ऐसे ही विकसित हुआ। इसका एक दुष्परिणाम यह था कि संगीत की कई बारीकियां नष्ट हो गईं या परिवर्तित हो गयीं। इसका समाधान केवल यही था कि संगीत की लिपि को कागज पर लिख लिया जाए ताकि उसमें परिवर्तन की स्थिति का भान हो सके।

संगीत के सात स्वर

ध्वनि या नाद दो प्रकार का होता है, आहत और अनाहत। आहत नाद हम सुन सकते हैं और अनाहत हमें सुनाई नहीं देता। इस आहत नाद से ही संगीत का जन्म होता है। यह हम तक कंपन के जरिए पहुँचता है। संगीत में सात स्वर तय किये गये हैं। ये हैं- षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इन्हीं नामों का पहला अक्षर लेकर इन्हें क्रमश: सा, रे ग, म, प, ध, नि कहा गया है। इसमें स यानी षडज और प यानि पंचम को अचल माना गया है क्योंकि गाते समय ये स्वर अपनी जगह से आगे-पीछे नहीं होते। जबकि शेष पाँच स्वर अपनी जगह से आगे या पीछे हो सकते हैं। इसलिए इन्हें विकृत या विकारी स्वर कहा गया। जब स्वर अपने स्थान से नीचे आयेगा तो उसे कोमल स्वर और जब ऊपर की तरफ आयेगा तो उसे तीव्र स्वर कहते हैं।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इन सात स्वरों में से रे, ग, ध और नि शुद्ध स्वरों के अतिरिक्त कोमल और 'म' तीव्र बनता है। इस प्रकार से सात शुद्ध स्वर, चार कोमल और एक तीव्र को मिलाकर 12 स्वर तैयार होते हैं, जिसे सरगम कहा जाता है।

सप्तक-अर्थात सात। सात शुद्ध स्वरों को सप्तक कहा गया है। भारतीय संगीत में ध्वनि के नीचे से ऊपर होने के आधार पर तीन सप्तकों को स्वीकार किया गया है। जब ध्वनि साधारण होती हैं तो उसे मध्य सप्तक कहते हैं। इसी मध्य सप्तक को आधार बनाकर कहा जाता है कि जब ध्वनि इससे ऊपर हो तो वह तार सप्तक है। यानि तार सप्तक में ध्वनि ऊँची होती है। इसी तरह जब मध्य सप्तक से ध्वनि नीची हो तो उसे मंद्र सप्तक कहते हैं।

क्या होते हैं राग

बारह सुरों के मेल से कई राग बनाये गये हैं। 15वीं शताब्दी में कवि लोचन लिखित राग-तरंगिणी में 16 हजार रागों का उल्लेख किया गया है। उन्होंने इन रागों का कुछ निश्चित आधारों पर वर्गीकरण किया और उन्हें 12 वर्गों में रखा। यानी एक वर्ग के रागों में परस्पर कुछ समानता अवश्य होगी। रागों के वर्गीकरण का काम कई अन्य विद्वानों ने किया और इस पर एक बहस चलती रही। भातखंडे ने इस बहस का समापन करते हुए कहा कि सारे राग केवल दस वर्गों में समा सकते हैं। इन वर्गों को थाट या ठाठ कहते हैं।

इनकी सूची इस प्रकार है-

1. कल्याण (यमन) ठाठ : यमन, भूपाली, केदार, हिंडोल आदि।
2. बिलावल ठाठ : बिलावल, बिहाग, पहाड़ी दुर्गा आदि।
3. खमाज ठाठ : खमाज, झिंझोटी, तिलंग, जयजयवंती, आदि।
4. भैरव ठाठ : भैरव, अहीर भैरव, गुणकली, जोगिया आदि।
5. पूर्वी ठाठ : पूर्वी, परियाधनाश्री, वसंत आदि।
6. आसावरी ठाठ : आसावरी, जौनपुरी आदि।
7. काफी ठाठ : काफी, भीमपलासी, पीलू, मेघ, मल्हार आदि।
8. भैरवी ठाठ : भैरवी, मालकौंस आदि।
9. तोड़ी ठाठ : 14 प्रकारों की तोड़ी, मुल्तानी आदि।
10. मारवा ठाठ : मारवा, भटियार, विभास ललित आदि।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में समयानुसार गायन प्रस्तुत करने की पद्धति है और यह प्राचीन काल से चला आ रहा है। संगीत आचार्यों ने दिन के चौबीस घंटों को पहले दो भाग में बाँटा। प्रथम भाग दिन के बारह बजे से रात्रि के बारह बजे तक और दूसरा रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे तक माना गया है। इसमें प्रथम भाग को पूर्वभाग और दूसरे को उत्तर भाग कहा जाता है। इन भागों में जिन रागों का प्रयोग होता है उन्हें सांगीतिक भाषा में 'पूर्वांगवादी राग' और 'उत्तरांगवादी राग' भी कहते हैं। जिन रागों का वादी स्वर जब सप्तक के पूर्वांग अर्थात् 'सा, रे, ग, म' इन स्वरों में से होता है, तो वे 'पूर्वांगवादी राग' कहे जाते हैं, तथा जिन रागों का वादी स्वर सप्तक के उत्तरांग अर्थात् 'प, ध, नि, सा' इन स्वरों में से होता है, वे 'उत्तरांगवादी राग' कहे जाते हैं।

रागों का समयानुसार वर्गीकरण

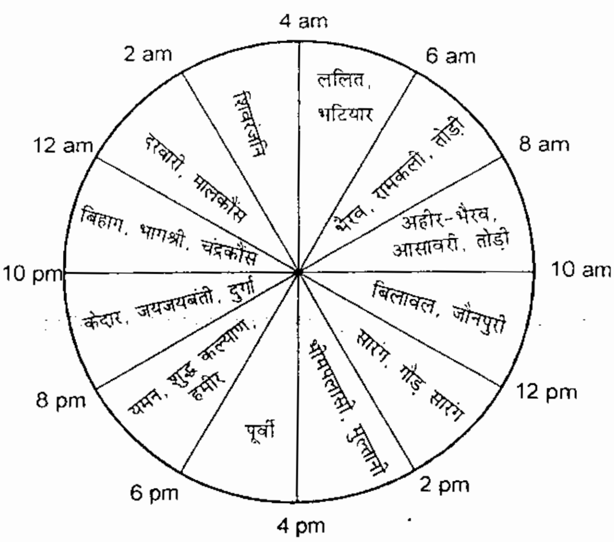

Copyright– Drishti The Vision Foundation

प्राचीन काल में राग के दस लक्षण माने जाते थे, जिनके नाम हैं-ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, षाडवत्व, ओडवत्व, अल्पत्व, बहुत्व, मंद और तार। इनमें से कुछ लक्षण आज भी परिवर्तित रूप में प्रयोग किये जाते हैं। आधुनिक समय में राग के निम्नलिखित लक्षण माने जाते हैं-

1. ऊपर यह बताया गया है कि वह रचना जो कानों को अच्छी लगे, राग कहलाती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि राग का प्रथम लक्षण या विशेषता है कि प्रत्येक राग में रंजकता अवश्य होनी चाहिए।
2. राग में कम से कम पाँच और अधिक से सात स्वर होने चाहिए। पाँच स्वरों से कम का राग नहीं होता है।
3. प्रत्येक राग को किसी न किसी ठाट से उत्पन्न माना गया है। जैसे राग भूपाली को कल्याण ठाट से और राग बागेश्वरी को काफी ठाट से उत्पन्न माना गया है।
4. किसी भी राग में षडज अर्थात् सा कभी वर्जित नहीं होता क्योंकि यह सप्तक का आधार स्वर होता है।
5. प्रत्येक राग में म और प में से कम से कम एक स्वर अवश्य चाहिए। दोनों स्वर एक साथ वर्जित नहीं होते। अगर किसी राग में प के साथ शुद्ध म भी वर्जित है, तो उसमें तीव्र म अवश्य रहता है। भूपाली राग में म वर्जित है तो मालकोश में प किंतु कोई राग ऐसा नहीं है जिसमें म और प दोनों एक साथ वर्ज्य होते हों।
6. प्रत्येक राग में आरोह-अवरोह, वादी-संवादी, पकड़, समय आदि आवश्यक हैं।
7. राग में किसी स्वर के दोनों रूप एक साथ एक दूसरे के बाद प्रयोग नहीं किये जाने चाहिए। उदाहरणार्थ कोमल रे और शुद्ध रे अथवा कोमल ग और शुद्ध ग दोनों किसी राग में एक साथ नहीं आने चाहिए। यह अवश्य ही संभव है कि आरोह में शुद्ध प्रयोग किया जाए और अवरोह में कोमल जैसे खमाज राग के आरोह में शुद्ध नि और अवरोह में कोमल नि प्रयोग किया जाता है।

संगीत का वर्गीकरण

संगीत को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है- शास्त्रीय यानी पूरी तरह नियमबद्ध संगीत, दूसरा उपशास्त्रीय संगीत जिसमें संगीत के नियमों का पर्याप्त कठोरता से पालन नहीं होता है, जबकि लोकगीत में लोकजीवन की सुगंध बही होती है। इन तीनों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

शास्त्रीय संगीत-

शास्त्रीय संगीत अर्थात नियमों में बंधा हुआ, शास्त्र सम्मत। ऐसा संगीत जिसकी रचना, गायन और वादन पूरी तरह से नियमबद्ध हो। इन नियमों का कठोरता से पालन करना अनिवार्य होता है। शास्त्रीय संगीत एक ऐसी शैली है जिसके नियमों का पालन करने के लिए गायक को लंबे समय तक नियमित अभ्यास करना होता है। इस अभ्यास को रियाज भी कहते हैं। शास्त्रीय संगीत की शैली में ध्रुवपद या ध्रुपद प्रमुख है। इसके अलावा इसमें ख्याल, धमार चतुरंग, सादरा, तराना, त्रिवट आदि शैलियाँ शामिल हैं।

ध्रुपद का आशय स्थिर या अचल से है। यह एक प्राचीन शैली है। यह बेहद गंभीरता लिए होती है और इसे विलंबित गति से शुरू किया जाता है लेकिन गायन की गति का धीरे-धीरे विस्तार किया जाता है। इस शैली के प्रमुख गायकों में डागर बंधु, गुंडेचा बंधु, पंडित रामचतुर मल्लिक, पंडित सियाराम तिवारी शामिल हैं। इस प्रकार की गायकी को मर्दाना गायकी भी कहा गया है क्योंकि यह माना जाता है कि यह गायकी मुश्किल है और पुरुष ही इसे गा सकते हैं हालाँकि हाल के दिनों में कुछ महिलाओं ने इस शैली में गाकर नई शुरुआत की है। इसमें पाकिस्तान के लाहौर की राशिद आलिया प्रमुख हैं।

ख्याल यानी कल्पना। आधुनिक दौर में ख्याल शैली की गायकी ज्यादा प्रचलन में है। जहाँ एक ओर ध्रुपद विशुद्ध भारतीय संगीत है। वहीं ख्याल शैली में भारतीय और फारसी शैली का मिश्रण है। माना जाता है कि खिलजी काल के बहुमुखी प्रतिभा के धनी अमीर खुसरो ने गायन का परिशोधन किया। बाद में शर्की शासक हुसैन शाह शर्की ने भी इस शैली को प्रोत्साहित किया। यह शैली 18वीं सदी में एक बार फिर परवान चढ़ी और तत्कालीन मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीला के दरबार में अदारंग (फिरोज खाँ) और सदारंग (नियामत खाँ) नाम के गायकों ने इस शैली में कई गीत रचे। इसी तरह तराना शैली की खोज का श्रेय अमीर खुसरो को है। तराना को कर्नाटकी शैली में थिल्लाना शैली के समकक्ष रखा जाता है।

उपशास्त्रीय संगीत-

उपशास्त्रीय संगीत में, शास्त्रीय संगीत की तुलना में कम सख्ती के साथ स्वरों, रागों के नियमों का पालन किया जाता है। आशय यह है कि उपशास्त्रीय संगीत में गायक को थोड़ी बहुत छूट मिली रहती है। इसमें राग, ताल और लय में ज्यादा मधुरता और शोखी नजर आती है। इसमें ठुमरी, टप्पा, दादरा, कजरी, चैती और गजल आदि शामिल हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

ठुमरी का जन्म लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह (1847-1856) के दरबार में हुआ हालाँकि इससे मिलती जुलती शैलियाँ पहले से भी चली आ रही थीं। ठुमरी के अधिकतर गीत 'पिया' उपनाम से लिखने वालों की हैं। इसमें बरेली के रहने वाले तवक्कुल हुसैन खाँ या सनद पिया, लखनऊ के नजर अली या नजर पिया, कल्ले खाँ या सरस पिया ने लिखी थी। इस शैली के गायकों में ग्वालियर के राजकुमार गणपत राव, बनारस की सिद्धेश्वरी देवी और गिरिजा देवी आदि प्रसिद्ध हैं।

लखनऊ के नवाब आसफ उद्दौला (1775-1797) के दरबार में पंजाबी लोकगायक मियाँ शोरी ने शास्त्रीय संगीत की विशेषताएँ मिला कर टप्पा शैली विकसित की।

प्रेमी से बातचीत की शैली को गजल शैली कहते हैं। गजल में पहला शेर या दो लाइनों की तुकबंदी को मत्ला और अंतिम शेर को मक्ता कहा जाता है। गजलों की लोकप्रियता सल्तनत काल में भी थी।

प्रेमी की जब ईश्वर से बात होती है तो उसे कव्वाली कहा जाता है। कव्वाली मुख्य गायक के नेतृत्व में समूह में गायी जाती है। कव्वाली सूफियों की देन है और इसमें सवाल-जवाब का तरीका भी अपनाया जाता है।

लोक संगीत-

देश में लोक संगीत की भी विशद परंपरा है। लोकजीवन से निकला यह संगीत ही लोक संगीत कहलाता है। ये गीत फसल कटने, विवाह, त्यौहारों और यहाँ तक मृत्यु जैसे दुखद अवसरों पर गाये जाते हैं। लोक संगीत किसी प्रकार के जटिल नियमों में बँधे नहीं होते।

इसका दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि इसमें समाज की व्यापक भागीदारी होती है। जैसे -

सोहर, खेलौनो, कोहवर, समुझ बनी - इसे बच्चे के जन्म पर गाया जाता है।

घोडी, बन्ना, मांड्वा, भात, बिरहा, गारी - इन गीतों को विवाह के विभिन्न अवसरों पर गाया जाता है।

फाग: ऋतुगीतों में फाग प्रमुख गीत है। फाग गीत मुख्य रूप से पुरुषों का गीत है जो बसंत पंचमी से लेकर होलिकादहन के सवेरे तक गाया जाता है। अवधी, ब्रज, राजस्थानी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, बैसवाड़ी, बघेली, भोजपुरी आदि अनेक बोलियों में फाग संबंधी गीत गाए जाते हैं। फाग के होली, चौताल, डेढ़ताल, तिनताल, देलवइया, उलारा, चहका, लेज, झूमर और कबीर आदि अनेक प्रकार हैं। इन सब में केवल धुनों का अंतर है।

पावस: पावस गीतों की भी बहुक्षेत्रीय परंपरा है। ये गीत उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में न्यूनाधिक मात्रा में पाए जाते हैं किंतु अवधी और भोजपुरी में अधिक प्रचलित हैं। इन दोनों क्षेत्रों में इन्हें कजली अथवा कजरी कहा जाता है।

विभिन्न राज्यों के लोकगीत इस प्रकार हैं-

राजस्थानी लोकगीत-

राजस्थान का लोकगीत साहित्य बहुत समृद्ध है। जन्म के गीत सोहर को यहाँ 'हालरा' कहते हैं। 'झाडूलो' मुंडन के गीतों को कहते हैं। यहाँ प्रत्येक शुभ कार्य की पूर्ति के लिए स्त्रियों द्वारा विनायक गीत गाकर गणेश को प्रसन्न करने की परंपरा है। यहाँ कामण या जादू-टोना नामक एक गीत गाया जाता है। यह गीत उस समय गाया जाता है जब बारात विवाह के लिए वर के घर से चलती है। इसी प्रकार बधावे भी विदाई गीत हैं।

राजस्थानी स्त्रियाँ कार्तिक शुल्क पक्ष में तुलसी का त्यौहार मनाती हैं। तीन दिनों का व्रत रखती हैं। कुँवारी लड़कियों का त्यौहार गँवर है जो उत्तम वर की प्राप्ति के लिए चैत मास में होलिकादहन के दूसरे दिन से शुक्ल तृतीय तक मनाया जाता है। इसे गणगौर भी कहते हैं। पूजन करने वाली कन्याएँ 'घुड़ला' (छिद्रोंवाला घड़ा जिसमें दीपक जलता रहता है) लेकर गाती हुई अपने सगे संबंधियों के यहाँ जाती हैं। इसे घुड़ला घुमाना कहा जाता है। पनिहारी गीत राजस्थान का प्रमुख लोकगीत है। इसे पनिहारिनों द्वारा सामूहिक रूप से सिर पर जल से भरे घड़े लेकर घर आते-जाते गाया जाता है। इसके अतिरिक्त गोगोजी रामदेव जी उमादे (रूठी रानी) की गीतकथा (जो जैसलमेर के रावल लूणकरण की लड़की थी), राजपूत जोर सिंह तथा 'राणा काछवे' के पद्यगीत भी खूब गाए जाते हैं।

ढोला मारू रा दूहा: राजस्थान की लोक कथाओं में बहुत सी प्रेम कथाएँ प्रचलित हैं पर इन सबमें ढोला मारू प्रेम गाथा विशेष लोकप्रिय रही है। इस गाथा की लोकप्रियता का अंदाजा इसी बात से लगाया जाता है कि आठवीं सदी की इस घटना का नायक ढोला राजस्थान में आज भी एक प्रेमी नायक के रूप में स्मरण किया जाता है और प्रत्येक पति-पत्नी की सुंदर जोड़ी को ढोला-मारू की उपमा दी जाती है। यही नहीं आज भी लोक गीतों में स्त्रियाँ अपने प्रियतम को ढोला के नाम से ही संबोधित करती हैं, ढोला शब्द पति शब्द का पर्यायवाची ही बन चूका है। राजस्थान की ग्रामीण स्त्रियाँ आज भी विभिन्न मौकों पर ढोला-मारू के गीत बड़े चाव से गाती हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मांड: ये गीत राजस्थान के मारवाड़ इलाके में राजाओं के दरबारों में आगमन और अन्य जगहों पर आगमन के अवसरों पर गाये जाते हैं।

गाथा गीत: राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित विविध लोकगाथाओं पर आधारित इन गाथा गीतों को निम्न श्रेणियों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है-

1. **लोरिकायन** - वीर रस से परिपूर्ण इस लोकगाथा में गायक लोरिक के जीवन-प्रसंगों का जिस भाव से वर्णन करता है, वह देखते-सुनते ही बनता है।
2. **नयका बंजारा** - राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में गाये जाने वाले लोक गीतों में प्राय: विषय-वस्तु तो एक ही होती है, किंतु स्थान, पात्र तथा चरित्रों में विविधता के दर्शन होते हैं।
3. **विजमैल** - राजा विजयमल की वीरता का बखान करने वाली इस लोकगाथा में बढ़ा-चढ़ाकर प्रचलित गाथा का वर्णन किया जाता है।
4. **सलहेस** - एक लोककथा के अनुसार, सलहेस, दौना नामक एक फूल बेचने वाली का प्रेमी था। उसके एक शत्रु ने ईर्ष्यावश सलहेस को चोरी के झूठे आरोप में बंद करवा दिया। दौना मालिन ने अपने प्रेमी सलहेस को किस प्रकार मुक्त कराया, बस इसी प्रकरण को इस लोक गीत में भाव-विभोर होकर गाया जाता है।
5. **दीना भदरी** - इस लोक गीत में दीना तथा भदरी नामक दो भाइयों के वीरता का वर्णन मार्मिकता से गाया जाता है। इसके साथ ही राज्य के विभिन्न अंचलों में राजा ढोलन सिंह, छतरी चौहान, नूनाचार, लुकंसरी देवी, कालिदास, मनसाराम, छेछनमल, लालू महाराज, गरबी दयाल सिंह, मीरायन, हिरनी-बिरनी, कुँअर बृजभार, राजा विक्रमादित्य, बिहुला, गोपीचंद, अमर सिंह, बरिया, राजा हरिश्चंद्र, कारू खिर हैर, मैनावती आदि के जीवन एवं उनकी वीरता भरी गाथाओं को राज्य के गाथा-गीतों के रूप में गाया जाता है।

   आल्हा: वीर रस से भरपूर एवं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन वाले गीतों को खुशी के मौकों पर गाया जाता है।

ब्रज के लोकगीत-

ब्रज के क्षेत्र में आगरा, मथुरा, अलीगढ़, बरेली, बदायूँ, इटावा आदि जिलों का क्षेत्र आता है। यहाँ के निवासियों द्वारा गाए जाने वाले गीत भाषा और भाव की दृष्टि से अत्यंत सरस होते हैं। जन्म के गीतों में सोभर (सोहर), ननंद-भावज, नेत्र के गीत, छठी के गीत प्रसिद्ध हैं। विवाह के गीतों में सगाई, पीली चिट्ठी, लगुन, रतजगे के गीत, मुख्य हैं। त्योहार आदि के गीतों में देवीगीत, जाहर पीर, एकादशी का गीत, श्रावण गीत, कार्तिक के गीत, देवोठान के गीत और होली उल्लेखनीय हैं। प्रबंध गीतों में पवाँर, बहुला, सरमन (श्रवण) ढोला, मदारी का ढोला, लवकुश के गीत और हिरनावती अधिक गाए जाते हैं। अन्य गीतों में टेसू माझी के गीत, चिड़ियों के गीत, तीर्थों के गीत, पुरहे के गीत, सिला बीनने के गीत, बधाया और हीरों का नाम आता है। मृत्यु के समय यहाँ की स्त्रियाँ भी हिंदीभाषी अन्य क्षेत्रों की भाँति पद्यमय विलाप करती हैं।

रूहेलखंड के लोकगीत-

रूहेलखंड का इलाका बरेली, रामपुर, बदायूँ, अलीगढ़ आदि जिलों में फैला हुआ है। चारबैत रूहेलों का प्रसिद्ध संगीत है। चारबैत की परंपरा रूहेला पठानों के कारण पड़ी। ये पठान पश्तो बोलते थे और पश्तो में चारबैत को चरबैत्यह कहते हैं। यह चरबैत्यह ही इन रूहेला पठानों का संगीत था। इसे कव्वाली की तरह समूह में गाया जाता है। इस समूह को अखाड़ा भी कहा जाता है। चारबैत डफ की धुन पर गाया जाता है। ऊँची तान को प्रशंसनीय समझा जाता है। अंग्रेजों से हारने के बाद रूहेला रियासत खत्म हो गयी और इस संगीत में स्थानीयता का समावेश होने लगा। इसे खुशी और शोक दोनों अवसरों पर गाया जाता है। प्राय: सावन के महीने में यह ज्यादा गाया जाता है।

चारबैत के अलावा यहाँ ढोला भी गाया जाता है। यह स्थानीय लोक कथाओं पर आधारित संगीत है। इसमें 'मारू का गौना' ज्यादा लोकप्रिय है। ढोला गायन में ओमप्रकाश उर्फ प्रकाश भैया का नाम अग्रणी है। यहाँ पर आल्हा गाने की परंपरा भी है।

छत्तीसगढ़ के लोकगीत-

छत्तीसगढ़ में देवी गीत, बारहमासा, भोजली गीत, ददरिया, डंडा गीत, होली, गहिरागीत, बांसगीत, पुतरा-पुतरी के गीत, मंडप गान, छैला और सोहर के गीत गाये जाते हैं। बोली के अंतर से देवीगीत, बारहमासा, होली और सोहर अन्य बोलियों के गीतों की भाँति होते हैं। भोजली गीत रक्षाबंधन के दिन गाया जाता है। जैसे उत्तर प्रदेश में कजली के दिनों जई बोई जाती है उसी प्रकार यहाँ भोजली लगाई जाती है। रक्षाबंधन के दिन भोजली का जुलूस निकलता है। भोजली तालाब में सिराई जाती है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

डंडा गीत वर्ष में दो बार, क्वार तथा फागुन में, पुरुषों द्वारा डंडा नृत्य के समय गाया जाता है। नाचते-गाते समय गायक एक दूसरे के डंडे पर एक साथ मारते हैं। एक आदमी 'कुट्टी' शब्द का उच्चारण करता है जिसे कुट्टकी पाड़ना कहते हैं। इसके बाद नृत्य के साथ गीत आरंभ हो जाता है। गीत गाते समय उई शब्द से ताल का संकेत किया जाता है।

रावतों द्वारा कार्तिक एकादशी से पूर्णिमा तक गहिरा गीत गाया जाता है। गाते समय लाठी से पैंतरा भी भाँजते हैं। रावत जिनकी गाय चराते हैं उनके दरवाजे पर जाकर गीत गाते हैं। रावतों का ही दूसरा गीत बाँस गीत है। इसके अलावा छत्तीसगढ़ पुतरा-पुतरी गीत भी शादी के अवसर पर गाया जाता है।

गोंड जनजाति के लोकगीत-

गोंड जनजाति की बोली का लोक साहित्य काफी धनी है। इस बोली में गीत को 'पाटा' और गाने को बराना कहते हैं। ददरिया, करमा और सुवा इनके प्रमुख लोकगीत हैं।

ददरिया: यह एक श्रमगीत है जो महुआ बीनते, लकड़ी तोड़ते, पत्ते बटोरते समय या खेत-खलिहान में काम करते समय गाया जाता है। यह अकेले एवं समवेत रूप में भी गाया जाता है। इस क्षेत्र में इसे 'गीतों की रानी' कहा जाता है। स्त्री और पुरुष में से कोई एक गीत आरंभ करता है और दूसरा उसका उत्तर देता है। जब स्त्री ददरिया गाती है तो इसे साल्हों भी कहते हैं। मंडला की ओर इसे चाकर कहते हैं।

करमा गीत: करमा गीत भी है और नृत्य भी। छत्तीसगढ़ी रावतगणों द्वारा यह गीत करमसेन देवता को प्रसन्न करने के लिए गाया जाता है। इसके लिए भादों की पूर्णिमा को पर्व मनाया जाता है। करमा झूमर युवक और युवतियां द्वारा झूम-झूमकर गाया जाता है।

सूआ गीत: दीपावली के अवसर पर सूआ गीत गाया जाता है। स्त्रियाँ संज-धजकर तथा झुंड बनाकर चलती हैं और उनमें से एक स्त्री अपने सिर पर अनाज से भरी टोकरी लिए रहती है जिसमें मिट्टी के तोते का जोड़ा रखा रहता है। इनमें से एक शिव और दूसरा पार्वती का प्रतीक माना जाता है।

बुंदेलखंडी लोकगीत-

बुंदेली लोकगीत उत्तर प्रदेश के झांसी, जालौन, बांदा और हमीरपुर जिले में, ग्वालियर के विस्तृत क्षेत्र में और मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग में सागर, जबलपुर, छतरपुर, पन्ना, मंडला, होशंगाबाद और भोपाल के आस-पास गाए जाते हैं। फाग, विवाह, सोहर, देवीगीत जैसे व्यापक क्षेत्रवाले गीत यहाँ भी गाए जाते हैं। चूँकि आल्हा, ऊदल, छत्रसाल, हरदौल एवं झांसी की रानी का यह क्षेत्र रहा है, अतः इन लोकनायकों की लंबी-लंबी वीरगाथाएँ भी लोकगायकों द्वारा गाई जाती हैं। ब्रजभाषा के करीब होने के कारण सूर के अनेक पद यहाँ लोकगीत बन गए हैं और इसी तरह दूसरे गीत भी चलते हैं। बारात लौटने पर वर-वधू के स्वागत में जो गीत गाए जाते हैं उन्हें कहीं-कहीं 'सगुन चिरैया' भी कहते हैं। एक गीत है 'ब्याह ल्याए रघुवर जानकी जू को।' इस क्षेत्र में इसुरी नामक जनकवि द्वारा रचित फाग खूब प्रचलित है।

अवधी और भोजपुरी लोकगीत-

अवधी भाषाक्षेत्र में लखनऊ और फैजाबाद के आसपास के क्षेत्र आते हैं और भोजपुरी में बनारस, गोरखपुर, आरा के आसपास के क्षेत्र आते हैं। संस्कार के गीतों में सोहर, मुंडन, कनछेदन, जनेऊ, विवाह एवं गौना (बहू विदाई) के गीत दोनों क्षेत्रों में गाए जाते हैं। जातीय गीतों में एक गीत बिरहा है। कुछ बिरहे लंबे होते हैं और कुछ दो-दो, चार-चार पंक्तियों के छोटे बिरहे होते हैं। ऐसे बिरहों को पितमा कहते हैं। लंबे बिरहों में वीर अथवा श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। पौराणिक आख्यानों, वीर चरित्रों पर भी बिरहे होते हैं। विवाह तथा कुछ उत्सवों में नृत्य के साथ कहरवा गाया जाता है। चनैनी, नौवा इक्कड, मलहिया, गंगा गीत, बंजरवा या नयकवा गीत यहाँ के प्रसिद्ध गीत हैं। धार्मिक गीतों में देवीगीत, दोनों क्षेत्रों में चलते हैं। मेला गीत मेला अथवा तीर्थयात्रा को जाते समय स्त्रियों द्वारा राह में गाए जाते हैं। श्रमगीतों में जंतसार, पीसते समय गाया जाता है। 'निरवाही के गीत' खेत की निराई करते समय गाए जाते हैं।

ऋतुगीतों में तीन प्रकार के गीत आते हैं- होली, चैती और कजली। चैती चैत्र महीने में गाई जाती हैं। चैती गीतों की ऊपर तथा टेक की पंक्तियों में 'हो रामा' शब्द आता है। होली और चैती पुरुषों के गीत हैं। अब से लगभग 20 वर्ष पूर्व एक प्रकार का गीत स्त्रियों द्वारा फागुन में ही गाया जाता था जिसका नाम था 'मनोरा झूमक'।

कजली स्त्रियों का गीत है और पावस काल में गाया जाता है। इसके कई भेद हैं, जैसे टुनमुनियाँ, झूमर, बारहमासा और झूला गीत आदि। इस क्षेत्र में भी जननायकों की गाथाएँ लोकनायकों द्वारा गाई जाती हैं। नयकवा, बंजरवा, लोरिकी, विजयमल तथा सोरठी आदि प्रबंध गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। गद्य के साथ लोककथाओं में पद्य कहने की भी परंपरा है, जैसे शीत वसंत, जरेवा-परेवा और सदाबृज सारंगा की कथाएँ। अन्य प्रकार के गीतों में लोरियाँ, लचारियाँ दोनों क्षेत्रों में चलती हैं। किंतु पूर्वी और बिदेसिया भोजपुरी के लोकगीत हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मैथिली लोकगीत-

मैथिली लोकगीत बिहार के चंपारन, दरभंगा, पूर्वी मुंगेर, भागलपुर, पश्चिमी पूर्णिया और मुजफ्फरपुर के पूर्वी भाग के गामीणों द्वारा गाए जाते हैं। सोहर, यज्ञोपवीत के गीत, संमरि लग्न, गीत, नचारी, समदाउनि, झूमरतिरहुति, बरगमनी, फाग, चैतावर, मलार, मधु श्रावणी, छठे के गीत, स्यामाचकेवा, जट जटिन और बारहमासा यहाँ के मुख्य लोकगीत हैं। नचारी गीत प्राय: शिवचरित्र से भरा रहता है। विद्यापति रचित नचारियाँ खूब गाई जाती हैं। समदाउनि प्रमुख बिदाई गीत है। जब लड़की ससुराल जाने लगती है तो यह गाया जाता है जो अत्यधिक करूण होता है। यथा 'बड़ रे जतन हम सिया जी के पोसलों से हो रघुबंसी ने जाय आहे सखिया'। इस गीत की बहुत सी धुनें होती हैं। झूमर गीत मुख्य रूप से शृंगारिक होता है और धुनों के अनुसार कई प्रकार से गाया जाता है। मैथिली क्षेत्र के झूमरों की खास विशेषता है कि उनमें अधिकांश संदेशसूचक होते हैं। हिंडोला के झूमर बहुत सरस होते हैं, जैसे छोटका देवर रामा बड़ा रे रंगिलवा, रेसम के डोरियवा देवरा बान्हथि हिंडोरवा। कुछ में स्त्री पुरुष के प्रश्नोत्तर होते हैं। 'तिरहुति' गीत स्त्रियों द्वारा फागुन में गाया जाता है। पहले यह गीत छह पदों का होता था, फिर आठ का हुआ और अब तो काफी लंबा होने लगा है। उसे साहित्य में तथा लोकजीवन में मान्यता भी मिल गई है। इसमें प्राय: विरह भावनाएँ होती हैं: 'मोंहि तेजि पिय मोरा गेलाह विदेस।' साहब राम, नंदलाल, भानुनाथ, रमापति, धनवति, कृष्णा, बुद्धि लाल, चंद्रनाथ, हर्षनाथ एवं बबुज नामक प्राचीन लोककवियों के तिरहुति खूब गाए जाते हैं। बटगमनी मुख्य रूप से राह का गीत है। मेले में जाती महिलाएँ, नदी किनारे से लौटती हुई पनिहारिनें प्राय: बटगमनी गाया करती हैं। इस गीत का एक नाम 'सजनी' भी है। इसमें संयोग और वियोग दोनों भावनाएँ होती हैं। ऐसे गीत की एक पंक्ति है- 'जखन गगन धन बरसल सजनि गे सुनि हहरत जिव मोर।' पावस ऋतु में स्त्रियाँ बिना बाजे के और पुरुष बाजे के साथ मलार गाते हैं जैसे-कारि कारि बदरा उमड़ि गगन लहरि बहे पुरवइया। मधुश्रावणी गीत इसी नाम के त्यौहार के समय गाया जाता है जो श्रावण शुक्ल तृतीया को मनाया जाता है। मधुश्रावणी नवविवाहितों का भविष्यबोधक है। यहाँ छठ के गीतों की विशद परंपरा भी है। छठ के गीत पूर्णत: धार्मिक गीत हैं और सौभाग्य तथा पतिप्रेम के दायक हैं। स्त्रियाँ गाती हैं- 'नदिया के तीरें तीरे बोअले में राई। छठी माई के मृगा चरियं चरियं जाइ।' इनके अतिरिक्त स्याम चकेवा एक खेल गीत है। जट जटिन एक अभिनय गीत है। जट (पुरुष पात्र) एक ओर और जटिन (स्त्री पात्र) दूसरी ओर सज-धजकर खड़ी होती है। दोनों ओर प्रधान पात्रों के पीछे पंक्तिबद्ध स्त्रियाँ खड़ी हो जाती हैं। इसके बाद जट-जटिन का सवाल-जवाब गीतों के माध्यम से आरंभ हो जाता है।

उत्तराखण्ड के लोकगीत-

उत्तराखण्ड के लोकगीतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है:- 1. संस्कार के गीत, जो नारियों द्वारा पुत्रजन्म, नामकरण, यज्ञोपवीत एवं विवाह के समय गाए जाते हैं तथा 2. मेलों, त्यौहारों और ऋतुओं के गीत। इस क्षेत्र के प्राय: सभी संस्कार शकुनाखरगीत से आरंभ होते हैं। इनमें देवताओं के कार्यसिद्धि की प्रार्थना की जाती है।

दूसरे प्रकार के गीतों में झोड़ा, चाँचरी, भगनौल और बैर प्रमुख हैं। इन गीतों में सामाजिक जीवन एवं समस्याओं की विशेष चर्चा रहती है। ये विभिन्न मेलों एवं उत्सवों के अवसर पर गाए जाते हैं। इन्हें कई गायक अथवा गायिकाएँ मिलकर गाती हैं। ऋतुगीतों को यहाँ 'ऋतुरेण' कहते हैं। ये गीत चैत्र मास में गाए जाते हैं। ऋतुरेण में मंगलसूचक एवं प्राकृतिक सौंदर्य की बहुलता होती है। ग्रामगायक 'औजी' जिन्हें ढोली भी कहते हैं, एक गीतबद्ध कथा सुनाते हैं, जो भाई-बहन के विशुद्ध स्नेह पर आधारित होता है। 'हंडुकिया बोल' यहाँ के किसानों का गीत है। यह गीत धान की रोपाई के अवसर पर नर-नारियों द्वारा गाया जाता है। इसमें स्थानीय नायकों (राणरौत रामीबौर हिसहित आदि) की गाथाएँ बद्ध होती हैं। प्रेम के फुटकर गीत भी खूब चलते हैं। बरुँश नामक लाल फूल प्रेमी का प्रतीक माना जाता है। अत: कई गीतों में इसका नाम आता है, जैसे 'पारा डाना बुरुंशी फुलै छ, में जे कौनूं मेरि हिरु ए रे छ।' नैनीताल से लेकर काठगोदाम तक के बीच के पर्वतीय क्षेत्र में एक अलिखित लोक महाकाव्य प्रचलित है जिसका नाम है 'राजूला मालूसाही'। कुमाऊँनी लोकसाहित्य में इसके समकक्ष की कोई रचना है ही नहीं। धर्मगाथाओं के अंतर्गत 'जागर' (जागरण) गीत अधिक प्रचलित हैं। उत्तरकाशी, पिथौरागढ़ एवं चमोली में प्रचलित पांडव नृत्य के समय जागर गीत गाए जाते हैं। इसमें महाभारत के विभिन्न आख्यान गीतबद्ध होते हैं। यह गीत क्रमश: द्रुततर होता जाता है। इसके अंतर्गत किसी एक व्यक्ति पर देवात्मा की अवतारणा की जाती है जब वह आत्मा उसके ऊपर अवतरित होती है, वह उठकर नाचने-गाने लगता है। भोलानाथ, एड़ी, ग्वाला आदि ग्रामदेवताओं के 'जागर' के अतिरिक्त नंदादेवी का 'वैसी जागर' इतना लंबा होता है कि व 22 दिनों में समाप्त होता है। घोड़ी नृत्य गीत भी चलता है। इसमें बाँस पर ओहार (पर्दा) डालकर घोड़ी बनाई जाती है जिसके बीच में नर्तक इस तरह खड़ा होकर घोड़ी को कमर से पकड़ता है कि वह सवार जैसा मालूम होता है। नर्तकों का जोड़ा तलवार भाँजता है, गायक गीत गाते हैं। भड़ौ नामक गीत प्राचीन जातीय वीरों, जिनमें दिगोली भाना, काले कहेड़ी, नागी भागी भल, सुपिया रौत और अंजुआ बफौल आदि के वृत्तांत होते हैं, वीरगाथाओं के रूप में गाया जाता है।

रवीन्द्र संगीत: यह गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित एक संगीत विधा है। इसने सामान्य रूप से भारत और विशेष रूप से बंगाल की संगीत अवधारणा में एक नया आयाम जोड़ा। इसमें स्रोत रूप में भारतीय शास्त्रीय संगीत और पारंपरिक लोक संगीत का उपयोग किया जाता है। टैगोर ने लगभग 2230 गीत लिखे थे। इन गीतों को बांग्लादेश और भारत दोनों देशों के बंगाल की सांस्कृतिक

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

माना गया है। इन गीतों के विषय विविध हैं और बंगाल की पारंपरिक विरासत की झलक प्रस्तुत करते हैं। रवीन्द्रसंगीत संगीत ...क विशिष्ट पद्धति के रूप में विकसित हुई है। इस शैली के कलाकार पारंपरिक पद्धति की कठोरता से सुरक्षा करने वाले माने ...है।

...गोर के गीतों के अंतर्निहित सौंदर्य और गहराई ने सत्यजीत रे, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, नितिन बोस, तपन सिन्हा और कुमार ... सहित अनेक फिल्म निर्माताओं को प्रेरित किया।

उनके 2000 अतुल्य गीतों का संग्रह गीतबितान (गीतों का बगीचा) के रूप में जाना जाता है। इस पुस्तक के चार प्रमुख हिस्से ...जा, प्रेम, प्रकृति और बिचित्रा।

इस शैली के चर्चित गायकों में कनिका बंद्योपाध्याय, देबव्रत विश्वास, सुमन चटर्जी, स्वागतालक्ष्मी दासगुप्ता, बनानी घोष, शान्तिदेव घोष, सुचित्रा मित्रा, हेमंत कुमार मुखोपाध्याय, पंकज मलिक (रवीन्द्रसंगीत का प्रथम पुरुष) आदि हैं।

संगीत में घराना परम्परा

संगीत में घराना शब्द का विशेष स्थान है। घराना का शाब्दिक अर्थ है- परम्परा, कुटुम्ब, वंश-परम्परा, परिवार, आदि। हिन्दुस्तानी संगीत एवं घराना एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। घराना रीति या शैली का ही दूसरा नाम है। अधिकतर संगीतकार किसी न किसी घराने से संबंधित हैं। घरानों के कारण ही प्राचीन भारतीय संगीत का स्वरूप सुरक्षित है। घरानों की गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा ही संगीत का प्राचीन रूप, सिद्धांतों एवं रचनाओं को जीवित रखते हुए नये प्रयोगों को भी स्थान मिला है जिससे प्राचीन सिद्धांत एवं रचनायें आज भी उतनी ही नयी एवं सामयिक हैं। घराने का निर्माण गुरु तथा शिष्य दोनों के संयोग से होता है। गुरु अपनी कला के किसी विशेष अंग पर विशेषज्ञता प्राप्त कर लेता है जिससे कि अन्य अंगों की अपेक्षा वह विशेष अंग उसकी कला में अद्भुत दिखाई पड़ता है। वही विशेषता वह अपने शिष्यों को भी सिखाता है।

मुख्यतः घराने का आरंभ ख्याल गायकी के साथ हुआ है। गायन की तरह वादन और नृत्य में भी घराने होते हैं। इन घरानों का नामकरण प्रायः इनकी उत्पत्ति के स्थान के नाम पर होता है। घरानों की स्थापना व्यक्तिगत पहचान, शैलीगत विशिष्टता आदि को दर्शाने के लिए भी होती रही है। इस तरह के घराने व्यक्ति विशेष के नाम से जाने जाते थे।

घरानों का प्रचलन उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत दोनों में समान रूप में पाया जाता है। उत्तर भारत में इसे घराना तथा दक्षिण भारत में इसे संप्रदाय कहते हैं।

कुछ घरानों का परिचय इस प्रकार है-

दिल्ली घराना: ख्याल गायकी का दिल्ली घराना भारत के सबसे प्राचीन घरानों में से है। गुरु मियां अचपल उर्फ गुलाम हुसैन दिल्ली घराने के संस्थापक माने जाते हैं। इस घराने के तानरस खाँ सबसे प्रसिद्ध गायक रहे। इस घराने की एक उपशाखा महाराष्ट्र में गोखले घराने से प्रसिद्ध हुई। दिल्ली घराना आगे चल कर दिल्ली और अवध में विभाजित हो गया। इस घराने में सारंगी का इस्तेमाल ज्यादा होता है।

किराना या कैराना घराना: यह घराना गायन की ख्याल गायकी परंपरा से जुड़ा है। किराना घराने का नामकरण उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले की एक तहसील कैराना से हुआ माना जाता है। उस्ताद बंदे अली खाँ से इस घराने की शुरुआत मानी जाती है। यह उस्ताद अब्दुल करीम खाँ का जन्मस्थान भी है, जो बीसवीं सदी में किराना शैली के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भारतीय संगीतज्ञ थे। इन्हें किराना घराने का वास्तविक संस्थापक माना जाता है। उस्ताद करीम खाँ कर्नाटकी संगीत शैली में भी पारंगत थे।

ग्वालियर घराना: ग्वालियर घराना ख्याल गायकी के पुराने घरानों में शामिल है। इसे आदि घराना भी कहा जाता है। इसकी शुरुआत मुगल बादशाह अकबर के दरबारी गायक रामतन्ना मिश्र, रामतनु पांडे/तन्ना मिश्र उर्फ तानसेन और उनके पुत्र विलास खाँ से मानी जाती है। ग्वालियर घराने के गायक ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, तराना आदि में सिद्धहस्त माने जाते हैं। जोरदार आवाजें और गायन में गंभीरता के साथ सादगी इस घराने की विशेषताएँ हैं।

जयपुर घराना: यह घराना कठिन तानों, अप्रचलित और दुर्लभ रागों के लिए प्रसिद्ध है। राग परज, टंक, सुहा, सिंदूरा आदि कुछ ऐसे राग हैं जो जयपुर घराने की धरोहर हैं। जयपुर घराने से ही पटियाला और अल्लादिया खाँ घराना निकले हैं। इस घराने में मल्लिकार्जुन मंसूर, बाल गंधर्व, मोगूबाई कुर्डीकर, बरकतुल्ला खाँ आदि संगीतज्ञ आते हैं।

पटियाला घराना: पटियाला घराना पंजाब में पटियाला रियासत में विकसित हुआ है। इस घराने के गायकों में ग्वालियर, दिल्ली, जयपुर और लखनऊ घरानों की विशेषताएँ मिलती हैं। बड़े गुलाम अली खाँ साहब इसी घराने से संबंधित हैं।

आगरा घराना: उस्ताद फैयाज खाँ ने आगरा घराने की नींव रखी है। यह घराना श्रृंगार, प्रेम और भक्ति के लिए माना जाता है। संभवतया इसी कारण इस घराने को रंगीला घराना भी कहा जाता था।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बनारस घराना: बनारस घराना तबला बजाने वालों की योग्यता के कारण प्रसिद्ध हुआ है। यह घराना पंडित राम सहाय (1780-1826) के प्रयासों से विकसित हुआ था। बनारस घराने की विशिष्ट तबला वादन शैली है जिसे आज बनारस-बाज कहते हैं। इस नयी वादन शैली के पीछे प्रमुख उद्देश्य था कि ये एकल वादन के लिये भी उपयुक्त थी और किसी अन्य संगीत वाद्य या नृत्य के लिये संगत भी दे सकती थी और पखावज की तरह ध्रुपद या कथक नृत्य शैली की संगत को द्रुत गति से भी बजाया जा सकता है।

आज बनारसी तबला घराना अपने शक्तिशाली रूप के लिए प्रसिद्ध है, हालाँकि बनारस घराने के वादक हल्के और कोमल स्वरों के वादन में भी सक्षम हैं। बनारसी घराने को पूर्वी बाज में वर्गीकृत किया गया है, जिसमें लखनऊ, फर्रुखाबाद और बनारस घराने आते हैं। बनारस शैली तबले के अधिक अनुनादिक थापों का प्रयोग करती है। बनारस वादक अधिमान्य रूप से पूरे हाथ से थाप देते हैं, बजाय एक अंगुली से देने के, जैसे कि दिल्ली शैली में देते हैं। वैसे बनारस बाज शैली में दोनों ही थाप एकीकृत की गई हैं। बनारस घराने के तबला वादक तबला वादन की सभी शैलियों में, जैसे एकल, संगत, गायन एवं नृत्य संगत आदि में पारंगत होते हैं। बनारस घराने में एकल वादन बहुत विकसित हुआ है और कई वादक जैसे पंडित शारदा सहाय, पंडित किशन महाराज और पंडित समता प्रसाद आदि ने काफी प्रसिद्धि पायी है।

सहसवान-रामपुर घराना: सहसवान बदायूँ जिले की तहसील है और यह रामपुर जिले के निकट है। सहसवान 13वीं सदी से ही संगीत के लिए प्रसिद्ध रहा है। 18वीं सदी में सहसवान में दो संगीतज्ञ थे कुतुबद्दौला और शाहबुद्दौला। उनके शिष्य महबूब हुसैन खाँ थे और उनसे अली हुसैन, मोहम्मद हुसैन और इनायत हुसैन ने भी संगीत सीखा। ये तीनों बाद में रामपुर चले गये इसलिए यह घराना सहसवान-रामपुर घराना कहलाया। इनमें इनायत हुसैन ने खूब यश हासिल किया। उनके बाद मुश्ताक हुसैन खाँ ने शोहरत कमाई। संगीत पर उनकी गहरी पकड़ का अंदाजा इस बात से लग सकता है कि शास्त्रीय गायकी के क्षेत्र में पहला पद्म भूषण सम्मान (1957) उन्हीं को दिया गया था। मौजूदा समय में सखावत हुसैन खाँ निशात, हफीज अहमद खाँ, गुलाम हुसैन खाँ तथा राशिद हुसैन के नाम प्रमुख हैं।

इसके अलावा पंडित जसराज का मेवाती घराना, उस्ताद रजब अली खाँ, उस्ताद अमीर खाँ, पंडित अमरनाथ का इंदौर घराना, बनारस घराने के राजन मिश्र एवं साजन मिश्र, सिद्धेश्वरी देवी और गिरिजा देवी भी काफी प्रसिद्ध हैं।

घरानों की परंपरा पूरी तरह सराहनीय नहीं है। कुछ गायक मानते हैं कि इससे संगीत का नुकसान हुआ है। इससे संगीत की ठेकेदारी सी शुरू हो गयी और संगीत फलने-फूलने के बजाए चंद लोगों की जागीर बन कर रह गया। इन गायकों के अनुसार संगीत को इससे मुक्त किया जाना चाहिये ताकि संगीत को किसी प्रकार के बंधनों में नहीं रखा जा सके। ऐसा मानने वालों में देश के शीर्षस्थ गायकों में शुमार किये जाने वाले कुमार गंधर्व आदि प्रमुख हैं।

कुछ संगीतकारों का परिचय

संगीत परम्पराओं से विकसित होता है और विरासत के तौर पर सहेजा जाता है। समय की कठोर धारा में कभी संगीत की धारा सूख भी गई और परम्पराओं तथा विरासत का प्रकाश धुंधला भी पड़ा है। ऐसे में कुछ संगीतकारों ने अपनी योग्यता और नवोन्मेष की शक्ति से संगीत के सूखे पड़े वन को पुनः हरा-भरा किया और उसके पुनः पल्लवन में अविस्मरणीय योगदान दिया। इनमें से कुछ का विवरण इस प्रकार है-

विष्णु दिगंबर पलुस्कर (1872-1931)-

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के इस पुरोधा गायक का जन्म 18 अगस्त, 1872 को अंग्रेजी शासन वाले बंबई प्रेसीडेंसी के कुरुंदवाड़ में हुआ था। उन्होंने ग्वालियर घराने के पंडित बाल कृष्णबुवा इचलरंजीकेर से संगीत की शिक्षा आरंभ की और लाहौर को सर्वप्रथम कार्यक्षेत्र चुना।

धनार्जन के लिए उन्होंने संगीत के सार्वजनिक कार्यक्रम भी किए। पलुस्कर संभवतः पहले ऐसे शास्त्रीय गायक हैं, जिन्होंने संगीत के सार्वजनिक कार्यक्रम आयोजित किए। उन्होंने 1901 में लाहौर में गांधर्व विद्यालय और 1909 में बंबई में गांधर्व विद्यालय की स्थापना की। इस स्कूल के जरिए उन्होंने कई संगीत विभूतियों को तैयार किया। पलुस्कर के शिष्यों में पंडित ओंकार नाथ ठाकुर, पंडित विनायक राव पटवर्धन, पंडित नारायण राव और उनके पुत्र डी वी पलुस्कर जैसे दिग्गज गायक शामिल थे। उन्होंने तीन खंडों में संगीत बाल प्रकाश नामक पुस्तक लिखी और 18 खंडों में रागों की स्वरलिपियों को संग्रहित किया।

'रघुपति राघव राजा राम' का सामूहिक कीर्तन, रामचरितमानस का संगीतमय प्रवचन, कांग्रेस अधिवेशनों में 'वंदेमातरम्' एवं राष्ट्रीय भावनात्मक अन्य गीतों का गायन, धार्मिक तथा सामाजिक मेलों, उत्सवों में विशेष संगीत कार्यक्रमों की प्रस्तुति, जालंधर का हरवल्लभ मेला, संगीत परिषदों का आयोजन इत्यादि द्वारा विभिन्न प्रदेशों में शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने का सफल अभियान

Copyright– Drishti The Vision Foundation

चलाया। तुलसी, कबीर, सूर आदि भक्त कवियों के पदों को विभिन्न रागों में रुपांतरित कर शृंगार रस प्रधान ठुमरी शैली के समकक्ष भजन शैली की शास्त्रीय संगीत में प्रतिष्ठा की।

पंडित विष्णु नारायण भातखंडे (1860-1936)-

पंडित विष्णु नारायण भातखंडे हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के विद्वान और भारतीय संगीत के स्तरीकरण के कार्य में अग्रगण्य लोगों में शामिल हैं। इन्होंने इस संगीत पर प्रथम आधुनिक टीका लिखी और संगीतशास्त्र पर 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' नामक ग्रंथ चार भागों में प्रकाशित किया। भातखंडे ने 'हिन्दुस्तानी संगीत क्रमीक' नामक ग्रंथ के छह भाग प्रकाशित किए।

उन्होंने देश भर में विभिन्न जगहों से और संग्रहालयों में हस्तलिखित संगीत ग्रंथों की खोज की और उनके नामों का अपने ग्रंथों में प्रकाशन कराया। भातखंडे ने राग वर्गीकरण की दिशा में काफी महत्त्वपूर्ण काम किया और थाट पद्धति विकसित की। उन्होंने 1916 में बड़ौदा में देश भर के संगीतज्ञों की विशाल परिषद का आयोजन किया। इसी तरह दिल्ली, बनारस तथा लखनऊ में संगीत परिषदें आयोजित हुईं। उनकी एक पुस्तक लक्ष्यसंगीतम् 1910 में 'चतुरपंडित' उपनाम से प्रकाशित हुई तथा दूसरी किताब का नाम अभिनवरागमंजरी था।

श्री स्वाति थिरूनल राम वर्मा (1813-1846)-

स्वाति थिरूनल केरल राज्य के त्रावणकोर क्षेत्र के राजा थे। एक बढ़िया शासक होने के साथ-साथ वह उच्च श्रेणी के संगीत के ज्ञाता थे। उन्हें संगीत की हिन्दुस्तानी और कर्नाटकी दोनों शैलियों का ज्ञान था। उन्हें दोनों शैलियों में करीब 400 से अधिक रचनाओं के संकलन का श्रेय प्राप्त है। उनकी कुछ प्रसिद्ध रचनाओं में पद्मनाभा पही, देवा देवा, सरसजीनाभा और श्रीरामना विहो शामिल हैं। वह कई भाषाओं में पारंगत थे जैसे मलयालम, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, तेलुगु, कन्नड़, बंगाली, तमिल, उड़िया और अंग्रेजी। उन्होंने कई भवन भी बनवाये जैसे तिरुवनंतपुरम की वेधशाला, कई पुस्तकालय आदि। वह रॉयल एशियाटिक सोसायटी के सदस्य भी थे। उनका महज 33 वर्ष की आयु में निधन हो गया।

कर्नाटक संगीत - एक परिचय

भारतीय संगीत को दो भागों में बाँट कर देखा जा सकता है। एक वह जो उत्तर भारत में बजाया जाता है उसे हिन्दुस्तानी संगीत भी कहते हैं और दूसरा देश के दक्षिणी इलाके में बजाया जाता है, इसे कर्नाटक संगीत कहते हैं। तमिल भाषा में कर्नाटक का आशय प्राचीन, पारंपरिक और शुद्ध से है। कर्नाटक शब्द का पहला प्रयोग मतंग की रचना वृहद्देशी में मिलता है। इस किताब में कर्नाट नाम का एक राग पाया जाता है। बाद में नान्यदेव ने भरतवर्तिका नामक किताब में कर्नाटक शब्द का प्रयोग किया।

उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थितियों ने यहाँ के संगीत के विकास को प्रभावित किया और उसमें भारत से बाहर की परंपराओं का प्रभाव आना शुरू हो गया लेकिन कर्नाटक संगीत के साथ ऐसा नहीं हुआ और इसका प्राचीन स्वरूप बरकरार ही रहा।

तेरहवीं सदी के भक्ति आंदोलन के समय उस समय के प्रचलित रागों में हजारों भक्ति गीतों की रचना स्थानीय रागों के अनुसार की गयी। इन गीतों की भाषा सरल रखी गई ताकि वह लोगों की समझ में आ सके। इससे दक्षिण की तेलुगु, तमिल, कन्नड़ में रचनाएँ सामने आईं। चौदहवीं सदी से लेकर 16वीं सदी के दौरान विद्यारण्य, रामामात्य और विठ्ठल नाम के विद्वानों ने इस संगीत को और अधिक लोकप्रिय बनाया। भद्राचल रामदास सत्रहवीं सदी के संत कवि हुए जिन्होंने तेलुगु में कई रचनाएँ की।

कर्नाटक संगीत में 18-19वीं सदी के दौरान एक क्रांतिकारी परिवर्तन देखने में आया। उस समय तीन संत कवि बहुत प्रसिद्ध हुये। इन्हें त्रिमूर्ति या त्रिमणि के नाम से भी जाना जाता है। ये थे त्यागराज, मुथ्थुस्वामी दीक्षितर और श्यामा शास्त्री। इनमें श्यामा शास्त्री ने कई दुर्लभ रागों जैसे मंजी और चिंतामणि में रचना की। उनकी देवी मीनाक्षी की प्रशंसा में लिखी नवरत्नमालिका को लोगों ने काफी पसंद किया। मुथ्थुस्वामी दीक्षितर ने भी कई कृतियाँ भगवान सुब्रह्मण्यम को समर्पित की हैं। संत त्यागराज अपनी पंचरत्न कृति के कारण बहुत प्रसिद्ध हुये। उनकी अधिकतर रचनाएं तेलुगु में हैं और भगवान राम की प्रशंसा में हैं।

जिस तरह मुगल वंश के बादशाहों ने संगीत को प्रश्रय देकर संगीत की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया उसी तरह दक्षिण के राजाओं ने भी संगीत को अपने दरबार में जगह दी और मान-सम्मान दिया। इनमें त्रावणकोर के राजा स्वाति पेरूमल (1813-1846) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने कर्नाटक शैली में कई कृतियों, वर्णम, पद्मों और जावलियों की रचना की। पद्म का आशय है ईश्वर तक पहुँचने का प्रेम मार्ग। पद्म और जावलि सुगम संगीत की श्रेणी में आते हैं जैसे उत्तर भारत में ठुमरी और गजल। जावलि में भी प्रेमगीत गाये जाते हैं। कर्नाटक शैली में तिल्लाना हिन्दुस्तानी संगीत शैली के तराना के समान होती है। इसमें भक्ति गीत गाये जाते हैं। इसमें दूसरा नाम पुरन्दर दास (1484-1564) का है। उन्हें कार्नाटक संगीत का पितामह और 'नारदावतारी' भी कहा जाता है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright- Drishti The Vision Foundation

कर्नाटकी संगीत की अधिकतर रचनाओं में प्रमुखतया तीन अंग होते हैं- पल्लवि, अनुपल्लवि और चरण। इन तीनों को वर्णम के अंतर्गत रखा जाता है। पल्लवि का आशय है रचना का मुख्य भाग, अनुपल्लवि उसके बाद आता है और चरण सबसे अंत में। कुछ रचनाओं में इस नियम का पालन नहीं भी किया गया है जैसे कुछ रचनाकारों ने अनुपल्लवि को छोड़ दिया और सीधे चरण पर आ गये।

कर्नाटक संगीत में सात में से दो स्वरों का उच्चारण हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के स्वरों से कुछ अलग होता है। जैसे 'रे' की जगह 'रि' और 'ध' की जगह 'द'। दूसरे, कर्नाटकी शैली की सरगम के स्वरों को गाते समय आवाज का कंपन भी हिन्दुस्तानी के स्वरों से ज्यादा होता है। हिन्दुस्तानी संगीत शैली में जिस तरह दस ठाठ बनाये गये हैं उसी तरह कर्नाटकी शैली में 72 मेल बनाई गयीं है। कर्नाटक शैली के सभी रागों को 72 मेलों में वर्गीकृत करने का अनोखा काम इस शैली के पितामह कहे जाने वाले पंडित व्यंकटमुखी ने किया था। उत्तर भारतीय संगीत में ताल वाद्यों जैसे तबले का मुख्य इस्तेमाल गायक को संगत देने के लिए होता है लेकिन कर्नाटक संगीत में ताल वाद्यों जैसे मृदंगम, घटम आदि का वादन स्वतंत्र रूप से होता है। गायक जब मुख्य कृति प्रस्तुत कर लेते हैं तो ताल वाद्यों का नम्बर आता है और एक-एक करके वे बजाए जाते हैं। उनकी अधिकार रचनाएँ कन्नड़ में हैं। उन्होंने ये रचनाएँ मुद्रा और पुरन्दर विठ्ठल नाम से की हैं।

सिनेमा में संगीत

भारतीय सिनेमा में संगीत एक अनिवार्य तत्त्व के तौर पर देखा जाता है। सिनेमा की वजह से संगीत को बहुत लोकप्रियता मिली और संगीत की वजह से ही लोग सिनेमा को पसंद करते हैं। यह दोनों ही बातें सत्य हैं। भारतीय सिनेमा की विश्व में पहचान उसके संगीत की वजह से ही होती है।

सिनेमा में संगीत को इस शिखर तक पहुँचाने का श्रेय बोलती फिल्मों को जाता है। इससे पहले फिल्मों में संगीत का इस्तेमाल तो होता था, लेकिन तकनीकी तौर पर रिकॉर्ड नहीं बनाए जा सकते थे। फिल्मों में संगीत की शुरुआत 1931 में बनी पहली बोलती फिल्म आलमआरा से हुई। इसके फिल्म के निर्देशक आर्देशिर ईरानी ने सिनेमा में ध्वनि के महत्त्व को समझते हुए पहली बार रिकॉर्ड मशीन का इस्तेमाल किया। यह फिल्म 14 मार्च, 1931 को मुंबई के मैजेस्टिक सिनेमा में प्रदर्शित हुई। इसका संगीत फिरोज मिस्त्री ने दिया था। इस फिल्म में स्वर देकर डब्ल्यू ए खान पहले स्वर देने वाले गायक बने। अफसोस की बात है कि इस फिल्म के गाने रिकॉर्ड नहीं किए जा सके। फिल्म में कुल सात गाने थे। इनमें से एक गीत फकीर का किरदार निभाने वाले अभिनेता वजीर मुहम्मद खान ने गाया था। गीत के बोल थे- दे दे खुदा के नाम पे प्यारे, ताकत है अगर देने की। यह हिन्दी सिनेमा का पहला गाना था। फिल्म के संगीत में सिर्फ तीन वाद्य यंत्रों तबला, हारमोनियम और वायलिन का इस्तेमाल किया गया था। इस फिल्म के साथ ही भारतीय फिल्म जगत में पार्श्व गायिकी और पार्श्व संगीत का एक ऐसा दौर शुरू हुआ जो आज तक भारतीय फिल्म की जान है।

इसके बाद से फिल्मों में ज्यादा से ज्यादा गाने देने की होड़ लग गई। अयूब ए खान और मास्टर निसार जैसे संगीतकारों की चमक बढ़ गयी। फिल्म लैला मजनूं में 22 गाने थे और फिल्म शकुंतला में 42 गाने रखे गए थे। फिल्म इंद्रसभा में 71 गाने थे, यह एक रिकॉर्ड है। हकीकत में फिल्में संगीत से ही चलती थीं। इन फिल्मों की कहानी महज दो गीतों के बीच की जगह भरने के लिए होती थी। इंद्रसभा के संगीतकार नागरदास बहुत प्रसिद्ध हुए थे।

फिल्मों में पार्श्व गायन की शुरुआत संगीतकार आरसी बोराल की फिल्म धूप छाँव से हुई। इस फिल्म के पार्श्व गायक के. सी.डे. थे, जिन्होंने 'आज मेरे घर मोहन आया' गाना गाया था। 1934 में केदारनाथ शर्मा की फिल्म देवदास आई, जो अपने मधुर संगीत की वजह से बहुत लोकप्रिय हुई। इसमें के. एल. सहगल ने पार्श्व गायन के साथ-साथ देवदास का किरदार निभाया था।

संगीतकार नौशाद ने अपनी फिल्मों में शास्त्रीय संगीत का बखूबी इस्तेमाल किया। इसके साथ ही उन्होंने उत्तर प्रदेश के लोकगीतों का बेहतरीन इस्तेमाल कर कर्णप्रिय धुनें तैयार कीं। बाद में कई संगीतकारों ने इसे आगे बढ़ाते हुए देश के विभिन्न हिस्सों के लोक संगीत पर आधारित धुनें बनाईं। नौशाद की फिल्म 'रतन' के गाने 'अखियाँ मिला के जिया भरमा के चले नहीं जाना' ने पूरे देश में मानो जादू कर दिया। 1945 में संगीत की धुनों में भी बदलाव लाया। यह माना जाने लगा कि पार्श्व में नायक-नायिका की आवाज मिलती-जुलती गायक-गायिकाओं की ली जाए। उस वक्त के गायकों में के. एल. सहगल, मुहम्मद रफी, मुकेश, तलत महमूद और गायिकाओं में नूरजहां और सुरैया थीं।

सन 1950 से 1960 तक का दशक न केवल शास्त्रीय संगीत पर आधारित धुनों के लिए मशहूर हुआ। बल्कि इस दौर में फिल्मों में गजलों और लोकगीतों का भी इस्तेमाल हुआ। नौशाद की फिल्म मुगले-आजम ने तो अपने मधुर संगीत के लिए सभी रिकॉर्ड तोड़ दिए। इसके सभी गाने शास्त्रीय संगीत पर आधारित थे। इस फिल्म में बड़े गुलाम अली खाँ साहब ने ठुमरी गाई है।

अनिल विश्वास की फिल्म तराना में तलत महमूद द्वारा गाई गजल 'सीने में सुलगते हैं अरमां, आँखों में उदासी छाई है' राग यमन में थी। लोकगीतों का इस्तेमाल फिल्मों में एक नई शैली की शुरुआत थी। एस डी बर्मन ने पहली बार फिल्म तलाश में बंगाल के भटियाली लोकगीत का इस्तेमाल किया। उन्होंने फिल्म गाईड में 'यहाँ कौन है तेरा', 'मुसाफिर जाएगा कहाँ' और सुजाता में

Copyright– Drishti The Vision Foundation

लोकधुनों को अपनाया। संगीतकार ओ पी नैयर ने अपनी फिल्मों में पंजाबी धुनों का खूब इस्तेमाल किया। फिल्म फागुन में आशा भोंसले की आवाज में गाया गया गाना 'एक परदेसी मेरा दिल ले गया' बहुत लोकप्रिय हुआ।

किशन धवन की मुंशी प्रेमचंद की दो बैलों की कथा पर आधारित फिल्म हीरा मोती का गीत कौन रंग हीरा कौन रंग मोती भी प्रचलित लोकगीत है। फिल्म लावारिस का गीत मेरे अंगने में तुम्हारा क्या काम है और फिल्म सिलसिला का होली का गीत रंग बरसे भीगे चुनरवाली रंग बरसे भी लोकगीतों से ही प्रभावित हैं। जे पी दत्ता की फिल्म उमराव जान में जावेद अख्तर द्वारा पेश किया गया गीत 'अगले जन्म मोहे बिटिया न कीजौ' भी मशहूर लोकगीत है, जिसके रचयिता अमीर खुसरो हैं। इसी तरह फिल्म गुलामी का गीत 'जिहाले मस्ती मकम बरंजिश' भी फारसी के गीत से प्रेरित है। फिल्म लम्हे का गीत 'मोरनी बागा में बोले आधी रात मा' राजस्थानी लोक संगीत से प्रभावित है। वक्त के साथ-साथ फिल्म संगीत में भी बदलाव आता गया। फिल्मों से शास्त्रीय संगीत लुप्त होता गया। कई संगीतकारों ने अच्छी धुनें तैयार कीं। फिल्म दिल्ली-6 के गीत 'सैंया छेड़ देवे, ननद चुटकी लेवे, ससुराल गेंदा फूल' छत्तीसगढ़ का लोकगीत है। इस लोकगीत को सबसे पहले 1972 में रायपुर की जोशी बहनों ने गाया था। गंगाराम शिवारे के लिखे इस गीत को भुलवाराम यादव ने अपनी आवाज दी थी। फिल्म पीपली लाइव का 'मँहगाई डायन खाय जात है' भी लोक संगीत पर आधारित है। हाल में आई अनुराग कश्यप की फिल्म गैंग्स ऑफ वासेपुर-2 का लोकगीत 'तार बिजली से पतले हमारे पिया' भी खासा लोकप्रिय हुआ।

भारतीय संगीत के प्रमुख वाद्यों का परिचय

गायन को और अधिक कर्णप्रिय बनाने के लिए वाद्य यंत्रों का प्रयोग किया जाता है इसलिए वाद्य यंत्रों का इतिहास भी गायन जितना ही पुराना है।

सिंधु घाटी सभ्यता में इतिहासकारों को करतालों का एक जोड़ा मिला है। इसके अलावा एक ऐसी मृण्मूर्ति मिली है जिसके गले में ढोल लटका हुआ है। हड़प्पाकालीन लिपि के कुछ चिन्ह सारंगी और वीणा की भाँति प्रतीत होते हैं। वैदिक और उत्तर वैदिक काल में गायन और वादन दोनों विधाएँ पर्याप्त रूप में प्रचलित थीं। आर्य, वीणा और बांसुरी के साथ ढोल, झांझ और बीन भी बजाते थे। इस काल में सात सुरों के प्रयोग होने के संकेत मिलते हैं। संगम काल में भी संगीत और नृत्य से मनोरंजन करने के प्रमाण मिले हैं। घुमंतु प्रकार के नर्तकों के दल अपने साथ याल (वीणा), पदलाई (इकहरा ढोल) तथा तारों से बने अन्य वाद्ययंत्र रखते थे। संगम ग्रंथों में पेरियाल, पलाई-याल और सेंगोट्टियाल जैसे वाद्य यंत्रों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथों में बांसुरी के बारे में कहा गया है कि यह 'तप्त अग्नि से जलाकर बनाए हुए काले छिद्रों वाली नली' है। पेरूनानुत्रुप्पादे में गाने वाली स्त्री 'पादिनी' का वर्णन मिलता है। इसी ग्रंथ में चोल राजा करिकाल को संगीत के सातों स्वरों के विशेषज्ञ के रूप में वर्णित किया गया है। इतना ही नहीं इसमें रागों के गाने के सही समय और स्थान के बारे में उचित वर्णन मिलता है। गुप्त साम्राज्य के प्रतापी शासक समुद्रगुप्त (350-76) के सिक्कों में उसे बैठकर वीणा बजाते हुए दिखाया गया है। कई दूसरे प्रकार के सिक्कों में उसे चुस्त परिधान पहने दिखाया गया है लेकिन वीणा वाले सिक्कों में उसे केवल कटिवस्त्र में ही उकेरा गया है। इस काल में बनी अजंता गुफाओं में की गई भित्ती चित्रकारी में भी कई महिलाओं को वीणा बजाते हुए दिखाया गया है।

भारतीय संगीत में वर्णित चौंसठ कलाओं में वाद्य यंत्रों को बजाना एक कला माना गया है। अनेक प्रकार के वाद्यों का निर्माण करने और उनके बजाने का ज्ञान कला है। वाद्यों के मुख्यतया चार भेद हैं-

1. ततः तार अथवा ताँत का जिसमें उपयोग होता है, वे वाद्य तत कहे जाते हैं- जैसे वीणा, तंबूरा, सारंगी, बेला, सरोद आदि।
2. सुषिरः जिसका भीतरी भाग सच्छिद्र (पोला) हो और जिसमें वायु का उपयोग होता हो, उसको सुषिर कहते हैं- जैसे बांसुरी, अलगोजा, शहनाई, बैण्ड, हारमोनियम, शंख आदि।
3. अवनद्धः चमड़े से मढ़ा हुआ वाद्य 'आवनद्ध' कहा जाता है- जैसे- ढोल, नगाड़ा, तबला, मृदंग, डफ, खंजड़ी आदि।
4. घनः परस्पर आघात से बजाने योग्य वाद्य घन कहलाता है- जैसे झांझ, मंजीरा, करताल आदि। यह कला गाने से संबंध रखती है। बिना वाद्य के गान में मधुरता नहीं आती। प्राचीन काल में भारत के वाद्यों में वीणा मुख्य थी। इसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में भी उपलब्ध होता है। सरस्वती और नारद का वीणा वादन, श्रीकृष्ण की वंशी, महादेव का डमरु तो प्रसिद्ध ही है। वाद्य आदि विषयों के संस्कृत में अनेक ग्रंथ हैं। उनमें अनेक वाद्यों के परिमाण, उनके बनाने और मरम्मत करने की विधियाँ मिलती हैं। राज्यभिषेक, यात्रा, उत्सव, विवाह, उपनयन आदि मांगलिक कार्यों के अवसरों पर भिन्न-भिन्न वाद्यों का उपयोग होता था। युद्ध में सैनिकों के उत्साह, शौर्य को बढ़ाने के लिये अनेक तरह के वाद्य बजाये जाते थे।

वीणा-

शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले इस वाद्य यंत्र का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है।

- वीणा वस्तुतः तंत्री वाद्यों का संरचनात्मक नाम है। तंत्री या तारों के अलावा इसमें घुडच, तरब के तार तथा सारिकाएं होती हैं।
- हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं को इसका वादन करते दर्शाया जाता है। इनमें सरस्वती और नारद प्रमुख हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

- वीणा में 4 तार होते हैं और तारों की लंबाई में किसी प्रकार का विभाजन नहीं होता।
- वीणा में तारों को कंपन एक गोलाकार घड़े से तीव्रतर होती है तथा कई आवृति की ध्वनियों के मिलने से लयबद्ध ध्वनि का जनन होता है।
- वीणा से ही रुद्रवीणा और विचित्र वीणा विकसित हुई है।

घटम-

घटम एक भारतीय संगीत वाद्य है। यह मूलत: एक विशेष प्रकार की मिट्टी से और बड़ी सावधानी से पकाकर बनाया गया पात्र होता है।

- घटम का उपयोग आमतौर पर लोकसंगीत में होता है, किंतु अब यह कर्नाटक संगीत में भी लोकप्रिय हो गया है।
- कर्नाटक संगीत में वादक घटम को अपने पेट पर औंधा रखकर अंगुलियों और हथेलियों से बजाता है।
- कश्मीर में इस वाद्य को नूत कहा जाता है और इसे सीधा रखकर ही बजाया जाता है।

शहनाई-

- भारत में शहनाई का प्रचलन बहुत पुराना है। शहनाई भारत के सबसे लोकप्रिय वाद्य यंत्रों में से है।
- शहनाई का प्रयोग शास्त्रीय संगीत से लेकर हर तरह के संगीत में किया जाता है।
- शहनाई एक खांखली नली होती है, जिसका एक सिरा अधिक चौडा तथा दूसरा पतला होता है।
- शहनाई के संकरे सिरे पर विशेष प्रकार की पत्तियों और दलदली घासों से डैने के आकार की बनी एक सेमी. लम्बी दो पत्तियाँ लगी होती हैं।
- उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ विश्व के सर्वश्रेष्ठ शहनाई वादक माने जाते हैं। उनका जन्म डुमरांव, बिहार में हुआ था लेकिन बाद में उनका परिवार बनारस आ गया था। साल 2001 में उन्हें भारत के सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न से सम्मानित किया गया।

संतूर-

एक वाद्य यंत्र है। संतूर का भारतीय नाम 'शततंत्री वीणा' यानी सौ तारों वाली वीणा है जिसे बाद में फारसी भाषा से संतूर नाम मिला।

- संतूर की उत्पत्ति लगभग 1800 वर्षों से भी पूर्व ईरान में मानी जाती है। बाद में यह एशिया के कई अन्य देशों में प्रचलित हुआ जिन्होंने अपनी संस्कृतियों के अनुसार इसके रूप में परिवर्तन किए।
- संतूर लकड़ी का एक चतुर्भुजाकार बक्सानुमा यंत्र है जिसके ऊपर दो-दो मेरु की पंद्रह पंक्तियां होती- हैं।
- इसे आगे से मुड़ी हुई डंडियों से बजाया जाता है।
- संतूर मूल रूप से कश्मीर का लोक वाद्य यंत्र है और इसे सूफी संगीत में इस्तेमाल किया जाता था।
- शिव कुमार शर्मा भारत के प्रसिद्ध संतूर वादक है।

सारंगी-

- सारंगी मुख्य रूप से गायकी प्रधान वाद्य यंत्र है। इसको लहरा अर्थात अन्य वाद्य यंत्रों की जुगलबंदी के साथ पेश किया जाता है।
- सारंगी शब्द हिन्दी के सौ और रंग से मिलकर बना है जिसका मतलब है सौ रंगों वाला।
- अठारहवीं शताब्दी में तो सारंगी ने एक परम्परा का रूप ले लिया हुआ था। सारंगी का इस्तेमाल गायक अपनी गायकी में जुगलबंदी के रूप में करते रहे हैं। राग ध्रुपद जो गायन पद्धति का सबसे कठिन राग माना जाता है, सारंगी के साथ इसकी तारंतम्यता अतुलनीय है।
  - सारंगी वाद्य यंत्र का प्राचीन नाम सारिंदा है जो कालांतर के साथ सारंगी हुआ।
  - सारंगी का आकार देखें तो सारंगी अलग-अलग प्रकार की होती है। थार

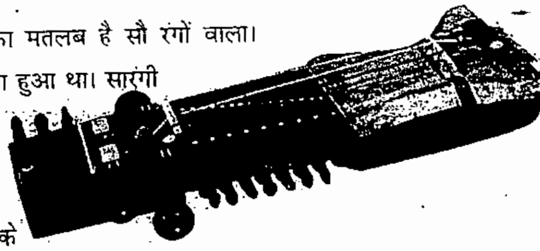

सारंगी

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
-ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright– Drishti The Vision Foundation

प्रदेश में दो प्रकार की सारंगी प्रयोग में लाई जाती हैं। सिंधी सारंगी और गुजरातन सारंगी। सिंधी सारंगी आकार-प्रकार में बड़ी होती है तथा गुजरातन सारंगी को मांगणियार व ढोली भी सहजता से बजाते हैं। सभी सारंगियों में लोक सारंगी सबसे श्रेष्ठ है। सारंगी का निर्माण लकड़ी से होता है तथा इसका नीचे का भाग बकरे की खाल से मंढ़ा जाता है। इसके पेंदे के ऊपरी भाग में सींग की बनी घोड़ी होती है। घोड़ी के छेदों में से तार निकालकर किनारे पर लगे चौथे में उन्हें बांध दिया जाता है। इस वाद्य में 29 तार होते हैं तथा मुख्य बाज में चार तार होते हैं। बाज के तारों पर गज, जिसकी सहायता से एवं रगड़ से सुर निकलते हैं, चलता है। सारंगी के ऊपर लगी खूँटियों को झीलें कहा जाता है।

∴ इसके प्रसिद्ध वादकों में सुल्तान खान, राम नारायण, अब्दुल करीम खाँ, अब्दुल लतीफ खाँ, अहमद खाँ, गुलाम सबीर खाँ, गोपाल मिश्र, सबरी खाँ, शकूर खाँ आदि शामिल हैं।

बांसुरी या वंशी-

- बांसुरी अत्यंत लोकप्रिय सुषिर वाद्य यंत्र माना जाता है, क्योंकि यह प्राकृतिक बांस से बनायी जाती है, इसलिये लोग उसे बांस बांसुरी भी कहते हैं।
- बांसुरी बनाने की प्रक्रिया काफी कठिन नहीं है। सबसे पहले बांसुरी के अंदर के गाँठों को हटाया जाता है, फिर उसके ऊपरी भाग पर कुल सात छेद खोदे जाते हैं। सबसे पहला छेद मुँह से फूँकने के लिये छोड़ा जाता है, बाकी छेद अलग-अलग आवाज निकालने का काम करते हैं।
- बांसुरी की अभिव्यक्ति शक्ति अत्यंत विविधतापूर्ण है, उसे लंबे, ऊँचे, चंचल, तेज व भारी प्रकारों के सूक्ष्म भाविक मधुर संगीत से बजाया जाता है। लेकिन इतना ही नहीं, वह विभिन्न प्राकृतिक आवाजों की नकल करने में निपुण है, मिसाल के लिये उससे नाना प्रकार के पक्षियों की आवाज की हू-ब-हू नकल की जा सकती है।

  बांसुरी को बजाने की तकनीक कलाएँ समृद्ध ही नहीं, उसकी किस्में भी विविधतापूर्ण हैं, जैसे मोटी लंबी बांसुरी, पतली नाटी बांसुरी, सात छेदों वाली बांसुरी और ग्यारह छेदों वाली बांसुरी आदि देखने को मिलती है और उसको बजाने की शैली भी भिन्न रूपों में पायी जाती है। आधुनिक समय में बांसुरी धातु की भी बनाई जा रही है। पन्ना लाल घोष ने बांसुरी वाद्य में अनेक परिवर्तन कर उसकी वादन शैली में परिवर्तन कर बांसुरी को पुनः भारतीय संगीत में सम्मानीय स्थान दिलाया। लेकिन उसके बाद पुनः बांसुरी एकाकी हो गई। उनके अलावा हरिप्रसाद चौरसिया का बांसुरी वादन विश्व प्रसिद्ध है।

तबला-

- तबला एक वाद्य यंत्र है। आधुनिक काल में गायन, वादन तथा नृत्य की संगति में तबले का प्रयोग होता है। तबले के पूर्व यही स्थान पखावज अथवा मृदंग को प्राप्त था। कुछ दिनों से तबले का स्वतंत्र वादन भी अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। स्थूल रूप से तबले को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, दाहिना तबला, जिसे कुछ लोग दाहिना भी कहते हैं, और बायां अथवा डग्गा।
- कहा जाता है कि तबला हजारों साल पुराना वाद्ययंत्र है किंतु नवीनतम ऐतिहासिक वर्णन में बताया जाता है कि 13वीं शताब्दी में भारतीय कवि तथा संगीतज्ञ अमीर खुसरो ने पखावज के दो टुकड़े करके तबले का आविष्कार किया।
- तबले के दो भागों को क्रमशः तबला तथा डग्गा या डुग्गी कहा जाता है। तबला शीशम की लकड़ी से बनाया जाता है। तबले को बजाने के लिये हथेलियों तथा हाथ की उंगलियों का प्रयोग किया जाता है। तबले के द्वारा अनेक प्रकार के बोल निकाले जाते हैं।
- उस्ताद अल्लारक्खा खाँ, उस्ताद जाकिर हुसैन और किशन महाराज प्रसिद्ध तबला वादक हैं। तबलावादन से जुड़े कुछ मशहूर घरानों में दिल्ली घराना, लखनऊ घराना, बनारस घराना, पंजाब और फर्रुखाबाद शामिल हैं।

सितार-

- सितार के जन्म के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं। अभी तक किसी भी मत के पक्ष में कोई ठोस प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार इसका निर्माण वीणा के एक प्रकार के आधार पर हुआ है। भारतीयता को महत्त्व देने वाले भारतीय विद्वान इस मत को सहज में ही मान लेते हैं।
- दूसरे मतानुसार 14वीं शताब्दी में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के दरबारी हजरत अमीर खुसरो ने मध्यमादि वीणा पर 3 तार चढ़ाकर सितार को जन्म दिया। उस समय उसका नाम सहतार रखा गया। फारसी में सह का अर्थ 3 होता है। धीरे-धीरे सहतार बिगड़ते-बिगड़ते सितार हो गया और 3 तार के स्थान पर 7 तार अथवा 8 तार लगाये जाने लगे।
- सितार पारंपरिक वाद्य होने के साथ ही सबसे अधिक लोकप्रिय है। सितार ऐसा वाद्य यंत्र है जिसने पूरी दुनिया में भारत का नाम लोकप्रिय किया।
- सितार बहुआयामी साज होने के साथ ही एक ऐसा वाद्य यंत्र है जिसके जरिये भावनाओं को प्रकट किया जाता है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इसके सबसे मशहूर वादकों में पंडित रविशंकर का नाम है। उन्हें 1999 में भारत रत्न से सम्मानित किया गया था।

हारमोनियम-

हारमोनियम भारतीय वाद्य नहीं है लेकिन अब यह अनिवार्य तौर पर लोक संगीत और सिनेमा संगीत में शामिल हो गया है। हारमोनियम, पेटी या रीड ऑर्गन भी कहलाता है। हारमोनियम मुक्त पत्ती वाला कुंजी फलक वाद्य है। इसमें हाथ या पैर से संचालित धौंकनी के द्वारा दबाव समकारी वायु भंडार से हवा फेंकता है, जो धातु के खाँचों में कसी गई धातु-पत्तियों को कंपन देती है और वाद्य बजता है।

हारमोनियम समूह का सबसे पहला बाजा फिसहार्मोनिका था, जिसका निर्माण 1818 में वियना में एंटन हिक्ल ने किया था। इसे चीन के माउथ ऑर्गन या शेंग से प्रेरणा मिली। सन् 1950 के बाद मुख्य सुधार पेरिस में विक्टर मस्तेल तथा अमेरिका में जैकब एस्टे ने किया। हारमोनियम लोकप्रिय गिरिजाघर एवं घरेलू वाद्य यंत्र रहा, जब तक कि 1930 के दशक के बाद इलेक्ट्रॉनिक बाजे ने उसे बाजार से बाहर नहीं कर दिया।

मृदंग-

यह दक्षिण भारत का एक थाप यंत्र है।

- मृदंग को मृदंग खोल, मृदंगम आदि भी कहा जाता है।
- मृदंग कर्नाटक संगीत में प्राथमिक ताल यंत्र होता है।
- अमीर खुसरो ने मृदंग को काट कर तबला बनाया और तबले का प्रयोग आधुनिक काल में गायन, वादन तथा नृत्य की संगति में होता है।
- छत्तीसगढ़ में नवरात्रि के समय देवी पूजा होती है, उसमें एक जैसे गीत गाये जाते है। उसमें मृदंग का उपयोग होता है।
- चैतन्य महाप्रभु ने अपने दोनों शिष्यों के सहयोग से ढोलक, मृदंग, झांझ, मंजीरे आदि वाद्य यंत्र बजाकर व उच्च स्वर में नाच-गाकर हरि नाम संकीर्तन करना प्रारंभ किया था।

रूद्रवीणा

रुद्रवीणा - इसे हिन्दुस्तानी संगीत में बजाया जाता है। इसमें एक लंबी नली के आकार की लकड़ी के दोनों सिरों के नीचे सूखे हुए सीताफल के खोखले तूंबा होते हैं। इसमें मुख्य चार तार होते हैं जो खूटियों से कसे जाते हैं। इसके अलावा दो और तार होते हैं और लकड़ी के बने 24 पर्दे होते हैं। बजाते समय एक तूंबा वादक के कंधे पर और दूसरा गोद में होता है।

विचित्र वीणा - यह उत्तर भारतीय शैली का वाद्य है। इसमें पाँच तार होते हैं। इसके अलावा तीन तार चिकारी के और तरब के 11 तार होते हैं।

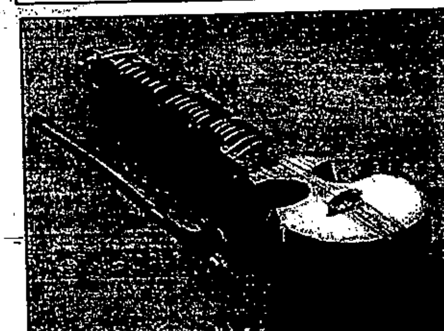
इसराज

इसराज - यह हिन्दुस्तानी शैली का वाद्य है। इसराज एक तरह से सितार और सारंगी का मेल है। इसका ऊपरी भाग सितार से और नीचे का भाग सारंगी की तरह होता है। इसमें 4 मुख्य, तरब के 15 और 19 पर्दे होते हैं। इसे भी गज से बजाया जाता है। इसका प्रयोग रवीन्द्र संगीत में भी होता है।

दिलरुबा - हिन्दुस्तानी शैली संगीत में प्रयुक्त होने वाले इस वाद्ययंत्र की शक्ल इसराज जैसी होती है। इसमें इसराज की तरह हीचार मुख्य तरब के 20 और 19 पर्दे होते हैं। इसे भी गज से बजाया जाता है।

तानपूरा या तंबूरा - यह वाद्य हिन्दुस्तानी और कर्नाटक शैली में प्रयुक्त होता है। यह गायक के लिए आधार स्वर तैयार करने का काम करता है। शास्त्रीय संगीत प्रस्तुतिकरण में यह एक अनिवार्य वाद्य है। इसमें स्टील के तीन और पीतल का एक तार होता है।

सुरसिंगार - हिन्दुस्तानी शैली के इस वाद्य में एक बड़ा तूंबा और लकड़ी का लठ्ठा होता है। जिसमें छह मुख्य तार और दो अन्य तार हाथी दांत के एक टुकड़े से होते हुए दूसरे सिरे तक कसे जाते हैं।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright– Drishti The Vision Foundation

सुरबहार - यह वाद्य भी सुरसिंगार जैसा ही होता है। इसमें चार मुख्य तार, तीन अन्य तरब के 11 तार और 19 पर्दे होते हैं। इसका प्रयोग भी हिन्दुस्तानी शैली के संगीत में होता है।

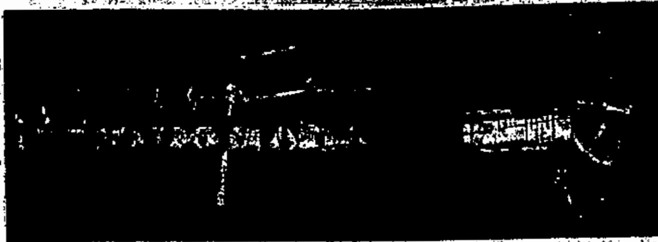

रावणहत्था

रावणहत्था - यह राजस्थान के भोपा और गुजरात के लोक संगीत का प्रमुख वाद्य है। इसमें एक छोटा तूंबा होता है जिसे नारियल की खप्पर से बनाया जाता है। भोपा लोग जब पाबूजी की फड़ नाम की पारंपरिक गाथा गाते हैं तो इसे बजाया जाता है।

जंतर - यह एक लोक वाद्य है और इसे मध्य प्रदेश के प्रधान संप्रदाय के लोग प्रयोग में लाते हैं। इसमें दो छोटे-छोटे तूम्बे लगे होते हैं।

सारिंडा

जोगीकेन्द्र - यह वाद्य यंत्र ओडिशा का है। इसमें घोड़े के काले बालों को एक बांस के टुकड़े पर कसते हैं और इसके एक सिरे पर नारियल के खप्पर का तूंबा लगाया जाता है।

सारिंडा - असम और त्रिपुरा के आदिवासी तीन तारों वाला यह वाद्य बजाते हैं। इसका तूंबा नाशपाती के आकार का होता है।

पुल्लवान कुडम - मालाबार के पुल्लवान संप्रदाय के इस लोकवाद्य को लकड़ी के टुकड़े से बजाया जाता है। यह तंत्र वाद्य है लेकिन इसे ताल वाद्य के रूप में प्रयोग किया जाता है।

तुरही - अंग्रेजी के एस अक्षर के जैसे दिखने वाले इस वाद्ययंत्र का प्रचलन कई राज्यों में है। इसे राजस्थान में बर्गू, उत्तर प्रदेश में तूरी, मध्य प्रदेश और गुजरात में रणसिंघा और हिमाचल में इसे नरसिंघा कहा जाता है। इसके अलावा जो तुरही सीधी होती है। उसे महाराष्ट्र में भुंगल, हिमाचल और ओडिशा में कहल, राजस्थान में कर्णा और उत्तर प्रदेश में तुरही और झारखण्ड के उरांव इसे भेंत्र कहते हैं। तमिलनाडु की तुरही को तिरुचिन्नम कहा जाता है। लद्दाख की तुरही को थुनचेन कहते हैं। यह थुनचेन आकार में इतनी बड़ी होती है कि इसे जमीन पर रख कर बजाया जाता है। लामाओं का यह वाद्य जोड़ी में बनाया जाता है।

जलतरंग - यह वाद्य शास्त्रीय संगीत का वाद्य है हालांकि इसका ज्यादा प्रयोग नहीं होता। इसमें चीनी मिट्टी के कई प्याले होते हैं जिनमें एक सीमा तक पानी भरा होता है। इसमें पानी की मात्रा और प्यालों के आकार के अनुसार स्वर उत्पन्न होता है।

इन वाद्यों के अलावा असम का बोरताल, मध्यभारत का चटकुला, कर्नाटक का चिट्टिका, ओडिशा का दशकाठी भी लोकसंगीत के महत्त्वपूर्ण वाद्य हैं। चेंडा दक्षिण भारत का वाद्य है जिसे कमर में लटका कर लकड़ी की दो छड़ियों से कथकली नृत्य के दौरान बजाया जाता है। बंगाल में दुर्गा पूजा समारोह के दौरान ढाक बजाने का प्रचलन है। इसे एक कंधे से लटका कर केवल एक ओर से दो छड़ियों की मदद से बजाया जाता है। खोल भी बंगाल का लोकवाद्य है इसे भजन-कीर्तन के दौरान बजाते हैं। खोल के जैसा वाद्य मणिपुर का पुंग वाद्य है। त्रिपुरा और आसपास के समूह नृत्यों में खम बजाया जाता है और कर्नाटक में करडी वाद्य बजाया जाता है। तमिलनाडु का बुडाबुक्कलु और कर्नाटक का बुडुबुडुकई डमरू जैसा वाद्य होता है। इसके अलावा दक्षिण भारत में एडक्का भी डमरू की तरह बजाया जाता है। मेघालय में बोम नाम का वाद्ययंत्र बजाया जाता है।

किससे संबंधित कौन?

1. कुमार गंधर्व	- गायन	9. नन्दलाल	- शहनाई
2. अनोखेलाल मिश्र	- तबला	10. बाबू खाँ बीनकार	- वीणा, सितार, सरोद, रबाब
3. बासन्ती मापसेकर	- हारमोनियम		
4. अली अकबर खाँ	- सरोद	11. गोपालकृष्ण	- वीणा
5. पण्डित रामनारायण	- सारंगी	12. अम्बादास पंत आगले	- मृदंग
6. पण्डित सिद्धराज यादव	- सुन्दरी	13. अमला नन्दी	- कत्थक
7. नत्थन पीरबख्श	- गायन	14. सखाराम मृदंगाचार्य	- पखावज
8. कासिमअली	- रबाब	15. रहीमसेन	- सितार

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

- चन्द्रिका प्रसाद दुबे - इसराज वादक
- अमीर हुसैन खाँ - तबला
18. अब्दुल करीम खाँ - गायन
19. अलाउद्दीन खाँ - सरोद
20. एम. वी. सोलापुरकर - क्लैरिनेट
21. स्वरूप प्रभाकर - जलतरंग
22. अहमदजान थिरकुवा - तबला
23. दबीर खाँ - ध्रुवपद, वीणा
24. बन्दे अली खाँ - बीनकार
25. अल्लादिया खाँ - गायन
26. जगदीश मोहन - जलतरंग
27. ब्रज नारायण - सरोद
28. डी. के. दातार - वायलिन
29. भावभट्ट - शास्त्रकार
30. अयोध्या प्रसाद - पखावज
31. सादिक अली खाँ (रामपुर) - बीनकार
32. जीरूस्वामी पिल्लई - नादस्वरम्
33. सजाद हुसैन खाँ - सुरबहार
34. ब्रह्मस्वरूप सिंह - वीणा
35. गौरी शंकर - क्लैरिनेट
36. प्यार खाँ - बीनकार, सरोद, गायक
37. कंठे महाराज - तबला
38. इमदाद खाँ - सितार
39. जरीन दारूवाला - सरोद
40. बैजू-बावरा - गायन
41. बलवंतराय भट्ट - गायन
42. अली मुहम्मद (बड़कू मियाँ) - रबाब, सुरसिंगार
43. दामोदरलाल काबरा - सरोदवादक
44. इन्द्रदास राणा - पखावज
45. उमराव खाँ - वीणा
46. ओम्कारनाथ ठाकुर नाथ - गायन
47. करामततुल्ला खाँ - तबला
48. अरूण घोष - सारंगी
49. महमूद धौलपुरी - हारमोनियम
50. जगन्नाथ भोलानाथ - शहनाई
51. शुभेन्दु - सितार
52. चंदन राय - सरोद
53. कृष्ण महाराज - तबला
54. प्रेम बल्लभ - पखावज
55. मुहम्मद शरीफ खाँ - सितार, बीनकार
56. गणेश चतुर्वेदी - तबला, मृदंग
57. जगन्नाथ बुवा पुरोहित - गायन
58. भृगुनाथ लाल मुंशी - मृदंगवादक
59. सादत खाँ - सरोद
60. महाराणा कुम्भा - शास्त्रकार
61. जोधसिंह - पखावज
62. गणपतराव बसईकर - शहनाई, तबला
63. दोरा स्वामी अयंगार - वीणा
64. अशोक राय - सरोद
65. इन्द्रलाल - सारंगी
66. अम्बिका प्रसाद - तबला
67. शैलेश भागवत - शहनाई
68. अमीर खाँ - सितार
69. मिश्री सिंह - वीणा
70. गोपाल मिश्र - सारंगी
71. कादिरबख्श पखावजी - पखावज
72. तारानाथ - तबला
73. हाफिज अली खाँ - सरोद
74. भीकन खाँ - सितार, बीन, दिलरूबा, जलतरंग
75. अमृतसेन - सितार
76. अमीर खाँ - गायन
77. आबिद हुसैन खाँ - तबला
78. सखावत हुसैन खाँ - सरोद
99. भैरव प्रसाद - तबला
80. बुद्दू खाँ - सारंगी
81. वहीद खाँ - सुरबहार, सितार
82. अजनीबाई मालपेकर - गायिका
83. मुश्ताक अली खाँ - सितार
84. फैयाज खाँ - गायन
85. बाचा मिश्र - तबला
86. ए. कानन - कर्नाटक गायन
87. साबरी खान - सारंगी
88. शिशिर चौधरी - वायलिन
89. अनन्त राव चौधरी - जलतरंग
90. अमान अली खाँ - गायक
91. पर्वतसिंह - मृदंगाचार्य
92. शम्भू महाराज - कत्थक
93. किशन महाराज - तबला
94. देवेन्द्र मुर्डेश्वर - बाँसुरी
95. अमीर खाँ (रामपुर) - बीनकार, गायक
96. सामता प्रसाद मिश्र - तबला

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

97. कुदऊसिंह पखावजी - पखावज
98. असद अली खाँ - रूद्रवीणा
99. रमेश प्रेम - विचित्र वीणा
100. विनायकराव पटवर्धन - गायन
101. लतीफ अहमद - तबला
102. उस्ताद नसीर जहीरूद्दीन - ध्रुपद गायन
103. तरूण भट्टाचार्य - संतूर
104. अनन्त लाल - शहनाई
105. रविन्द्र तेलेगांवकर - हारमोनियम
106. संतोष मिश्रा - सारंगी
107. वाजिद अली शाह - गायक, नर्तक
108. गोपीकृष्ण - कत्थक
109. भैरव सहाय - तबला
110. शाहिद परवेज - सितार
111. केशव तेलेगांवकर - गिटार
112. एल. सुब्रह्मण्यम् - वायलिन
113. मल्लिकार्जुन मंसूर - गायन
114. बीरू मिश्र - तबला
115. मोघूबाई कुर्डीकर - गायन
116. टी. आर. महालिंगम - बांसुरी
117. एस. बालचन्द्र - वीणा
118. गोपालदास - पखावज
119. भजन सोपोरी - संतूर
120. टी. एन. कृष्णन - वायलिन
121. सोमनाथ - शास्त्रकार
122. हद्दू-हस्सू खां - गायन
123. शुजात हुसैन - सितार
124. नाना पानसे - पखावज
125. नसीर मोइनुद्दीन डागर - ध्रुपद, धमार
126. राजेन्द्र प्रसन्ना - बांसुरी
127. अनन्त मनोहर जोशी - गायन
128. चिट्टी बाबू - वीणा
129. निखिल घोष - तबला, सितार
130. मुरली कृष्णन् - वायलिन
131. एम. एस. सुब्बलक्ष्मी - कर्नाटक गायन
132. यामिनी कृष्णमूर्ति - भरतनाट्यम्
133. राजन-साजन मिश्र - गायन
134. बुद्धादित्य मुखर्जी - सितार
135. बिरजू महाराज - कत्थक
136. अमीनुद्दीन डागर - ध्रुपद, धमार
137. राधिकामोहन मोइत्रा - सरोद
138. बेगम अख्तर - गायन
139. कल्याणी राय - सितार
140. उदयशंकर - नृत्य
141. बाबा रामशंकर पागलदास - पखावज
142. गजानन राव जोशी - वायलिन
143. फीरोज फ्रामजी - शास्त्रकार
144. सिद्देश्वरी देवी - गायन
145. एम. राजम् - वायलिन
146. रघुनाथ सेठ - बांसुरी
147. पण्डित रविशंकर - सितार
148. रहीमुद्दीन खाँ डागर - ध्रुपद, धमार
149. लक्ष्मीबाई बड़ौदेकर - गायन
150. बुद्धदेवदास गुप्त - सरोद
151. पन्ना लाल घोष - बांसुरी
152. घनश्याम पखावजी - पखावज
153. वी. जी. जोग - वायलिन
154. बिस्मिल्लाह खां - शहनाई
155. विलायत अली खां - सितार
156. शोभा गुर्टू - गायन
157. पण्डित देबू चौधरी - सितार
158. अमजद अली खाँ - सरोद
159. शिवकुमार शर्मा - संतूर
160. विश्व मोहन भट्ट - गिटार, रुद्रवीणा
161. हरिप्रसाद चौरसिया - बांसुरी
162. अल्लारक्खा खाँ - तबला
163. उस्ताद नसीर फैयाजुद्दीन - ध्रुपद गायन
164. अन्नपूर्णा देवी - सुरबहार, सितार
165. पुरुषोत्तम दास - पखावज
166. शरनरानी - सरोद
167. गिरिजा देवी - गायन (ठुमरी)
168. लालजी श्रीवास्तव - तबला
169. उस्ताद हलीम जाफर खाँ - सितार
170. सितारा देवी - कत्थक
171. जितेन्द्र अभिषेकी - गायन
172. कार्तिक कुमार - सितार
173. जाकिर हुसैन - तबला
174. गंगूबाई हंगल - गायिका
175. शशिमोहन भट्ट - सितार
176. माणिक वर्मा - गायिका
177. निखिल बनर्जी - सितार

Copyright– Drishti The Vision Foundation

178. परवीन सुल्ताना - गायिका
179. कनकना बनर्जी - गायन
180. बलराम पाठक - सितार
181. सविता देवी - गायन
182. डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती - सितार
183. राजाभैया पूँछवाले - गायन
184. मणिलाल नाग - सितार
185. पण्डित जसराज - गायन
186. पण्डित भीमसेन जोशी - गायन
187. अरविंद पारिख - सितार
188. किशोरी अमोणकर - गायन
189. इन्द्रनील भट्टाचार्य - सितार
190. प्रभा अत्रे - गायन
191. अजय चक्रवर्ती - गायन
192. हीराबाई बड़ोदकर - गायन
193. मालविका कानन - गायन
194. राजीव तारानाथ - सरोद
195. शंकरघोष - तबला
196. एस. आर. जानकीरमन - कर्नाटक गायन
197. आर. आर. केशवमूर्ति - कर्नाटक वायलिन
198. तीजनबाई - लोक संगीत पण्डवानी (छत्तीसगढ़ी)
199. अभय शंकर - तबला
200. बन्नो बेगम - माड गायन
201. अरपा जलगांव - हारमोनियम
202. जयराम राव - कुचिपुडी
203. बनश्री राव - कुचिपुडी
204. उस्ताद रशीद खाँ वारसी - नक्कारावादक
205. डॉ. लालमणि मिश्र - वीणा
206. शिवराम रामचन्द्र मावलंकर - सितार, सुरबहार
207. टी. एस. शंकरन - कर्नाटक बांसुरी
208. टी. एन. शेषगोपालन - कर्नाटक गायन
209. सखाराम पंत आगले - मृदंग
210. गजानन वर्मा - लोकसंगीत
211. वी. कमलाकर राय - कर्नाटक मृदंग
212. कमला मूर्ति - हरिकथा
213. श्रीमती सुलोचना वृहस्पति - गायन
214. वाजिद हुसैन खाँ - तबला
215. पण्डित हनुमान प्रसाद मिश्र - सारंगी वादक
216. राजा छत्रपति सिंह - पखावज
217. कोट्टकल शिवरामन - कथकली
218. एच. कई. बुइया - लोकसंगीत (मिजोरम)
219. रीता गांगुली - गायन
220. शारदा सिन्हा - लोकसंगीत (बिहार)
221. नजीर अहमद खाँ - सारंगीवादक
222. रसूलनबाई - ठुमरी गायन
223. तेयालिकर वासुदेवन - कर्नाटक गायन
224. अगत एं. सगमार - लोकसंगीत (मिजोरम)
225. डॉ. जी. एन. गोस्वामी - वायलिन, संगीतशास्त्री
226. सुखदेव सिंह - तबला
227. कलामंडलम् क्षेतमती - मोहिनीअट्टम
228. पंढरीनाथ नागेश्वर - तबला
229. लक्ष्मणराव पर्वतीकर - सारंगी
230. मम्मन खान - लोकसंगीत (हरियाणा)
231. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर - गायन, शास्त्रकार
232. गुलाम मुस्तफा खाँ - गायन
233. कदर प्रिया - गायन
234. डी. वी. पलुस्कर - गायन
235. तानसेन - गायन
236. केसरबाई - गायन
237. अल्लाबंदे खाँ - ध्रुपद गायन
238. जोरावर सिंह - तबला

लेखक और उनकी रचनाएँ

रचना	रचयिता
नाट्यशास्त्र	भरतमुनि
संगीत रत्नाकर	शारंगदेव
भरतभाष्य	नान्यदेव
बृहद्देशी	मतंग
दत्तिलम्	दत्तिल
चतुर्दण्डी प्रकाशिका	व्यंकटमखी
संगीत समयसार	पार्श्वदेव
नगमाते आसफी	मोहम्मद रजा
स्वरमेल कलानिधि	रामामात्य
नारदीय शिक्षा	नारद
रागकल्पद्रुम	कृष्णानंद व्यास

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

रस कौमुदी	श्रीकण्ठ
संगीत पारिजात	अहोबल
राग तरंगिणी	लोचन
कानूने मूसीकी	सादिक अली खाँ
राधा गोविन्द संगीत सार	महाराजा सवाई प्रताप सिंह
श्री मल्लक्ष्यसंगीत	पं. विष्णुनारायण भातखण्डे
मानसोल्लास	सोमेश्वर
सहसरस	नायक बख्शू
पण्डिताराध्यचरितम्	सोमनाथ
संगीत मुक्तावली	देवेन्द्र भट्ट
अनूप संगीत विलास	भावभट्ट
मानकुतुहल	मानसिंह तोमर
राग दर्पण	फकीरउल्ला
रसिक प्रिय	कुंभकर्ण
नगमातुलहिन्द	मुहम्मद अशफाक अली खाँ
संगीत कलाधार	डाह्यालाल शिवराम
संगीत चूडामणि	जगदेक मल्ल
सरमए अशरत	सादिक अली खाँ
सद्राग चन्द्रोदय	पुण्डरीक विट्ठल
संगीत सुधा	रघुनाथ भूपाल
राग विबोध	सोमनाथ
मादनुलमूसीकी	मुहम्मद करम इमाम
अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
भरतकोष	प्रो. रामकृष्ण कवि
संगीत नारायण	नारायण देव
खुलासतुलऐश आलमशाही	रौशनुद्दौला रुस्तम जंग जफर
भरतार्गव:	नंदीकेश्वर
संगीत राज	महाराणा कुम्भा
किताब-ए-नौरस	इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय
मुआरिफुन्नगमात	ठाकुर नवाब अली
हृदय कौतुक	मदनपाल
आनंद संजीवन	श्रृंगारशेखर
अभिनय भूषण	आबाने मिस्त्री
अनूपांकुश	भावभट्ट
गीतगोविंद	जयदेव
बादन शैलियाँ	योगमाया शुक्ला
गीत सूत्र (बंगला)	कृष्णधन बनर्जी
राग-तत्व-विबोध	श्रीनिवास
तशरीहुल मूसीकी	हकीम मुहम्मद अरजानी
संगीत दर्पण	चतुर दामोदर
नाद-विनोद	गोस्वामी पन्नालाल
संगीतोपनिषद सारोद्धार	सुधाकलश

गुंचाए राग	मर्दान अली खाँ
कविकल्पतरू	चिन्तामणि त्रिपाठी
नादिरातिशाह	शाहआलम
संगीत सुधाकर	हरिपाल देव
मारफतुल नगमा	अब्दुल हसन
हयात् अमीर खुसरो	नकी मुहम्मद खाँ
श्रुति भास्कर	भावभट्ट
संगीत मीमांसा	महाराणा कुम्भा
भाव प्रकाशन	शारदातनय
अनूपसंगीत रत्नाकर	भावभट्ट
संगीतसार	विद्यारण्य
संगीत मकरंद	नारद
नृर्तननिर्णय	पुण्डरीक विट्ठल
पंच भारतीय	शारदातनय
अष्टछाप पदावली	सोमनाथ गुप्त
तोहफतुल नगमात	सैयद मुहम्मद
उसूलुल नगमाते आसफी	गुलाम रजा बिन मुहम्मद पनाह
सप्तांग लक्षणम्	सोमदेव
अलंकार शास्त्र	राजा भोज
आदि भरतम्	मुम्मादि चिक्क भूपाल
संगीत तरंग	राधा मोहन सेन
ध्रुपद टीका	भरताचार्य
नरोत्तम विलास	नरहरि चक्रवर्ती
अभिनव ताल मंजरी	अप्पा तुलसी
राग निरूपणम्	नारद
राग सर्व संग्रह	पं. लोचन
संगीत रत्नावली	सोमभूपाल
श्रृंगारहार	महाराणा हम्मीर
संगीत चिन्तामणि	आचार्य बृहस्पति
ताल प्रकाश	भगवत्शरण शर्मा
भावरंग लहरी	बलवंतराय भट्ट
संगीतांजलि	ओमकारनाथ ठाकुर
तबला कौमुदी	रामशंकर पागलदास
प्रणव भारती	ओमकारनाथ ठाकुर
गुलदस्तए नगमात्	बड़े आगा साहिब
तानमालिका	राजाभैया पूंछवाले
ए ट्रिटाइज ऑन दी म्यूजिक ऑफ हिन्दुस्तान	कैप्टन विलर्ड
स्वानंदिनी	पं. जगन्नाथ बुआ पुरोहित
ध्रुपद-धमार गायकी	राजाभैया पूंछवाले
थ्योरी ऑफ इण्डियन म्यूजिक	श्री विशनस्वरूप
तान मलिका	डॉ. एस. एन. रातांजनकर

...तरंगिणी	राजाभैया पूंछवाले	अभिनव राग मंजरी	विष्णुनारायण भातखण्डे
...थरत्नमंजूषा	पं. श्री दलसुख भाई मालवणिया	ए शॉर्ट हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ इण्डियन म्यूजिक	विष्णुनारायण भातखण्डे
...संगीत	डॉ. अनिता सेन	संगीतशास्त्र	विष्णुनारायण भातखण्डे
...कर चिंचोरे	राजाभैया पूंछवाले	संगीत पुस्तक	पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर
...यूजिकल इंस्ट्रूमेन्ट्स ऑफ इण्डिया	श्री एस. बंद्योपाध्याय	संगीत बाल प्रकाश	पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर
...य म्यूजिक, माय लाइफ	पं. रविशंकर	रबीन्द्र गीत वितान	जलज भादुड़ी
...ारतीय वाद्ये	सरदार आबासाहेब मजूमदार	संगीत सार संग्रह	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
तहसील उन सितार	मुंशी नवलकिशोर	मृदंग मंजरी	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
...गमा-ए-सितार	मिर्ज़ारहीम वेग	जातीय संगती विषयक प्रस्ताव	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
सितार एण्ड इट्स टेक्निक	प्रो. देबू चौधरी	ऐक्यतानल	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
सितार चन्द्रोदय	श्री शंकरराव आठवले	कंठ कौमुदी	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
सप्तरंजनी	जितेन्द्र मोहन सेन गुप्त	गांधर्व कल्प व्याकरणम्	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
विश्व वीणा	सुललित सिंह	विक्टोरिया गीतिका	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
म्यूजिक इन्स्ट्रूमेंट्स इन इण्डियन स्कल्पचर	श्री ग. ह. तारलेकर	गीत प्रवेश	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
सितार होम ट्यूटर	फिरोज फ्रामजी	Six principal ragas of Hindus (English)	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
साइक्लोपीडिया ऑफ म्यूजिक	आक्सर थाम्सन	Musical Instruments	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
द म्यूजिक ऑफ हिन्दुस्तान	फाक्स स्ट्रेंगबेज	Seven Principal	
साउथ इण्डिया म्यूजिक	पी. साम्बमूर्ति	Universal History of Music	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
द म्यूजिक ऑफ इण्डिया	अतिया बेगम	The eight Principal Ragas of Hindus	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति	विष्णुनारायण भातखण्डे	The musical scales of Hindus	सर सौरिन्द्रमोहन ठाकुर
क्रमिक पुस्तक मालिका	विष्णुनारायण भातखण्डे		

संगीत के प्रमुख वाद्य एवं उनके विख्यात वादक

- **सितार**–मुश्ताक अली खां, पं. रविशंकर, विलायत खां, मणिलाल नाग, निशात खां, बुद्धादित्य मुखर्जी, शुजात हुसैन, जया विश्वास, शशि मोहन भट्ट आदि।
- **वायलिन**–एल. सुब्रह्मण्यम, डॉ. एन. राजम, शिशिर कनाधर चौधरी, विष्णु गोविन्द जोग, लालगुडी जयरामन, बाल मुरली कृष्णन आदि।
- **सरोद**– ब्रजनारायण, उस्ताद अलाउद्दीन खां, उस्ताद अली अकबर खां, उस्ताद अमजद अली खां, अशोक कुमार राय, चन्दन राय आदि।
- **सारंगी**– पं. राजनारायण, अरुणा काले, संतोष मिश्रा, आशिक अली खां, ध्रुव घोष, अरुणा घोष, रमजान खां, साबरी खां आदि।
- **शहनाई**–'भारतरत्न' उस्ताद बिस्मिल्ला खां, शैलेश भागवत, हरिसिंह, अनन्त लाल, भोलानाथ प्रसन्ना, जगन्नाथ आदि।
- **वीणा**–रमेश प्रेम, एस. बालचन्द्रन, कल्याण कृष्ण भगवातार, असद अली, ब्रह्म स्वरूप सिंह आदि।
- **हारमोनियम**–महमूद धौलपुरी, रविन्द तलेगांवकर, अप्पा जुलगांवकर, वासन्ती मापसेकर आदि।
- **सन्तूर**–पं. शिव कुमार शर्मा, भजन सोपारी, तरुण भट्टाचार्य आदि।
- **बांसुरी**– पन्नालाल घोष, हरि प्रसाद चौरसिया, विजय राघव राव, देवेन्द्र मुर्डेश्वर, रघुनाथ सेठ, प्रकाश वडेरा, प्रकाश सक्सेना, राजेन्द्र प्रसन्ना आदि।
- **गिटार**–विश्वमोहन भट्ट, श्रीकृष्ण नलिन मजूमदार, ब्रजभूषण काबरा तथा केशव तलेगांवकर आदि।
- **पखावज**–इन्द्रलाल राणा, प्रेम वल्लभ, गोपाल दास, ब्रज रमण लाल, रमाकान्त पाठक, तेजप्रकाश तुलसी आदि।
- **तबला**–उस्ताद अल्ला रक्खा, पं. सामता प्रसाद 'गुदई महाराज', उस्ताद लतीफ खां, उस्ताद जाकिर हुसैन, सुभाष निर्वाण, अम्बिका प्रसाद आदि।
- **नादस्वरम्**–नीरूस्वामी पिल्लई।

Copyright- Drishti The Vision Foundation

- क्लेरियोनेट–गौरीशंकर, रामकृष्ण, एम. वी. सोलपुरकर आदि।
- मृदंग–पालधर रघ।
- इसराज–अलाउद्दीन खां।
- जलतरंग–जगदीश मोहन, रामस्वरूप प्रभाकर, घासीराम निर्मल, आदि।

प्रमुख संगीत संस्थाएँ एवं संस्थान

• प्राचीन कला केन्द्र (चण्डीगढ) • भातखण्डे हिन्दुस्तानी संगीत महाविद्यालय (लखनऊ) • कॉलेज आफ म्यूजिक (मैहर) • प्रयाग संगीत समिति (प्रयागराज) • शासकीय संगीत महाविद्यालय (ग्वालियर) • कमला देवी संगीत महाविद्यालय (रायपुर) • भारतीय कला केन्द्र (नई दिल्ली) • आयंगर कॉलेज आफ म्यूजिक (मैसूर) • अजमेर संगीत महाविद्यालय (अजमेर) • कला संस्थान (जयपुर) • सयाजी राव म्यूज़िक कॉलेज (वडोदरा) • गन्धर्व महाविद्यालय (दिल्ली) • स्वर साधना समिति (मुम्बई) • संगीत भारती (बीकानेर) • श्रीराम भारतीय कला केन्द्र (दिल्ली) • वाडिया संगीत क्लास (मुम्बई) • पुणे भारत गायन समाज (पुणे) • देवधर स्कूल ऑफ इण्डियन म्यूजिक (मुम्बई) • शंकर गन्धर्व महाविद्यालय (ग्वालियर) • संगीत कला केन्द्र (आगरा) • जयपुर कथक केन्द्र (जयपुर) • अलाउद्दीन खां संगीत अकादमी (भोपाल) • रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय (कोलकाता) • अली अकबर कॉलेज आफ म्यूजिक (कोलकाता) • राजस्थान संगीत संस्थान (जयपुर) • आई. टी. सी. रिसर्च अकादमी (कोलकाता) • संगीत नाटक अकादमी (नई दिल्ली) आदि।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-5

रंगमंच, नाटक और सिनेमा

रंगमंच ऐसा स्थान है जहाँ नाटक और नृत्य का प्रदर्शन संभव होता है। 'रंगमंच' शब्द 'रंग' और 'मंच' से मिलकर बना है। रंग का आशय उपस्थित दृश्य को चित्ताकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों आदि जगहों को मनोहर बनाने से है। रंग का प्रयोग कलाकारों के वस्त्र और उनका सौंदर्य निखारने के लिए होता है। शब्द 'मंच' का आशय है कि प्रदर्शित किये जा रहे नृत्य और नाटक को, दर्शकों की सुविधा के लिए एक ऊँचे स्थान पर प्रस्तुत करना ताकि सब लोग इसे ठीक से देख सकें। रंगमंच के भवन को रंगशाला या प्रेक्षागार भी कहते हैं। पश्चिमी देशों में इसे थिएटर या ऑपेरा नाम दिया जाता है।

नाटक का आशय है रंगशाला में नटों की आकृति, हाव भाव, वेश और वचन आदि द्वारा घटनाओं का प्रदर्शन। इसके अलावा नाटक का आशय ऐसे ग्रंथ या काव्य से भी है जिसमें स्वांग के द्वारा दिखाये जाने वाले चरित्रों का वर्णन हो, इसलिए नाटक को दृश्यकाव्य या अभिनयग्रंथ भी कहा जाता है। प्राचीन परंपरा के अनुसार नाटक की गिनती काव्यों में की जाती है। काव्य दो प्रकार के माने गये हैं–श्रव्य और दृश्य। इसी दृश्य काव्य का एक भेद 'नाटक' माना गया है। भरतमुनि का "नाट्यशास्त्र" इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रंथ है। अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण मिलता है। अग्निपुराण में दृश्य काव्य या रूपक के 27 भेद कहे गए हैं–नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीनिगदित, नाटयरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण। साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण, भेद आदि अधिक स्पष्ट रूप से दिए गए हैं।

इसके अनुसार नाटक किसी ख्यात वृत्त (प्रसिद्ध आख्यान, कल्पित नहीं) को लेकर लिखना चाहिए। वह बहुत प्रकार के विलास, सुख-दुःख, अनेक रसों से युक्त होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होने चाहिए। नाटक का नायक धीरोदात्त तथा प्रख्यात वंश का कोई प्रतापी पुरुष या राजर्षि होना चाहिए। नाटक के प्रधान या अंगी रस शृंगार और वीर हों और शेष सात रस गौण रूप से आयें। संधिस्थल या मध्यांतर में कोई विस्मयजनक व्यापार होना चाहिए। उपसंहार या नाटक के अंत में मंगल ही दिखाया जाना चाहिए। वियोगांत नाटक संस्कृत अलंकार शास्त्र के विरुद्ध है। अभिनय आरंभ होने के पहले जो क्रिया (मंगलाचरण) होती है, उसे पूर्वरंग कहते हैं। पूर्वरंग के उपरांत प्रधान नट या सूत्रधार, जिसे स्थापक भी कहते हैं, मंच पर आकर सभा की प्रशंसा करता है फिर नट, नटी सूत्रधार इत्यादि परस्पर वार्तालाप करते हैं जिसमें खेले जाने वाले नाटक का प्रस्ताव, कवि-वंश-वर्णन आदि विषय आ जाते हैं। नाटक के इस अंश को प्रस्तावना कहते हैं। जिस इतिवृत्त को लेकर नाटक रचा जाता है उसे वस्तु कहते हैं। 'वस्तु' दो प्रकार की होती है– आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु। जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसे 'अधिकारी' कहते हैं। इस अधिकारी के संबंध में जो कुछ वर्णन किया जाता है उसे 'आधिकारिक वस्तु' कहते हैं। इस अधिकारी के उपकार के लिये या रसपुष्टि के लिये प्रसंगवश जिसका वर्णन आता है उसे प्रासंगिक वस्तु कहते हैं, जैसे सुग्रीव आदि का चरित्र। 'सामने लाने' अर्थात् दृश्य उपस्थित करने को अभिनय कहते हैं। अभिनय चार प्रकार का होता है– आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। अंगों की चेष्टा से जो अभिनय किया जाता है उसे आंगिक, वचनों से जो अभिनय किया जाता है उसे वाचिक, वेश बनाकर जो अभिनय किया जाता हैं उसे आहार्य तथा भावों के उद्रेक से कंप, स्वेद आदि द्वारा जो अभिनय होता है उसे सात्विक कहते हैं। संस्कृत साहित्य में नाटक संबंधी ऐसे ही अनेक कौशलों का वर्णन किया गया है। हालांकि आधुनिक काल में इन नियमों और व्यंजनाओं को स्वीकार नहीं किया जा रहा है।

भारत में नाटक और उनका मंचन प्राचीन काल से चला आ रहा है। सिंधु घाटी में ऐसे साक्ष्य मिले हैं जिनसे अनुमान लगाया जा रहा है कि यहाँ रंगशाला बनाई गयी थी। सीताबेंगरा और जोगीमारा की गुफाओं से जो चित्र मिले हैं उनसे भी इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में नाटक खेले जाते थे। नाटक के क्षेत्र में पहला प्रस्थान बिंदु भरत मुनि का नाट्यशास्त्र माना जाता है। रामायण, महाभारत, हरिवंश आदि ग्रंथों में नट और नाटक का उल्लेख मिलता है। पाणिनि ने 'शिलाली' और 'कृशाश्व' नामक दो नटसूत्रकारों के नाम लिए हैं।

भरत का नाट्यशास्त्र पहली अथवा दूसरी शती ई. में संकलित हुआ समझा जाता है। उन्होंने इसमें नाटकों के विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया है: "नाट्यकला की उत्पत्ति दैवी है, अर्थात् दुःखरहित सतयुग बीत जाने पर त्रेतायुग के आरंभ में देवताओं ने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से मनोरंजन का कोई ऐसा साधन उत्पन्न करने की प्रार्थना की जिससे देवता लोग अपना दुःख भूल सकें और आनंद प्राप्त कर सकें। फलत: उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर, नाटक का निर्माण किया और विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया"।

साहित्य में नाटक लिखने की परंपरा संस्कृत से विकसित हुई और यह विधा बाद की भाषाओं ने अपनाई। संस्कृत नाटक प्राय: उत्कृष्ट कोटि के हैं और आज तक उनका मंचन होता आ रहा है। पाश्चात्य विद्वानों की भी धारणा है कि धार्मिक कृत्यों से ही नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। अगर यह बात सही हो तो इस नजरिए से कटोरानुमा स्थान रंगमंचन के लिए अधिक उपयुक्त समझा गया होगा।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright– Drishti The Vision Foundation

भरत ने तीन प्रकार के नाट्यमंडपों आयताकार, वर्गाकार और त्रिभुजाकार का विधान उनकी नापजोख के साथ बताया है। उन्होंने इन प्रत्येक मंडल के तीन-तीन हिस्से भी किये हैं। एक हिस्सा देवताओं के लिए (ज्येष्ठ), दूसरा राजाओं (मध्यम) तथा तीसरा अन्य लोगों के लिए (अवर) आवंटित किया। नाट्यशाला का प्राय: आधा भाग या प्रेक्षागृह, दर्शकों के लिए और शेष आधे में रंगमंडप होता था। जिसके पीछे के भाग में नेपथ्य होता था। भारतीय प्रेक्षागृह आकार में यूनानी प्रेक्षागृहों की अपेक्षा बहुत छोटे होते थे जबकि यूनानी प्रेक्षागृहों को बहुत खुली जगह में बनाया जाता था। उन्होंने रंगमंच को लेकर कई जगह स्पष्ट दिशा-निर्देश दिये हैं। इसमें कुछ दृश्यों का मंचन करने से मना कर दिया गया जैसे- नहाना, हत्या, युद्ध आदि के दृश्य।

संस्कृत के नाटककारों में भास, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास, विशाखदत्त, भवभूति आदि शामिल हैं। कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन ने भी तीन नाटक लिखे। कालांतर में संस्कृत नाटकों की विधा क्षीण पड़ने लगी लेकिन उसने स्थानीय नाटक विधाओं को जन्म दिया. जिससे इस विधा का व्यापक विस्तार हुआ।

आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। मुगल शासकों ने इस कला को चित्रकला या स्थापत्य जैसा प्रोत्साहन नहीं दिया। संभवतया इसी कारण मुगल काल में इसका विकास नहीं हो सका। अंग्रेजों का सिक्का जमने के साथ ही देश में नाटकों का पुनर्जन्म होने लगा। अंग्रेजों ने अपने नाटकों के अभिनय के लिए यहाँ अभिनयशालाओं का संयोजन किया, जो थिएटर के नाम से अधिक विख्यात हैं। इस ढंग का पहला थिएटर, प्लासी के युद्ध के बहुत पहले, कलकत्ता में बन गया था। एक दूसरा थिएटर 1795 ई. में खुला। इसका नाम 'लेफेड फेयर' था। इसके बाद 1812 ई. में 'एथीनियम' और दूसरे वर्ष 'चौरंगी' थिएटर खुले। धीरे-धीरे रंगमंच के विकास की दो धाराएं उभरीं। पहली धारा कोलकाता में पाश्चात्य प्रधान शैली की थी और दूसरी धारा बंबई की पारसी शैली की थी। पारसी नाटक कंपनियों ने भी रंगमंच को आकर्षक और मनोरंजक बनाकर अपने नाटक पेश किए।

पारसी कंपनियों जैसे ओरिजिनल विक्टोरिया, एम्प्रेस विक्टोरिया, एल्फिस्टन थियेट्रिकल कम्पनी, अल्फ्रेड थियेट्रिकल तथा न्यू अल्फ्रेड कम्पनी आदि ने व्यावसायिक रंगमंच बनाये। इन कंपनियों ने सबसे पहले मुंबई और बाद में हैदराबाद, लखनऊ, बनारस, दिल्ली, लाहौर आदि कई जगहों पर हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन किया। इन पारसी नाटक मंडलियों के लिए शुरुआती दौर में नसरबानी खां साहब, रौनक बनारसी, विनायक प्रसाद 'तालिब', 'अहसन' आदि लेखकों ने नाटक लिखे। आगे चलकर बरेली के रहने वाले राधेश्याम कथावाचक और नारायणप्रसाद बेताब, आगाहश्र कश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर आदि कुछ ऐसे नाटककारों ने पारसी रंगमंच को कुछ साहित्यिक पुट देकर सुधारने का प्रयत्न किया और हिन्दी को व्यावसायिक रंगमंच पर लाने की चेष्टा की। करीब 80 सालों तक पारसी रंगमंच ने मनोरंजन के क्षेत्र में अपना सिक्का जमाए रखा।

पारसी रंगमंच की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं। पहला, पर्दों का नायाब प्रयोग। मंच पर हर दृश्य के मुताबिक अलग पर्दे का प्रयोग किया गया जिससे दृश्यों में विश्वसनीयता आये। इस वजह से पारसी रंगमंच की मंच सज्जा का विधान बड़ा ही जटिल होता है। दूसरी खासियत उनमें संगीत, नृत्य और गायन का प्रयोग है। पारसी नाटकों में नृत्य और गायन का यही जोड़ हिंदी फिल्मों में दिखा। इसी वजह से भारतीय फिल्में पश्चिमी फिल्मों से अलग होने लगीं। पारसी थियेटर में गाना एक अहम तत्व था और इसमें अभिनेता अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए गाने का सहारा लेते थे। पारसी थियेटर में एक अभिनेता के लिए एक अच्छा गायक होना बेहतर माना जाता था क्योंकि आधी कहानी गानों में ही चलती थी। पारसी थियेटर का ही प्रभाव है कि भारतीय सिनेमा में गीतों का भरपूर प्रयोग किया जाता है। रंगमंच से इस प्राचीन शैली के अभिनय के तत्व गायब हो गये हों लेकिन इस नाट्य शैली के गाने गाकर अपनी भावनाओं से दर्शकों को उद्वेलित करने की अदा आज भी कायम है। तीसरी खूबी वस्त्र सज्जा यानी कॉस्ट्यूम है। पारसी रंगमंच में पात्र जो कपड़े पहनते हैं, उसमें रंगों और अलंकरण का खास ध्यान रखा जाता है। पारसी रंगमंच की चौथी बड़ी खूबी लंबे संवादों का प्रयोग है। पारसी नाटकों के संवाद ऊँची आवाज में बोले जाते हैं इसलिए संवादों में अतिनाटकीयता भी रहती है।

सिनेमा के आगमन के बाद पारसी रंगमंच ने अपनी परंपरा सिनेमा को सौंप दी। पेशेवर रंगमंच के अनेक नायक, नायिकाएं सहयोगी कलाकार, गीतकार, निर्देशक, संगीतकार सिनेमा के क्षेत्र में चले आए। आर्देशिर ईरानी, वाडिया ब्रदर्स, पृथ्वीराज कपूर, सोहराब मोदी जैसी महान प्रतिभाओं ने सिनेमा की राह पकड़ ली।

देश में आधुनिक रंगमंच की शुरुआत नवम्बर 1765 में रूसी नाटककार हेरासिम लेबेडफ और बंगाल के रंगकर्मी गोलकनाथ द्वारा पेश 'डिस्गाइज' और 'लव इज द बेस्ट डॉक्टर' से मानी जाती है। 1831 में कलकत्ता में प्रसन्न कुमार टैगोर ने 'हिंदू रंगमंच' की स्थापना की और उसी दौरान शेक्सपियर के 'जूलियस सीजर' और भवभूति के 'उत्तर रामचरित' के अंग्रेजी रूपांतरण का मंचन हुआ। इसके बाद योगेंद्र चंद्र गुप्त के 'कीर्ति विलास' और ताराचरण के 'भद्रार्जुन' काफी लोकप्रिय हुए। लेकिन सबसे ज्यादा प्रसिद्धि मिली दीनबंधु मित्र के 'नीलदर्पण' को। इस नाटक ने तत्कालीन बंगला समाज को उद्वेलित करके रख दिया था। इसके अलावा गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने भी विसर्जन, चंडालिका और रकतकार्वी नामक नाटक लिखे।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

नील दर्पण- दीनबंधु मित्र (1830-1876) ने इस अमर नाटक को 1860 में लिखा। इसकी विषय वस्तु बंगाल और उसके आसपास हुए नील विद्रोह की है। इसमें अंग्रेजों के द्वारा नील किसानों के शोषण और उनकी दारूण दशा का वर्णन है। इस नाटक ने बंगाली समाज में एक तीखी बहस छेड़ दी और अखबारों में इसके बारे में खूब छपने लगा। माइकल मधुसूदन दत्त ने इसका अंग्रेजी अनुवाद किया और तुरंत ही रेवरैंड जेम्स लांग ने इसका प्रकाशन भी कर दिया। इससे पहले ही नाराज चल रहे अंग्रेज और क्षुब्ध हो गये और उन्होंने जेम्स लांग पर मुकदमा कर दिया। न्यायधीश ने खचाखच भरी अदालत में जेम्स लांग को एक हजार रुपये जुर्माने और एक महीने जेल की सजा सुनाई। अदालत में मौजूद और बंगाल पुनर्जागरण के अग्रदूतों में शामिल कालीप्रसन्न सिन्हा ने फौरन ही अपने जेब से यह रकम चुका दी। यह नाटक लोगों को कितना ज्यादा संवेदनशील बना देता था इसका एक उदाहरण यह है जब समाज सुधारक ईश्वर चंद्र विद्यासागर एक बार इस नाटक का मंचन देख रहे थे तो नाटक देखते देखते उन्हें अपनी भावनाओं पर नियंत्रण नहीं रहा और अंग्रेज अधिकारी मिस्टर वुड का अभिनय कर रहे अभिनेता अर्धेन्दुशेखर पर अपना जूता फेंक दिया। अर्धेन्दुशेखर ने यह जूता बतौर अभिनय का पुरस्कार मान कर रख लिया।

गिरीश चंद्र घोष (1844-1912) बहुमुखी प्रतिभा के धनी गिरीश चंद्र घोष को बंगला थियेटर का पिता कहा जाता है। उन्होंने करीब 40 नाटक लिखे और उनमें से कई निर्देशित भी किये। वह ग्रेट नेशनल थियेटर के सहसंस्थापक भी थे। उन्हें संगीत, कविता, उपन्यास, नाटक, थियेटर निर्देशन और अभिनय में महारत हासिल थी।

इप्टा

दूसरे विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि और बंगाल के भीषण अकाल की छाया के बीच कुछ उत्साही नौजवानों ने भारतीय जननाट्य संघ (Indians Peoples Theater Association-IPTA) या इप्टा की स्थापना की। इसके नाटक 'नवान्न' ने समूचे देश में धूम मचा दी। इसका निर्देशन विजन भट्टाचार्य ने किया था। हालाँकि इस संगठन में जल्द ही मतभेद उभरे और कुछ लोगों ने अलग राह पकड़ ली। इप्टा के संस्थापक सदस्य रहे उत्पल दत्त ने लिटिल थियेटर ग्रुप और बाद में पीपुल्स लिटिल थियेटर का गठन किया। एक और महत्वपूर्ण सदस्य शंभुमित्रा ने 'बहुरूपी' नाम से बंगला रंगमंच से जुड़ा संगठन बना लिया।

इप्टा: इसकी नींव 25 मई 1943 को समाजवाद की अवधारणाओं से प्रेरित कुछ युवाओं ने रखी। इनका मकसद थियेटर को पारसी और पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त करके उसे लोगों के करीब लाना और जनोन्मुखी बनाना था। इन लोगों में पृथ्वीराज कपूर, ऋत्विक घटक, उत्पल दत्त, ख्वाजा अहमद अब्बास, सलिल चौधरी, पंडित रविशंकर, आदि शामिल थे। इसका नामकरण प्रसिद्ध वैज्ञानिक होमी जहांगीर भाभा ने किया था। इसमें बाद में गीतकार शैलेंद्र, साहिर लुधियानवी, एम एस सथ्यू, बलराज साहनी, कैफी आजमी, शबाना आजमी, फारूक शेख भी जुड़े। इसे असम और बंगाल में भारतीय गण नाट्य संघ और आंध्रप्रदेश में प्रजा नाट्य मंडली के रूप में जाना गया। यह संगठन अपनी करीब 600 शाखाओं के माध्यम से अभी भी सक्रिय है। इस संगठन का प्रतीक चिन्ह नगाडा बजाते हुए एक व्यक्ति का चित्र है और इसका सूत्र वाक्य जनता के रंगमंच का असली नायक जनता है।

इस बंगला और हिन्दी नाटक और रंगमंच के समांतर देश के कई हिस्सों में अन्य भाषाओं से जुडे रंगमंचों का विकास होने लगा। महाराष्ट्र में 1843 में विष्णुदास भावे ने 'सीता स्वयंवर' नाम का पहला आधुनिक मराठी नाटक लिखा। अन्ना साहब किर्लोस्कर ने एक किर्लोस्कर नाट्य मंडली का गठन किया, जिसने मराठी नाटकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। मराठी नाटकों में सबसे महत्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु विजय तेंदुलकर हैं। उनके लिखे नाटकों ने मराठी रंगमंच का स्वरूप ही बदल कर रख दिया। उनके कई नाटक हिन्दी सहित अन्य भाषाओं में खेले गये। मराठी रंगमंच में अन्य महत्वपूर्ण लोग अच्युत वझे, महेश एल्कुचवार, विजया मेहता, श्रीराम लागू, जब्बार पटेल, सत्यदेव दुबे, अमोल पालेकर आदि रहे हैं। इसमें महेश एल्कुचवार को विजय तेंदुलकर का उत्तराधिकारी भी कहा जाता है।

विजय तेंदुलकर (1928-2008)- मराठी भाषा के इस बेजोड़ लेखक ने नाटक लेखन के अलावा फिल्म-टीवी लेखक, पत्रकार और निबंधकार के रूप में अपार ख्याति अर्जित की। उनके नाटक शांतता, कोर्ट चालू आहे (खामोश अदालत जारी है) ने उन्हें दुनियाभर में प्रसिद्ध कर दिया। इसके अलावा उनके नाटक गिद्ध, घासीराम कोतवाल, सखारामं बाइंडर आदि नाटकों ने काफी नाम कमाया। इसमें घासीराम कोतवाल का तो छह हजार से ज्यादा बार मंचन किया जा चुका है। उन्होंने अर्द्धसत्य, निशांत, मंथन और आक्रोश जैसी मील का पत्थर बनीं फिल्मों की पटकथा भी लिखी। उन्होंने हिंसा, सेक्स, मौत, भ्रष्टाचार और महिलाओं के संघर्ष पर जम कर लिखा है।

आधुनिक कन्नड़ नाटक एवं रंगमंच का विकास 19वीं सदी के अंत में कुछ संस्कृत नाटकों के मंचन से माना जाता है। इसी दौर में कई नाटक कंपनियों का जन्म हुआ। इनमें गुब्बी चेनाबासेश्वर क्रियापोशिता, हालासामी आदि कंपनियों ने कन्नड़ नाटकों का प्रदर्शन करके काफी नाम कमाया। कन्नड़ नाटकों का दूसरा दौर 1918 में प्रकाशित टीपी केलाराम के नाटकों को जाता है। उनके बाद शिवरामकारंत, आद्य रंगाचार्य ने अपने नाटकों से कन्नड़ नाटकों को नई ऊँचाईयां प्रदान कीं। आजादी के बाद के दौर में गिरीश कर्नाड, लंकेश, बी. वी. कारंत, प्रसन्ना, आर नागेश आदि लोगों ने कन्नड रंगमंच के विकास में अहम योगदान दिया।

गिरीश कर्नाड (1938-) देश के जाने-माने कन्नड़ और अंग्रेजी भाषी लेखक गिरीश कर्नाड ने बतौर नाटककार, अभिनेता निर्देशन के क्षेत्र में अपार ख्याति अर्जित की है। उनके नाटक तुगलक, हयवदन, तलेदंड, नागमंडल और ययाति बेहद लोकप्रिय हुए। इन नाटकों का देशभर की कई भाषाओं में मंचन और अनुवाद हुआ है। उन्होंने सिनेमा के क्षेत्र में काफी यश कमाया है। उनकी फिल्में निशांत, मंथन, इकबाल आदि काफी चर्चित रहीं। उन्हें पद्मविभूषण, साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

ओडिया नाटक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु रमाशंकर राय (1860-1910) हैं। उनके अलावा मनोरंजन दास, गोपाल छ. अक्षय मोहन्ती और अनंत महापात्र आदि लोगों ने भी ओडिया भाषा के नाटक के विकास में खासा योगदान दिया है। ओडिया नाटकों की एक विशेषता यह है कि उनका झुकाव अमूर्त नाटकों की तरफ है। गुजराती रंगमंच और नाटक का विकास अपार संभावनाओं के बावजूद अन्य रंगमंचों की तुलना में जरा कम हुआ ही माना जाता है। तब भी मधुराय के 'कुमार की छत पर' और 'किसी एक फूल का नाम लो', विनायक पुरोहित का 'स्टीलफ्रेम' और शांता गांधी का 'जसमा ओडन' ने पर्याप्त यश अर्जित किया है। गुजराती रंगकर्मियों में हंसमुख बराडी, अशरफ खान, जनक रावल और निमेष देसाई आदि लोगों का नाम प्रमुख है। इसी तरह मलयालम रंगमंच में के एन पणिक्कर, जी शंकर पिल्लई; तमिल रंगमंच में जे जयकुमार, ए मंगाई, चंद्रादासन, तेलुगु रंगमंच में गोपी नायडू, नागभूषण सर्मा, एस मोहन, पंजाबी रंगमंच में बलवंत गार्गी, शीला भाटिया और शन्नो खुराना और मणिपुरी रंगमंच क्षेत्र में रतन थियम, होसनेम कन्हैयालाल और आई दोरेंद्र आदि लोगों के नाम प्रमुख हैं।

हिंदी नाट्य परम्परा

हिन्दी खड़ी बोली में प्रथम आधुनिक नाटक लिखने का श्रेय भारतेन्दु को है। भारतेंदु के नाटकों का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ जनसामान्य को जागृत करना तथा उनमें आत्मविश्वास जगाना था। प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम जगाने, मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था बनाए रखने तथा पश्चिम के गलत प्रभावों से समाज को बचाये रखने का प्रयास इस दौरान लिखे नाटकों में हुआ है। इस दौर के प्रसिद्ध नाटक हैं- देवकीनंदन खत्री का 'सीताहरण', भारतेंदु की 'भारत दुर्दशा' व 'अंधेर नगरी' तथा प्रताप नारायण मिश्र का 'शिक्षादान' आदि। इस युग में प्रहसन अधिक लिखे गये। इन प्रहसनों में हास्य-व्यंग्य शैली में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक कुरीतियों, कुप्रथाओं एवं अंधविश्वासों का मज़ाक उड़ाया गया है। भारतेंदु की 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे' इसी शैली के नाटक हैं।

इस काल में अनूदित नाटक भी लिखे गये। भवभूति व कालिदास के संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद अधिक हुए। राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का अनुवाद किया। बंगला से माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटकों के अनुवाद हुए। अंग्रेजी से शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस', 'मैकबेथ' का अनुवाद हुआ।

जयशंकर प्रसाद के आगमन से हिन्दी नाटक के विकास को नयी दिशा मिली। इस समय देश में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन विकसित हो रहा था। व्यापक सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना की लहर ने इस समय साहित्य को प्रभावित किया। इसलिए भारत के अतीत की खोज एवं वर्तमान समस्याओं व दुर्बलताओं से लड़ने का साहस प्रसाद के नाटकों की प्रेरणा बने। इसी काल में पारसी थियेटर अपने चरम विकास पर था तथा अत्यंत लोक-प्रचलित भी था। इसलिए, इस काल की नाट्य प्रवृत्तियों पर उसका प्रभाव भी अत्यंत व्यापक रूप में नज़र आता है। जयशंकर प्रसाद ने 'कल्याणी', 'करुणालय', 'राज्यश्री', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'ध्रुवस्वामिनी', 'विशाख' आदि नाटक लिखे। उनके समकालीनों आगा हश्र कश्मीरी ने 'सूरदास', 'श्रवण कुमार', 'सीता वनवास', नारायण प्रसाद 'बेताब' ने 'महाभारत', 'रामायण', 'कृष्ण सुदामा' और सुदर्शन ने 'सिकंदर', 'धूपछाँह' आदि नाटक लिखे। इसके बाद यथार्थपरक समस्या प्रधान नाटकों को लिखा गया। इनमें मन के संघर्ष, विवाह और प्रेम, मूल्यों के पतन की समस्या को केंद्र में रखा गया। इन नाटकों में उपेन्द्रनाथ अश्क का अजोदीदी, बेचन शर्मा 'उग्र' का आवारा, डिक्टेटर खासे चर्चा में रहे।

स्वतंत्रता के बाद नव-निर्माण की आकांक्षा ने लोगों में उत्साह का संचार किया, लेकिन इस दिशा में मिली असफलता से उत्पन्न मोहभंग ने लोगों को निराश एवं कुंठित भी किया। इन परिस्थितियों में मध्यवर्ग सर्वाधिक प्रभावित हुआ। इस दौर में जो नाटक लिखे गये, उनमें मध्यवर्ग की आशाओं-आकांक्षाओं व विडम्बनाओं का चित्रण किया गया। इन नाटककारों ने आधुनिकता बोध के नाटक लिखे। इन्हें 'नवलेखन' के दौर के नाटक या 'नया नाटक' नाम से भी जाना जाता है। भुवनेश्वर प्रसाद के 'असर' नाटक से आधुनिकता बोध का आरंभ माना गया। इन्हीं के दूसरे नाटक 'तांबे के कीड़े' से विसंगति बोध के नाटकों की शुरुआत हुई। विसंगति बोध का अर्थ है मानव जीवन का निरुद्देश्य और अर्थहीन होना। कामू, सैमुअल बेकेट की पाश्चात्य 'एब्सर्ड परंपरा' से मिलते-जुलते ऐसे नाटक काफी मात्रा में लिखे गए।

आधुनिकता बोध को स्थापित करने की दृष्टि से धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' एवं मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे', 'आषाढ़ का एक दिन' व 'लहरों के राजहंस' उल्लेखनीय हैं। **धर्मवीर भारती** कृत 'अंधा युग' में महाभारत युद्ध के उपरान्त की परिस्थितियों एवं घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है।

मोहन राकेश ने मूलतः आधुनिक मानव के द्वन्द्व और तनाव को अपने नाटकों का विषय बनाया है। रंगमंच के स्तर पर मोहन राकेश प्रसाद की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। इनकी भाषा चरम रचनात्मकता तथा नाटकीय संभावनाओं से युक्त है। 'आषाढ़ का एक दिन' की कथा कालिदास की प्रणयकथा है। यह नाटक सत्ता और सर्जनात्मकता के द्वन्द्व एवं जटिल सम्बन्धों को व्यक्त करता है। 'लहरों के राजहंस' गौतम बुद्ध के भ्राता नंद के द्वन्द्व को रूपायित करता है। इसमें राग-विराग, मोह-त्याग, सांसारिकता-आध्यात्मिकता के द्वन्द्व को सफलतापूर्वक उभारा गया है। 'आधे अधूरे' यथार्थ की सीधी अभिव्यक्ति करने वाला एक आडम्बरहीन नाटक है जो आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार के टूटने-बिखरने की कथा है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मोहन राकेश की परम्परा में ही अन्य एक नाम है- **'सुरेन्द्र वर्मा'**। इन्होंने खासतौर पर आधुनिक जीवन के तनाव और तल्खी को व्यक्त करने की कोशिश की है। 'द्रौपदी', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग' इनके प्रमुख नाटक हैं। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में स्त्री के काम-मनोविज्ञान को बहुत काव्यात्मकता के साथ व्यक्त किया गया है। 'आठवाँ सर्ग' में अश्लीलता और लेखकीय अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न उठाया गया है।

इस समय पाश्चात्य रंगशिल्प पर आधारित कई नाटक आए। इनमें सूत्रधार, कथाविहीनता, नायकहीनता का प्रचलन बढ़ा। हिन्दी नाटक को नवीनता की ओर उन्मुख करने में रमेश बक्षी का योगदान महत्वपूर्ण रहा। इन्होंने नाटकों में भाषा, परिवेश व संदर्भ में 'बोल्डनेस' का मुहावरा चलाया।

सत्तर के दशक तक हिन्दी नाटक की रंगमंचीयता काफी खुली और कथ्य के स्तर पर उसमें विस्तार एवं सूक्ष्मता आ गई। सत्तर के बाद की नाट्य रचना अपने समय के जटिल यथार्थ से टकराती है एवं रंगचेतना की भी पूरी रक्षा करती है। इन नाटकों की अंतर्वस्तु काफी व्यापक है। इस दौर में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का *'बकरी'*, ज्ञानदेव अग्निहोत्री का *'शुतुरमुर्ग'*, भीष्म साहनी का *'कबिरा खड़ा बाजार में'* और *'मुआवजे'* तथा बृजमोहन शाह का *'त्रिशंकु'* को काफी सराहा गया।

इसके साथ ही कई महत्वपूर्ण निर्देशकों ने भी अपनी कल्पना से नाटकों को समृद्ध किया। इनमें प्रमुख हैं - इब्राहिम अल्काज़ी, श्यामानंद जालान, बी.वी. कारंत, सत्यदेव दुबे, हबीब तनवीर, सत्यव्रत सिन्हा आदि।

> *एब्सर्ड या विसंगत नाटक: हिन्दी में एब्सर्ड नाटक को 'विसंगत' अथवा 'असंगत' नाटक कहा जाता है। एब्सर्ड नाटक की शुरुआत मूलत: पश्चिम में प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियों एवं उनसे उपजे जीवन बोध एवं दर्शन से प्रेरित मानी गई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में अस्तित्ववादी दर्शन का विकास हुआ। इसी अस्तित्ववाद ने नाटक के क्षेत्र में विसंगतिवाद (एब्सर्डिज्म) को प्रश्रय दिया।*
>
> *ऐसे नाटकों में व्यर्थता, निरर्थकता, अतार्किकता एवं अनिश्चयता को नाट्यवस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। किंतु इन नाटकों का अंतिम लक्ष्य इन सबके भीतर से मनुष्य के मौलिक अस्तित्व को परिभाषित करना ही होता है।*
>
> *इस परंपरा के नाटककारों में कामू, सार्त्र, ज्याँ जेन, बेकेट, आयनेस्को, अदामोव, आल्बी, पिंटर आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी जीवन की विरूपता की स्थिति को स्वीकार कर चलते हैं जिसमें बेतुकापन, भोंडापन, भद्दापन, अतार्किकता एवं निरर्थकता एक अपरिहार्य सत्य बनकर आता है।*
>
> *भुवनेश्वर के बाद हिन्दी में एब्सर्ड का सबसे सटीक प्रभाव विपिन कुमार अग्रवाल के नाटकों में मिलता है। उनके 'तीन अपाहिज', 'लोटन', 'खोए हुए की तलाश' नाटकों से हिन्दी के विसंगत नाटकों की धारा पुष्ट होती है।*

हिन्दी रंगमंच परम्परा

हिन्दी रंगमंच का प्रारंभ 1853 ई. में नेपाल के भाटगांव में अभिनीत 'विद्याविलाप' नाटक से माना जाता है। किंतु, यह नेपाल तक ही सीमित रह गया। वस्तुत: हिन्दी रंगमंच का नवोत्थान 1871 ई. में स्थापित 'अल्फ्रेड नाटक मंडली' से हुआ जिसने भारतेंदु, राधाकृष्णदास के नाटकों का मंचन प्रस्तुत किया। राधेश्याम कथावाचक इस मंडली के प्रमुख नाटककार थे। इस मंडली के मंच पर स्त्री चरित्रों की भूमिका पुरुष पात्र ही किया करते थे।

हिन्दी में अव्यावसायिक रंगमंच का सूत्रपात 1868 ई. में 'बनारस थियेटर' के साथ हुआ। 1884 ई. में बनारस में 'नेशनल थियेटर' की स्थापना हुई। भारतेंदु के 'अंधेर नगरी' का प्रथम मंचन 'नेशनल थियेटर' ने ही किया था।

हिन्दी रंगमंच के विकास में 'भारतेंदु नाटक मंडली' (1906) की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस मंडली ने लगभग डेढ़ दर्जन नाटकों का मंचन किया जिनमें 'सत्य हरिश्चंद्र', 'सुभद्रा हरण', 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' एवं 'ध्रुवस्वामिनी' प्रमुख हैं। इस मंडली ने भारतेन्दुयुगीन नाटकों के साथ-साथ प्रसाद के नाटकों को भी सफलतापूर्वक मंचित कर हिन्दी के अपने स्वतंत्र रंगमंच के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। जयशंकर प्रसाद के नाटकों को मंचित कर इस संस्था ने सिद्ध कर दिया कि प्रसाद के नाटक पूर्णत: अभिनेय हैं। आगे चलकर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की 'विक्रम परिषद' की स्थापना 1939 ई. में हुई। इसने नाटकों में स्त्री पात्र के लिए स्त्रियों द्वारा ही अभिनय की परंपरा डाली।

हिन्दी रंगमंच के विकास में 'बलिया नाट्य समाज' (1884) की भूमिका भी ऐतिहासिक मानी जाती है। 1884 ई. में यहीं पर भारतेंदु ने नाटक पर एक लंबा व्याख्यान दिया था। उसी समय 'सत्य हरिश्चंद्र' तथा 'नील देवी' नाटकों का मंचन किया गया था। इसमें स्वयं भारतेंदु ने हरिश्चंद्र की भूमिका निभाई थी।

हिन्दी रंगमंच के विकास में काशी के पश्चात् इलाहाबाद के रंगमंचों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहाँ के महत्वपूर्ण नाट्य मंच 'आर्य नाट्य सभा', 'श्रीराम लीला नाटक मंडली' तथा 'हिन्दी नाट्य समिति' थे। कानपुर की संस्थाओं ने भी हिन्दी रंगमंच को आगे

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यहाँ के प्रमुख नाट्य मंच हैं- 'भारत नाट्य समिति' और 'भारतीय कला मंदिर'। वर्तमान समय में कानपुर की 'कानपुर अकादमी ऑफ ड्रैमेटिक आर्ट्स' तथा 'एम्बेसडर' संस्थाएँ समकालीन नाटकों के मंचन में महत्वपूर्ण निभा रही हैं। बिहार में 'पटना नाटक मंडली' (1876) तथा 'अमैच्यौर ड्रैमेटिक्स एसोसियेशन' उल्लेखनीय नाट्य मंच रहे हैं।

> ***पृथ्वी थियेटर:*** *1944 ई. में पृथ्वीराज कपूर ने 'पृथ्वी थियेटर' की नींव रखी और हिन्दी रंगमंच को एक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। सोलह वर्ष तक पृथ्वी थियेटर ने पूरे भारत में नाटक मंचित किए। इसके कुल 8 नाटक थे- 'शकुंतला', 'दीवार', 'पठान', 'आहुति', 'कलाकार', 'पैसा', 'किसान', 'दत्ता'। इस थियेटर ने देशभर में अपनी प्रस्तुतियाँ दीं। पृथ्वी थियेटर पारसी थियेटर के बाद ऐसा नाटक समूह था जो अपने नाट्य दल, रंग-सज्जा तथा रंगोपकरण के साथ उत्तर एवं दक्षिण भारत के सभी क्षेत्रों में यात्राएँ करता एवं प्रस्तुतियाँ देता था। इसमें पृथ्वीराज के अतिरिक्त अजरा सहगल, जोहरा सहगल, राजकपूर, शम्मी कपूर, प्रेमनाथ, सुदर्शन सेठी और श्रीराम महत्वपूर्ण कलाकार थे। इनके नाटकों में साम्राज्यवाद विरोध, सामंतवाद विरोध, पूंजीवाद के विकृत रूपों का विरोध, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि महत्वपूर्ण विषय होते थे। पृथ्वी थियेटर आज भी भलीभांति सक्रिय है।*

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (National School of Drama) व अन्य संस्थाएँ:

भारत में रंगमंच के विकास के लिए संगीत नाटक अकादमी ने अप्रैल 1959 में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' (रानावि) की स्थापना की। इस विद्यालय ने न सिर्फ देश की महत्वपूर्ण रंग प्रतिभाओं, निर्देशकों, अभिनेताओं को जन्म दिया बल्कि हिन्दी के नाटकों के मंचन एवं रंगमंच के विकास में 1950 के बाद ऐतिहासिक दायित्व निभाया है। इस विश्वविद्यालय में 'रंग-मंडल' की स्थापना 1964 ई. में की गई जो उसका प्रदर्शन विभाग है। 'रंग-मंडल' ने शैलीगत संगीत से लेकर भारतीय नाट्य की समकालीन कृतियों, अनुवादों और विदेशी भाषाओं के नाटकों के नाट्य रूपांतरणों की 200 से अधिक प्रस्तुतियाँ की हैं। रंग-मंडल के साथ राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के प्रमुख रंग निर्देशकों ने काम किया है। रंग-मंडल भारत के मुख्य शहरों में प्रस्तुतियाँ तो करता ही है, इसने विदेशों में भी कई प्रदर्शन किए हैं। इसके प्रथम निदेशक 'इब्राहिम अल्काजी' ने हिन्दी नाट्य और रंगमंच को बड़े फलक पर प्रतिष्ठित करने का उल्लेखनीय कार्य किया। रानावि के आधुनिक तकनीकों (प्रकाश एवं ध्वनि) के इस्तेमाल ने हिन्दी रंगमंच के विकास को अंतर्राष्ट्रीय स्तर प्रदान कर दिया। जयशंकर प्रसाद के जिन नाटकों को अनभिनेय माना जाता था, उनका सफल प्रदर्शन इन्हीं तकनीकी सामग्रियों के कारण संभव हो सका।

आजादी के बाद हिन्दी रंगमंच का व्यापक विस्तार हुआ। प्रशिक्षित रंगकर्मियों के द्वारा प्रशिक्षण शिविरों और नाट्य प्रस्तुतियों ने अनेक नाट्य संस्थाओं को जन्म दिया। दिल्ली में 'श्रीराम सेंटर' ने हिन्दी रंगमंच के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। हिन्दी रंगमंच के केंद्र दिल्ली के साथ-साथ उत्तर भारत के अन्य शहरों में भी फैलने लगे एवं नई प्रतिबद्धता के आधार पर नई-नई रंगमंच टोलियों का संगठन होने लगा। 'अभियान', 'देशांतर', 'थियेटर यूनिट', 'नया थियेटर', 'अनामिका', 'जननाट्य मंच', 'प्रयोग', 'दर्पण', 'रूपांतर', 'मेघदूत', 'प्रतिध्वनि' आदि अनेक संस्थाओं ने हिन्दी रंगमंच की नींव को मजबूत किया। वस्तुत: 1960-70 का समय रंग कर्म में क्रांति लहर की तरह था। सर्वश्रेष्ठ हिन्दी नाटक इसी समय में रचे गए एवं मंचित हुए। आगामी रंगकर्म की पीठिका इसी समय तैयार हुई और भारतीय भाषाओं के नाट्यानुवाद हिन्दी रंगमंच पर और हिन्दी नाटक भारतीय रंगमंच पर प्रस्तुत होने लगे। 'अभियान' और 'देशांतर' ने एक दशक तक हिन्दी रंगमंच को कई सार्थक प्रस्तुतियाँ प्रदान कीं।

हिन्दी रंगमंच के विकास में हबीब तनवीर एवं उनकी नाट्य संस्था 'नया थियेटर' की ऐतिहासिक भूमिका है। उन्होंने अपने नाटकों की प्रस्तुति के माध्यम से हिन्दी रंगमंच को लोक परंपराओं से संबद्ध करते हुए उसे विश्व रंगमंच पर भी प्रतिष्ठा दिलाई।

नुक्कड़ नाटक

छठे दशक में ही हिन्दी रंगमंच को भारतीय रंगमंच में छाए पश्चिमी थियेटर के प्रभावों के विरुद्ध अपनी परंपराओं की ओर लौटने की ज़रूरत महसूस हुई। आम जनता तक और अधिक व्यापक पहुँच सुनिश्चित करने हेतु और एक आम बोलचाल की भाषा में जन समस्याओं को संबोधित करने की ज़रूरत ने नुक्कड़ नाटकों के प्रयोग को अपरिहार्य बना दिया। ब्रेख्त और ग्रोटोवस्की के विचारों और पश्चिम के 'स्ट्रीट थियेटर' ने भी हिन्दी में नुक्कड़ नाटकों के मंचन को प्रेरणा दी। देशव्यापी परिस्थितियों के बदलने ~~से आम जनता के शोषण में वृद्धि~~ और जनसंघर्ष की जो अभिव्यक्ति साहित्य और कलाओं में उभर रही थी, उसको नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत करने में नुक्कड़ नाटकों का कोई सानी न था। परंपरागत भारतीय लोक मंचों की सादगी, उन्मुक्तता, लचीलापन, संगीतात्मकता, सामूहिकता, आर्थिक व्यय में कमी आदि ने नुक्कड़ नाटकों को और अधिक लोकप्रिय बनाया।

हिन्दी के नुक्कड़ नाटक निश्चित तौर पर इप्टा की प्रगतिशील विचारधारा एवं वामपंथी राजनीतिक साहित्यिक विचारधारा से गहन रूप से संबद्ध रहे हैं। नुक्कड़ नाटकों में समसामयिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मुद्दों पर आधारित नाटकों को मंचन के लिए वरीयता दी जाती रही। नाटक एवं जनता के बीच की दूरी को समाप्त करने में नुक्कड़ नाटक टोलियाँ वर्षों से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही हैं। एक ओर प्रेमचंद एवं अन्य लेखकों की कहानियाँ नुक्कड़ मंच का मुख्य केंद्र बन गईं; दूसरी ओर, कई प्रतिबद्ध नाटककार भी नाट्य लेखन करते रहे। गुरुशरण सिंह, सफदर हाशमी, राधाकृष्ण सहाय, विभु कुमार, रमेश उपाध्याय, असगर वजाहत, स्वयं प्रकाश, राजेश कुमार आदि के अतिरिक्त कई नए नाटककार भी इस दिशा में सक्रिय हुए। दरसअल नुक्कड़ मंच

Copyright– Drishti The Vision Foundation

सामयिकता व राजनीतिक समझदारी और दायित्व की बात उठाता है। उसका दर्शक समूह सड़क चलते लोग, दफ्तरों, कारखानों से निकले कर्मचारी, मजदूर, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी आदि होते हैं। यह 30-40 मिनट में जानी पहचानी घटनाओं एवं स्थितियों के कई तनावपूर्ण पहलुओं को उजागर करके दर्शक को उकसाना और प्रेरित करना चाहता है। उसकी भाषा, उसके छोटे-छोटे दृश्य, तीव्रता, प्रखरता, प्रत्यक्ष साझेदारी, गीत-संगीत, एक्शन, व्यंग्य व वक्रोक्ति, प्रभावशाली संवाद उसकी मौलिकता के आधार हैं। लोक नाटकों की तरह लचीलापन और परिवर्तनशीलता इसकी खासियत है। दिल्ली में नुक्कड़ नाटक को लोकप्रिय बनाने में सफदर हाशमी की भूमिका अविस्मरणीय मानी जाती है। भारत के लगभग सभी प्रमुख शहरों की अपनी-अपनी नुक्कड़ टोलियाँ हैं और आज भी ये जनता एवं नाटक के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में सतत् क्रियाशील हैं।

लोक रंगमंच (*Folk Theatre*)

भारत अपनी क्षेत्रीय एवं सांस्कृतिक विविधता के लिए जाना जाता है। भारतीय लोक रंगमंच की उत्पत्ति संस्कृत रंगमंच की ही भाँति वैदिक मंत्रोच्चार से हुई है। भारतीय लोक रंगमंच देश की सांस्कृतिक विविधता को प्रदर्शित करता है। यह बिना किसी प्रोत्साहन के विकसित एवं लोकप्रिय होता रहा है। लोक रंगमंच में धार्मिक एवं सामाजिक तत्व विद्यमान हैं और यह सरल एवं स्वत:स्फूर्त होता है।

भारत के कुछ प्रसिद्ध लोक नाट्य इस प्रकार हैं–

नौटंकी: नौटंकी उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध संगीतमय लोक नाट्य है। नौटंकी शब्द एक लोकप्रिय नाटक 'शहजादी नौटंकी' से लिया गया है। इसमें आवाज ऊँची रखकर संवादों को पद्य रूप में बोला जाता है। संवादों के साथ-साथ नक्कारे को धीमे एवं सुरीले अन्दाज में बजाया जाता है। इसमें अतिनाटकीयता स्पष्ट झलकती है। नौटंकी में प्रेम और बहादुरी के नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं। इनमें प्रमुखत: हीर-रांझा, महाराणा प्रताप, लैला-मजनूं, अमर सिंह राठौर आदि जैसे व्यक्तित्वों पर नाटकों का मंचन किया जाता है। नौटंकी का एक प्रकार स्वांग है। नौटंकी और स्वांग में अंतर यह है कि स्वांग के विषय धार्मिक होते हैं जबकि नौटंकी के विषय प्रेम और वीरता की कहानियां। सुल्तान डाकू की नौटंकी और आल्हा ऊदल की नौटंकी काफी चाव से देखी जाती है।

रामलीला: उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों में रामलीला का आयोजन हर्षोल्लास के साथ किया जाता है। भगवान श्रीराम के जीवन की घटनाओं पर आधारित रामलीला का मंचन दशहरे के समय कई दिनों तक किया जाता है। दर्शक श्रद्धा एवं धैर्य के साथ रामलीला का आनन्द उठाते हैं। रात्रिकाल में किया जाने वाला रामलीला का मंचन देश की पुरानी परम्परा है।

रासलीला: रासलीला भगवान श्रीकृष्ण के जीवन पर आधारित लोक नाट्य है। उत्तर प्रदेश के मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि क्षेत्रों में रासलीला का आयोजन किया जाता है। इस लोक नाट्य में पात्र, राधा-कृष्ण तथा गोप और गोपियों का रूप धारण कर अभिनय करते हैं।

माच या माचा: माचा मध्य प्रदेश का संगीतमय नृत्य नाटक है। इसकी उत्पत्ति एवं विकास लगभग दो सदी पहले उज्जैन में हुआ। माचा का अर्थ मंच होता है। इस नृत्य नाटक में पौराणिक कथाओं, वीरतापूर्ण ऐतिहासिक प्रसंगों तथा प्रेमाख्यानों से सम्बन्धित विषयों का मंचन किया जाता है। माचा नृत्य नाटक का मंचन होली त्यौहार के समय किया जाता है।

सांग: सांग हरियाणा राज्य का लोकप्रिय लोक नाट्य है। सांग की कथा वस्तु ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों पर आधारित होती है। मंच पर वादक, गायक, सहगायक बैठकर कथाओं का मंचन करते हैं। मंच के चारों ओर दर्शक बैठकर नाटक का आनन्द उठाते हैं। माहौल को खुशनुमा बनाने के लिए हँसी-मजाक के दृश्यों का मंचन भी किया जाता है। इसे कहीं कहीं रागिणी भी कहा जाता है।

भवाई: भवाई लोक नाट्य राजस्थान और गुजरात में प्रचलित है। भवाई में अनेक नाटिकाओं की प्रस्तुति क्रमिक रूप से की जाती है, जिनका विषय पौराणिक, धार्मिक अथवा सामाजिक होता है। भवाई की प्रस्तुति गाँव-गाँव में घूम-घूमकर की जाती है। इसमें झांझ, पखावज, भुंगल आदि वाद्य यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। पात्रों की वेशभूषा तथा साज-सज्जा विशिष्ट होती है। राजस्थान में अनेक कथानकों पर भवाई प्रस्तुत किया जाता है। ढोला मारू, डोकरी तथा बोरा और बोरी आदि कथानकों पर नाटिकाओं की प्रस्तुति की जाती है।

हबीब तनवीर: सितम्बर 1923 में रायपुर (छत्तीसगढ़) में जन्मे हबीब तनवीर उर्दू और हिन्दी के एक लोकप्रिय नाटककार, थियेटर निर्देशक, कवि तथा अभिनेता थे। उन्होंने छत्तीसगढ़ के लोक एवं आदिवासी कलाकारों की एक नाट्य मंडली बनाई और छत्तीसगढ़ी बोली में प्रसिद्ध नाटक 'चरणदास चोर' का बेहतरीन मंचन किया। इनके अन्य प्रसिद्ध नाटक हैं–गाँव का नाम ससुराल, कामदेव का अपना वसन्त ऋतु का सपना आदि। उनका थियेटर ग्रुप 'नया थियेटर' पर्याप्त सक्रिय है।

ख्याल: राजस्थान की नृत्य नाटिका ख्याल की परम्परा ज्यादा पुरानी नहीं है। ख्याल मनोरंजन का माध्यम है, जिसके माध्यम से सांस्कृतिक एवं सामाजिक शिक्षा भी प्रदान की जाती है। यह गायन तथा वादन की एक विशिष्ट शैली है, जिसमें राजस्थान की लोक संस्कृति की झलक मिलती है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

तमाशा: तमाशा महाराष्ट्र राज्य की प्रसिद्ध लोक नाट्य शैली है। प्रारंभ में इसका स्वरूप अनिश्चित था तथा यह नाचने-गाने वालों के समूह के रूप में जाना जाता था। अपने परिमार्जित रूप में यह पेशवा काल में विकसित हुआ। इस लोक नाट्य में महिलाएँ भी भाग लेती हैं। इसमें सामान्य जन-जीवन की सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों से सम्बन्धित विषयों का प्रस्तुतिकरण होता है। इस लोक नाट्य में लावणी नृत्य को भी समावेशित कर लिया गया है। इस लोक नाटक का प्रभाव फिल्मों तथा आधुनिक रंगमंच पर भी दिखायी देता है।

अंकिया: यह ग्रामीण असम में खेला जाने वाला नाटक है। इसे भाओना भी कहते हैं। यह एक एकांकी नाटक है, जो नाट्य कर्म के स्थानीय तत्वों तथा शास्त्रीय रूप का मिश्रण है। इसकी भाषा असमिया तथा विषय वैष्णव परम्परा से सम्बन्धित हैं। धार्मिक प्रभाव दर्शाने के लिए रंगे हुए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। इसका प्रवर्तन शंकर देव ने (1449-1568) किया था।

कोथ्थू या थेरुकोथ्थू: यह तमिलनाडु के नृत्य एवं संगीत से युक्त नाटक है। यह एक नुक्कड़ नाटक है जिसमें सूत्रधार का कार्य एक विशेष पात्र "कट्टियकरन" करता है। कट्टियकरन विदूषक और भाष्यकार के अलावा भी अनेक भूमिकाएँ निभाता है। इसकी कथावस्तु महाकाव्यों और पौराणिक आख्यानों पर आधारित होती है। इसमें संवाद नहीं होते, केवल गीत होते हैं।

जात्रा या यात्रा: यह ओडिशा और बंगाल की लोकनाट्य परम्परा है। इसे 16वीं सदी के वैष्णव संत और कवि चैतन्य महाप्रभु ने पुनर्गठित किया। इस नाट्य का प्रमुख विषय कृष्ण की लीलाएं होती हैं। यह बंगाल के शक्ति पूजकों और शैव पूजकों के बीच भी काफी लोकप्रिय हुआ। इसके मंचन के तरीके की तुलना नौटंकी से की जा सकती है।

कट्टईक कट्टू *(Kattaik kuttu)*: यह तमिलनाडु की ग्रामीण लोकनाट्य परम्परा है। इसमें केवल प्रमुख पात्र ही भाग लेते हैं। इसमें हारमोनियम, मृदंगम और मुकाविनाई वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता है। इसे तेराक्कट्टू भी कहा जाता है। इस नाटक का विषय महाभारत एवं अन्य पौराणिक कथाएं होती हैं।

रम्मत: राजस्थान के बीकानेर और जैसलमेर में इस लोकनाट्य का प्रचलन है। इस नाट्य की शुरुआत में ही सारे पात्र रंगमंच पर बैठे मिलते हैं और अपना-अपना किरदार निभा कर वापस अपनी जगह पर बैठ जाते हैं।

गवटी: राजस्थान के मेवाड़ इलाके में 'गवरी' नाट्य का प्रचलन है। इसमें भगवान शिव के भस्मासुर वध संबंधी कथा सहित अन्य पौराणिक कथाओं का मंचन किया जाता है। यह सवा महीने तक खेला जाता है। इसके अलावा राजस्थान के आदिवासी इलाकों में 'गेट' का मंचन होता है।

बहरूपिया: यह कला देश के कई भागों में प्रचलित है लेकिन इसके सबसे ज्यादा कलाकार संभवतया राजस्थान में है। इसमें प्राय: कलाकार पौराणिक पात्रों का भेष धारण करके उनके हाव-भावों का प्रदर्शन करते हैं। इस कला के प्रदर्शन विदेशों में भी होना प्रारंभ हो गए हैं।

भंडैती: यह लोकनाट्य बुंदेलखण्ड में प्रचलित है। इसमें पात्रों का शृंगार नहीं होता और पात्र हाजिर-जवाब के गुण से युक्त होता है। इसी प्रकार बुंदेलखंड में रहस, कांडरा और स्वांग का भी प्रचलन है।

कुरवंजि: यह तमिलनाडु का लोकनाट्य है और इसके कई प्रकार प्रचलन में है। चोल राजाओं ने इस कला को प्रश्रय दिया था। इसमें प्राय: एक प्रेमकथा का मंचन होता है।

कठपुतली

कठपुतली यानी काष्ठ की गुड़िया। कठपुतली अत्यंत प्राचीन नाटकीय खेल है जिसमें लकड़ी की गुड़ियों द्वारा जीवन के प्रसंगों की अभिव्यक्ति की जाती है और जीवन को नाटकीय विधि से मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। कठपुतलियों को या तो लकड़ी से बनाया जाता है या फिर कागज या प्लास्टर ऑफ पेरिस से। कठपुतली बनाते समय उसके शरीर के भाग इस प्रकार रखे जाते हैं कि उनसे बँधी डोर खींचने पर वे अलग-अलग हिल सकें।

कठपुली का इतिहास बहुत पुराना है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में पाणिनी की अष्टाध्यायी में नटसूत्र में पुतला नाटक का उल्लेख मिलता है। चर्चित कथा 'सिंहासन बत्तीसी' में भी विक्रमादित्य के सिंहासन की बत्तीस पुतलियों का उल्लेख है। भारत में पारंपरिक पुतली नाटकों की कथावस्तु में पौराणिक साहित्य, लोककथाएँ और किवदंतियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पहले वीर अमर सिंह राठौड़, पृथ्वीराज, हीर रांझा, लैला-मजनूं और शीरी-फरहाद की कथाएँ ही कठपुतली खेल में दिखाई जाती थीं, लेकिन अब सामाजिक विषयों के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य तथा ज्ञानसंबंधी अन्य मनोरंजक कार्यक्रम दिखाए जाने लगे हैं।

कठपुतली

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

भारत में कठपुतली नचाने की परंपरा काफी पुरानी रही है। धागे दस्ताने द्वारा व छाया वाली कठपुतलियाँ काफी प्रसिद्ध हैं और परंपरागत कठपुतली नर्तक जगह-जगह जाकर लोगों का मनोरंजन करते हैं। इन कठपुतलियों से उस जगह की चित्रकला, वेशभूषा और अन्य कलाओं का पता चलता है, जहाँ से वे आती हैं। समय के साथ इनके प्रदर्शन में भी बदलाव आये हैं और परंपराओं पर आधारित कठपुतली के प्रदर्शन में भी काफी बदलाव आ गया है। अब इसे बड़े-बड़े मंचों पर प्रदर्शित किया जाता है। कठपुतली की सबसे खास बात यह है कि यह कई कलाओं का मिश्रण है। इसमें लेखन कला, नाट्य कला, चित्रकला, मूर्तिकला, काष्ठकला, वस्त्र निर्माण कला, रूप सज्जा, संगीत, नृत्य जैसी कई कलाओं का इस्तेमाल होता है।

ओडिशा का साखी कुंदेई, असम का पुतला नाच, महाराष्ट्र का मालासूत्री बहुली और कर्नाटक की गोम्बेयेट्टा धागे से नचाई जाने वाली कठपुतलियों के रूप हैं। तमिलनाडु की बोम्मलट्टम काफी कौशल वाली कला है, जिसमें बड़ी-बड़ी कठपुतलियाँ धागों और डंडों की सहायता से नचाई जाती हैं। यह कला आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में भी पाई जाती है लेकिन राजस्थान में यह कला अपने शीर्ष पर है। राजस्थान की कठपुतलियां बहुत प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा जानवरों की खाल से बनी एवं कई रंगों में चित्रित और सजावटी तौर पर छिद्रित छाया कठपुतलियाँ आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, ओडिशा और केरल में काफी लोकप्रिय हैं। केरल के तोलपवकूथु और आंध्र प्रदेश के थोलु बोमलता में मुख्यत: पौरणिक कथाएँ ही दर्शायी जाती हैं, जबकि कर्नाटक के तोगलु गोम्बे अट्टा में धर्मेत्तर विषय एवं चरित्र भी शामिल किए जाते हैं। दस्ताने वाली कठपुतलियाँ नचाने वाला दर्शकों के सामने बैठकर ही उन्हें नचाता है। इस किस्म की कठपुतली का नृत्य केरल का पावकथकलि है। उड़ीसा का कुंधेइनाच भी ऐसा ही है। पश्चिम बंगाल का पतुल नाच डंडे की सहायता से नचाई जाने वाली कठपुतली का नाच है।

सिनेमा

हिन्दी फिल्म उद्योग मुख्यत: महाराष्ट्र के मुंबई शहर में स्थापित है। यहाँ बनने वाली फिल्में हिन्दुस्तान, पाकिस्तान और दुनिया के कई देशों में पसंद की जाती है। यहाँ बनने वाली करीब हर फिल्म में शायरी की मिठास लिए कई संगीतमय गाने होते हैं और उनमें हिन्दुस्तानी शैली या हिन्दी-उर्दू मिश्रित जुबान का प्रयोग किया जाता है। इन फिल्मों का मुख्य विषय प्रेम, देशभक्ति, परिवार, अपराध, भय, इत्यादि होते हैं।

> ***स्टुडियो पद्धति***-- *सिनेमा की शुरुआत में स्टुडियो पद्धति का प्रचलन रहा। हरेक स्टुडियो के अपने वेतनभोगी निर्माता, निर्देशक, संगीतकार, नायक, नायिका तथा अन्य कलाकार हुआ करते थे। पर बाद में चलचित्र निर्माण में रुचि रखने वाले लोग स्वतंत्र निर्माता के रूप में फिल्म बनाने लगे। इन स्वतंत्र निर्माताओं ने स्टुडियो को किराये पर लेना तथा कलाकारों से ठेके पर काम करवाना शुरू कर दिया, चूँकि ठेके में काम करने में अधिक आमदनी होती थी, कलाकारों ने वेतन लेकर काम करना लगभग बंद कर दिया। इस प्रकार स्टुडिओ पद्धति का चलन समाप्त हो गया और स्टुडियो को केवल किराये पर दिया जाने लगा। मूक फिल्मों के जमाने तक मुंबई देश में चलचित्र निर्माण का केन्द्र बना रहा परंतु सवाक् फिल्मों का निर्माण शुरू हो जाने से और हमारे देश में विभिन्न भाषाओं का चलन होने के कारण चेन्नई में दक्षिण भारतीय भाषाओं वाली चलचित्रों का निर्माण होने लगा। इस तरह भारत का चलचित्र उद्योग दो भागों में विभक्त हो गया। कुछ प्रसिद्ध स्टूडियो में मिनर्वा, रणजीत, जैमिनी आदि शामिल हैं।*

आलम आरा

सात जुलाई, वर्ष 1886 भारतीय सिनेमा के इतिहास में एक अमर दिन है। इस दिन मुंबई के वाटकिंस होटल में ल्युमेरे ब्रदर्स ने छ: लघु चलचित्रों का प्रदर्शन किया था। इससे पहले 1895 में लूमियर ब्रदर्स ने पेरिस में इंजन ट्रेन वाली पहली फिल्म प्रदर्शित की थी। एक रुपया प्रति व्यक्ति प्रवेश शुल्क देकर बंबई के संभ्रात वर्ग ने करतल ध्वनि के साथ इसका स्वागत किया। उसी दिन भारतीय सिनेमा का जन्म हुआ था। इसे नॉवेल्टी थियेटर में फिर प्रदर्शित किया गया और टिकट दरें बदल दी गई। महिलाओं के लिए जनाना शो भी चलाया गया। 1901 में एच. एस. भटवाडेकर या 'सावे दादा ने पहली बार भारतीय थीम और न्यूज रीलों की शूटिंग की। फरवरी, 1901 में कलकत्ता के क्लासिक थियेटर में मंचित 'अलीबाबा', 'बुद्ध', 'सीताराम' नामक नाटकों की पहली बार फोटोग्राफी हीरालाल सेन ने की। यद्यपि भारतीय बाजार यूरोपीय और अमेरिकी फिल्मों से पटा हुआ था, लेकिन बहुत कम दर्शक इन फिल्मों को देखते थे क्योंकि आम दर्शक इनसे अपने को अलग-थलग पाते थे। मई 1912 में आयातित कैमरा, फिल्म स्टॉक और यंत्रों का प्रयोग करके हिंदू संत 'पुण्डलिक' पर आधारित एक नाटक का फिल्मांकन आर.जी. टोर्नी ने किया जो संभवतया देश की पहली फुललेंथ फिल्म है। भारत की पहली फीचर फिल्म राजा हरिश्चंद्र बनी। इसका निर्माण और निर्देशन दादा साहब फाल्के ने किया था। इस मूक फिल्म का सार्वजनिक प्रदर्शन तीन मई, 1913 को हुआ था।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

दादासाहब फाल्के का पूरा नाम धुंडीराज गोविन्द फाल्के है और इनका जन्म महाराष्ट्र के नासिक में 30 अप्रैल 1870 ई. को हुआ था। मुम्बई में 'अमेरिका-इंडिया थिएटर' में एक विदेशी मूक चलचित्र "लाइफ आफ क्राइस्ट" दिखाया जा रहा था और दादासाहब ने इसे देखा और फिल्म निर्माण का मन बना लिया। उन्होंने दादर में अपना स्टूडियो बनाया और फाल्के फिल्म के नाम से अपनी संस्था स्थापित की। आठ महीने की कठोर साधना के बाद दादासाहब के द्वारा पहली मूक फिल्म "राजा हरिशचंद्र" का निर्माण हुआ। इस फिल्म के निर्माता, लेखक, कैमरामैन इत्यादि सबकुछ दादासाहब ही थे। इस फिल्म में काम करने के लिए कोई स्त्री तैयार नहीं हुई। अतः तारामती की भूमिका के लिए एक पुरुष पात्र ही चुना गया और दासासाहब स्वयं नायक (हरिशचंद्र) बने और रोहिताश की भूमिका उनके सात वर्षीय पुत्र भालचन्द्र फालके ने निभाई। यह फिल्म सबसे पहले दिसम्बर 1912 में कोरोनेशन थिएटर में प्रदर्शित हुई। इसके बाद दादासाहब ने दो और पैराणिक फिल्में "भस्मासुर मोहिनी" और "सावित्री" बनाई। 1937 में दादासाहब ने अपनी पहली और अंतिम सवाक फिल्म "गंगावतरण" बनाई। दादासाहब ने कुल 125 फिल्मों का निर्माण किया। 16 फरवरी 1944 को 74 वर्ष की अवस्था में उनका निधन हो गया।

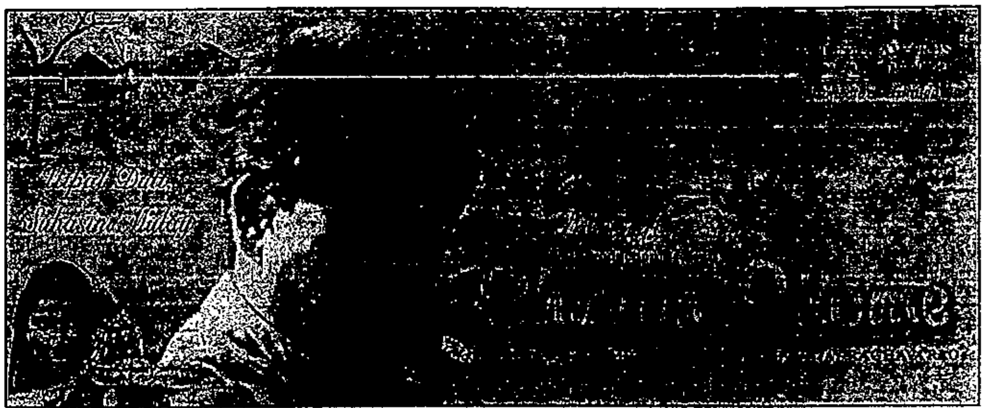

भुवन शोम

वर्ष 1912-13 से लेकर 1930 तक बनने वाली 1300 से अधिक फिल्में मूक फिल्में थीं। यह सिलसिला 1931 में आर्देशिर ईरानी ने भारत की पहली सवाक फिल्म आलम आरा के प्रदर्शन से टूटा। उसी साल तमिल की पहली सवाक फिल्म कालिदास और तेलुगु की सवाक फिल्म भक्त प्रह्लाद का प्रदर्शन किया गया। न्यू थिएटर्स ने बंगला में चंडीदास फिल्म का निर्माण 1932 में किया था। इसके बाद भारत की कई भाषाओं में सवाक फिल्मों के निर्माण की प्रक्रिया तेजी से शुरू हो गई।

मूक फिल्में पौराणिक, प्रेम और वीरता से ओतप्रोत ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित होती थीं और सामाजिक विषयों पर फिल्मों का निर्माण बहुत ही कम हुआ। मूक सिनेमा के दौर में बाबूराव पेंटर ने कुछ सामाजिक फिल्में बनाईं। इस तरह उन्हें सिनेमा में यथार्थवाद को लाने का श्रेय हासिल है। 1930 और 1940 के दशक में मराठी और हिंदुस्तानी फिल्मों को ऊँचाइयों की ओर ले जाने वाले एस. फत्तेलाल, विष्णुपंत दामले और वी. शांताराम भी उनकी बनाई राह पर चले। तब भी सिनेमा में समाज की हकीकत नदारद थी और उसका झुकाव पारसी रंगमंच की ओर था।

पारसी थियेटर की भूमिका: *पारसी थियेटरों ने प्रायः ऐसे नाटकों का चयन किया जो लोकप्रिय हो सकें और लोगों की भावनाओं को आहत किये बगैर ही बात कही जा सके। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की नाराजगी मोल लेने का खतरा भी नहीं उठाया। इससे उनके नाटकों की अंतर्वस्तु काफी सीमित हो गयी। इसके बावजूद यह मानना ठीक नहीं है कि पारसी थियेटर ने कोई सकारात्मक भूमिका नहीं निभायी। वास्तव में पारसी थियेटर ने धार्मिक और पौराणिक कथानकों को पेश करते हुए भी धार्मिक संकीर्णता या धार्मिक विद्वेष की भावनाओं से बचने की कोशिश की। इससे नाटकों से उदार और धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण ही जाहिर हुआ। इस थियेटर पद्धति ने हिंदू-मुस्लिम एकता को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से बढ़ावा दिया। आगा हश्र कश्मीरी (1879-1935) का नाटक 'यहूदी' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है, जिस पर कई बार फिल्में बनीं और बिमल राय ने भी इस नाटक पर फिल्म बनाना जरूरी समझा। पारसी थियेटर ने भाषा के स्तर पर सहिष्णुता का परिचय देते हुए हिन्दुस्तानी जुबान (यानी हिन्दी और उर्दू दोनों बोलियों का मिश्रण) को अपनाया। हिंदी सिनेमा ने आरंभ से ही भाषा के इसी रूप को अपनाया। इस भाषा ने ही हिंदी सिनेमा को गैर हिंदी भाषी दर्शकों के बीच भी लोकप्रिय बनाया। हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद और प्रगतिशील आंदोलन ने भाषा के इस आदर्श को अपना वैचारिक समर्थन भी दिया और उसका विकास भी किया। पारसी थियेटर का भाषा संबंधी निर्णय हिन्दी सिनेमा को एक बहुत बड़ी देन है।*

1912-13 से भारत की विभिन्न भाषाओं में फिल्में बनने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह अब सौ साल की उम्र पार कर चुका है। अब हर साल देश में 25 से अधिक भाषाओं में औसतन 1100 से अधिक फिल्में बनती हैं। यह संख्या अमेरिका के हॉलीवुड में बनने वाली फिल्मों से लगभग 40 प्रतिशत ज्यादा है। फिल्म उद्योग में प्रति वर्ष करीब बीस हजार करोड़ रुपये का व्यापार और लगभग 20 लाख लोगों को रोजगार मिलता है। पिछले दो दशकों में भारतीय फिल्मों ने अमेरिका, यूरोप और एशिया के बाजारों में हिस्सेदारी शुरू कर दी है।

1930 के दशक में वी. शांताराम, एस. फत्तेलाल, वी. दामले, बाबूराव, नितिन बोस, देवकी बोस, पी.सी.बरुआ, ज्योतिप्रसाद अगरवाला, अमिय चक्रवर्ती, धीरेंद्र नाथ गांगुली, सोहराब मोदी, हिमांशु राय, ज्ञान मुखर्जी, अमिय चक्रवर्ती, गजानन जागीरदार, पृथ्वीराज कपूर, महबूब खान, ख्वाजा अहमद अब्बास, बी.एन. रेड्डी, एच. एम. रेड्डी, केदार शर्मा, जिया सरहदी, के. सुब्रह्मण्यम, आदि कई फिल्मकार उभर कर आये। उन दिनों के अंग्रेजी शासन और सेंसर बोर्ड के नियंत्रण के कारण फिल्मकार खुलकर राजनीतिक जागरूकता वाली फिल्में नहीं बना सकते थे। इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय और जनोन्मुखी भावनाओं को संकेत रूप में कहने का प्रयास किया।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

सवाक फिल्मों के इस आरंभिक दौर की फिल्मों को तीन श्रेणियों में बाँट कर देख सकते हैं। पहली श्रेणी उन फिल्मों की है जिनमें किसी मध्ययुगीन संत या शासक के जीवन को पेश किया गया था। दूसरी श्रेणी उन फिल्मों की है जो किसी न किसी सामाजिक समस्या से प्रेरित थीं। इन दोनों तरह की फिल्मों का मकसद सिर्फ मनोरंजन नहीं था। इनके अलावा अधिकतर फिल्में वे थीं जो मनोरंजन के लिए बनायी गई थीं और पैसा बनाना ही जिनका मकसद था। पहली श्रेणी की फिल्मों का मकसद भारत के मध्ययुग की गौरवपूर्ण तस्वीर पेश करना था। औपनिवेशिक इतिहासकारों ने भारतीय मध्ययुगीन इतिहास जैसा पेश किया था, ये फिल्में उससे भिन्न ढंग का इतिहास रच रही थीं। मसलन वे मध्ययुग को अंधकार युग के रूप में पेश नहीं कर रहे थे। इस दौर के शासकों पर बनी फिल्मों का मकसद उनकी वीरता और अपराजेयता का गुणगान करना नहीं वरन समानता और सहिष्णुता की भावना पर आधारित एक न्यायकारी व्यवस्था पर बल देना था। महत्त्वपूर्ण यह है कि हुमायूं, अकबर, शाहजहां आदि मुगल शासकों को वे विदेशी शासकों के रूप में नहीं वरन भारतीय शासकों के रूप में ही पेश कर रहे थे। चंडीदास, विद्यापति, संत तुकाराम, संत ज्ञानेश्वर, मीरा, संत पोतना आदि पर बनी फिल्मों का मकसद धर्म का प्रचार करना नहीं था बल्कि धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवाद के विरुद्ध धार्मिक सहिष्णुता, जाति और धर्म की संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवीय एकता और भाईचारे की भावना पर बल देना था। इस दौर में सामाजिक समस्याओं पर भी कई फिल्में बनीं, जिनका मूक सिनेमा के दौर में लगभग अभाव था। अछूत समस्या, विधवा विवाह, बेमेल विवाह, बाल विवाह, वेश्यावृत्ति के साथ-साथ किसानों, मजदूरों, बेरोजगारों आदि के जीवन की समस्याओं को भी फिल्मों का विषय बनाया गया। पहली बार साहित्य की कई रचनाओं पर फिल्में बनीं। रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, प्रेमचंद आदि लेखकों की रचनाओं पर फिल्में बनीं। प्रेमचंद के उपन्यास पर 1938 में तमिल में सेवासदन के नाम से फिल्म बनायी गई। हिंदी और उर्दू के कई लेखक फिल्मों से जुड़े। यह भी उल्लेखनीय है कि मराठी और बांग्ला में बनने वाली बहुत सी फिल्में साथ ही साथ हिंदी में भी बनती थीं। यहा तक कि 1945 में तमिल में बनी मीरा फिल्म को साथ ही साथ हिंदी में भी बनाया गया था।

धरती के लाल

प्रेमचंद और सिनेमा: *प्रेमचंद हिन्दी सिनेमा के सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यकारों में से हैं। वे 1934 में मुंबई पहुंचे और अजंता सिनेटोन में आठ हजार रुपये के वेतन पर बतौर पटकथा लेखक की नौकरी शुरू की। प्रेमचंद ने मोहन भवनानी निर्देशित फिल्म मजदूर शीर्षक फिल्म के लिए संवाद लिखे। फिल्म का मजदूरों पर इतना असर हुआ कि कुछ थियेटरों में पुलिस बुलानी पड़ गई। अंत में फिल्म के प्रदर्शन पर भारत सरकार ने रोक लगा दी। इस फिल्म में प्रेमचंद स्वयं भी कुछ क्षण के लिए रजतपट पर अवतीर्ण हुए। मजदूरों और मालिकों के बीच एक संघर्ष में वे पंच की भूमिका में आए थे। एक लेख में प्रेमचंद ने सिनेमा की हालत पर अपना भरपूर रोष और असन्तोष व्यक्त करते हुए कहा कि अभी वह जमाना बहुत दूर है, जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जायगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीजों से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है।" 1977 में मृणाल सेन ने प्रेमचंद की कहानी कफन पर आधारित ओका ऊरी कथा से एक तेलुगु फिल्म बनाई जिसको सर्वश्रेष्ठ तेलगु फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। 1963 में गोदान और 1966 में गबन उपन्यास पर लोकप्रिय फिल्में बनीं। 1980 में उनके उपन्यास पर बना टीवी धारावाहिक निर्मला भी बहुत लोकप्रिय हुआ था। फिल्मकार गुलजार ने भी गोदान उपन्यास पर दूरदर्शन के लिए एक टीवी शृंखला बनाई। महान सिनेकर्मी सत्यजीत राय ने उनकी दो कहानियों शतरंज के खिलाड़ी पर एक फीचर फिल्म और सद्गति नाम की टेलीफिल्म बनाई। प्रेमचंद के देहांत के दो वर्षों बाद के सुब्रमण्यम ने 1938 में सेवासदन उपन्यास पर फिल्म बनाई जिसमें कर्नाटक संगीत की मशहूर गायिका सुब्बालक्ष्मी ने मुख्य भूमिका निभाई थी।*

1930 के दशक में होने वाले इन परिवर्तनों ने ही कई गंभीर लेखकों को फिल्मों के लिए लिखने को प्रेरित किया। हिंदी-उर्दू के महान लेखक प्रेमचंद 1934 में इसी आशा से मुंबई पहुँचे थे पर थोड़े समय में ही फिल्मी दुनिया की बुनियादी कमजोरियों को पहचान लिया था। बलराज साहनी सहित कई अन्य लेखकों का अनुभव भी फिल्मी दुनिया के बारे में इससे कुछ अलग ~~नहीं~~ था। ~~प्रेमचंद के~~ इन ~~कटु अनुभवों के~~ बावजूद फिल्मों से साहित्यकारों के जुड़ने का सिलसिला लगातार चलता रहा।

1930 के बाद के दौर में राजनीति में ही नहीं साहित्य में भी परिवर्तन हो रहा था। समाज सुधार और देशभक्ति की भावनाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति को वामपंथ के उदय ने एक ठोस वैचारिक आधार प्रदान किया। राजनीतिक मुक्ति के बाद का भारत कैसा होगा, यह अभी न राजनीति का और न साहित्य रचना का ठोस मुद्दा बना था। भारतीय लेखकों के वामपंथ की ओर बढ़ते झुकाव ने ही 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के लिए पृष्ठभूमि तैयार की थी। यह ऐसे लेखकों का संगठन था जो स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों में विश्वास करते और जो किसी भी तरह के शोषण और उत्पीड़न का विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। यह संगठन किसी भाषा विशेष या क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं था। भारत की लगभग सभी प्रमुख

नीचा नगर

Copyright– Drishti The Vision Foundation

भाषाओं के लेखक इससे जुड़े थे। अगले कुछ सालों में देश के हर हिस्से में लेखक संगठन की गतिविधियों का विस्तार हुआ। यह विस्तार सिर्फ लेखकों तक सीमित नहीं था बल्कि संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में भी इसका असर देखा जा सकता था। संगठन के इसी विस्तार ने नाटकों के मंचन के लिए एक सहयोगी संगठन बनाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। 1943 में मुंबई में भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) की स्थापना की गई। इप्टा की गतिविधियों का भी विस्तार हुआ और कई लेखक और रंगकर्मी इप्टा की गतिविधियों से जुड़ते चले गए। इन गतिविधियों के विस्तार के साथ ही इप्टा के संस्कृतिकर्मियों ने महसूस किया कि इप्टा को फिल्म निर्माण की ओर भी गतिशील होना चाहिए।

हिन्दी साहित्य और सिनेमा: हिन्दी कहानीकार चंद्रधर शर्मा गुलेरी की अमर कहानी 'उसने कहा था' पर 1960 में बिमल रॉय प्रोडक्शन ने फिल्म बनाई। सुनील दत्त और नंदा के अभिनय वाली इस फिल्म का निर्देशन मणि भट्टाचार्य ने किया था। फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी "मारे गये गुलफाम" पर बासु भट्टाचार्य ने राजकपूर और वहीदा रहमान को लेकर तीसरी कसम का निर्माण किया था। भगवतीचरण वर्मा के पाप और पुण्य की अवधारणा पर लिखे उपन्यास 'चित्रलेखा' पर दो बार फिल्म बनीं–पहली बार 1941 में और दूसरी बार 1964 में दोनों बार केदार शर्मा ने ये फिल्में बनाईं। 1969 में मणि कौल ने मोहन राकेश की कहानी 'उसकी रोटी' पर जो फिल्म बनाई, उससे हिंदी में नए सिनेमा की शुरुआत मानी जाती है। मणि कौल ने मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' पर भी फिल्म बनाई और 1974 में विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' पर भी फिल्म बनाई। इसी कहानी पर अमोल पालेकर ने अमिताभ बच्चन और शाहरुख खान के साथ पहेली नाम से फिल्म बनाई। मणि कौल ने गजानन माधव मुक्तिबोध की कहानी 'सतह से उठता आदमी' पर भी एक अलग-सी फिल्म बना डाली। कुमार शाहनी ने निर्मल वर्मा की कहानी 'मायादर्पण' पर फिल्म बनाई। बासु चटर्जी ने राजेंद्र यादव के उपन्यास 'सारा आकाश' पर इसी शीर्षक से और मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' पर 'रजनीगंधा' नाम से फिल्में बनाईं। कथाकार कमलेश्वर ने एक तरफ 'आंधी', 'मौसम', 'अमानुष', 'छोटी सी बात' जैसी फिल्में लिखीं तो दूसरी तरफ 'राम बलराम', 'द बर्निंग ट्रेन', 'साजन की सहेली' और 'सौतन' जैसी व्यवसायिक फिल्में भी लिखीं। मनोहर श्याम जोशी ने भी 'पापा कहते हैं', 'अपु राजा', 'भ्रष्टाचार जैसी कुछ फिल्मों की पटकथाएं या संवाद लिखे। श्याम बेनेगल ने धर्मवीर भारती की किताब 'सूरज का सातवां घोड़ा' पर इसी नाम से फिल्म बनाई। 80 के दशक में ही केशव प्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कोहबर की शर्त' पर 'नदिया के पार' के नाम से एक सफल फिल्म बनी। उदय प्रकाश के उपन्यास 'मोहनदास' पर फिल्म बनी। हिन्दी लेखकों की तुलना में उर्दू लेखकों जैसे सआदत हसन मंटो, कृष्णचंदर, राजेंदर सिंह बेदी, ख्वाजा अहमद अब्बास, राही मासूम रजा, इस्मत चुगताई, गुलजार, जावेद अख्तर की आवाजाही सिनेमा की दुनिया में ज्यादा रही। विशाल भारद्वाज ने शेक्सपीयर की कृति 'मैकबेथ' पर मकबूल और 'ऑथेलो' पर ओमकारा बनाई। विशाल ने रस्किन बॉन्ड की कृतियों पर 'ब्लू अम्ब्रेला' या 'सात खून माफ' फिल्म बनाई।

इप्टा के अपने प्रयत्नों से 1946 में ख्वाजा अहमद अब्बास के निर्देशन में 'धरती के लाल' फिल्म का निर्माण हुआ। यह पहली फिल्म थी जिसका तत्कालीन सोवियत संघ में बड़े पैमाने पर प्रदर्शन हुआ था। इसी साल इप्टा से जुड़े चेतन आनंद ने इप्टा के सहयोग से ही नीचा नगर फिल्म बनायी। यह फिल्म उसी साल कान्स फिल्म समारोह में दिखाई गई और उसे दो अन्य फिल्मों के साथ सर्वश्रेष्ठ फिल्म का पुरस्कार प्राप्त हुआ। विश्व के किसी भी समारोह में पुरस्कृत होने वाली यह पहली भारतीय फिल्म थी। इसके अतिरिक्त इसी साल प्रदर्शित होने वाली वी. शांताराम की फिल्म "डॉ. कोटनीस की अमर कहानी" में भी इप्टा से जुड़े कलाकारों का सहयोग था। हिंदी सिनेमा की प्रगतिशील और यथार्थवादी धारा से इन फिल्मों का बहुत गहरा संबंध है। इन फिल्मों से पहले भी कई फिल्में किसानों और मजदूरों की समस्याओं पर और समाज में व्याप्त वर्ग विभाजन पर बन चुकी थीं। लेकिन स्पष्ट राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के साथ बनने वाली पहली फिल्में धरती के लाल और नीचा नगर ही थीं। इस दृष्टि से इन दोनों फिल्मों का ऐतिहासिक महत्व है। दोनों फिल्मों पर पश्चिम के यथार्थवाद का असर साफतौर पर देखा जा सकता है। लेकिन ये फिल्में उनका अनुकरण नहीं हैं। इसके विपरीत इनमें भारत की लोकनाट्य परंपरा के अनुरूप इनमें नृत्य और गीतों का सहारा भी लिया गया है। कुछ हद तक फिल्मों की मेलोड्रामाई शैली को इन फिल्मकारों ने भी अपनाया। आजादी के बाद की बदली परिस्थितियों ने फिल्म क्षेत्र में इप्टा की संगठित भूमिका को हमेशा के लिए खत्म कर दिया।

पश्चिम बंगाल का सिनेमा	–	*टालीवुड*
तमिल सिनेमा	–	*कोलीवुड*
तेलुगु सिनेमा	–	*टालीवुड*
कराची सिनेमा	–	*करीवुड*
लाहौर सिनेमा	–	*लालीवुड*

1950-60 का दौर भारतीय सिनेमा का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस दौर की हिंदी, बांग्ला, मराठी, असमिया, तमिल, मलयालम आदि भाषाओं की महत्वपूर्ण फिल्मों पर इप्टा का प्रभाव महसूस किया जा सकता है। इस पूरे दौर में वी. शांताराम, महबूब खान, ख्वाजा अहमद अब्बास, बिमल रॉय, राजकपूर, गुरुदत्त, के. बालाचंदर, ऋषिकेश मुखर्जी, जिया सरहदी, मोहन सहगल, रमेश सहगल, चेतन आनंद, आदि कई फिल्मकारों ने उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण किया। इस दौर के फिल्मकारों ने इस बात का ध्यान रखा कि फिल्मों द्वारा जो संदेश वे दर्शकों तक पहुँचाना चाहते हैं, उन्हें लोकप्रिय ढंग से पहुँचाया जाए। इसके लिए उन्होंने यथार्थवाद और पहले से चली आ रही मधुर गीत संगीत या मेलोड्रामाई शैली का संयोजन किया। उन्होंने फिल्म की जुबान और गाने- संगीत और संवादों पर भी मेहनत की। इन फिल्मकारों ने शास्त्रीय और लोक परंपराओं का मिश्रण किया और इस बात का ध्यान रखा कि भारत

Copyright– Drishti The Vision Foundation

एक बहुसांस्कृतिक और बहु भाषायी देश है इसलिए उन्होंने भारत की विभिन्न जातीय और सांस्कृतिक परंपराओं को अपनी फिल्मों में समाहित करने की कोशिश की। इन वजहों से ही सिनेमा का यह दौर स्वर्ण युग के नाम से जाना जाता है।

साठ के दशक के बाद सिनेमा की सामाजिक और कलात्मक उत्कृष्टता की परंपरा कमजोर होने लगी और व्यावसायिकता और सतही लोकप्रियता फिल्मों पर हावी होने लगी। इस समग्र में सिनेमा में व्यावसायिकता और अव्यवसायिकता या कलात्मकता और अकलात्मकता जैसा भेद नहीं था। इस भेद की शुरुआत खासतौर पर उस न्यूवेव सिनेमा से हुई जिसने सजग रूप से फिल्मों की लोकप्रिय परंपरा से अपने को अलग करने की कोशिश की। सत्यजित राय, ऋत्विक घटक और मृणाल सेन ने छठे दशक में और बाद में अडूर गोपालकृष्णन, जी. अरविंदन, एम. एस. सथ्यू, श्याम बेनेगल, कुमार साहनी, मणि कौल, सईद अख्तर मिर्जा, गिरीश कासरवल्ली, गोविंद निहलाणी आदि फिल्मकारों ने सचेत रूप से फिल्मों में यथार्थवाद और नवयथार्थवाद की उन परंपराओं को अपनाया जो यूरोप में पाँचवें और छठे दशक में प्रतिष्ठित हुई थी।

समांतर सिनेमाः *साठ के दशक में उभरे नये सिनेमा के कई नाम हैं–समांतर सिनेमा, सार्थक सिनेमा, आर्ट सिनेमा, नयी धारा, प्रयोगधर्मी सिनेमा, गैर–पेशेवर सिनेमा या अंग्रेजी में पैरेलल सिनेमा। इस दशक में फिल्म वित्त निगम (फिल्म फाइनेंस कार्पोरेशन या एफएफसी) की मदद से भारतीय भाषाओं में कई ऐसी फिल्में बनीं जिन्होंने नयी धारा-आंदोलन को ऐतिहासिक पहचान दी। फ्रांस में पचास के दशक में कुछ युवा फिल्म समीक्षकों ने नयी धारा को विश्व सिनेमा के इतिहास में अपने ढंग से रेखांकित किया और उन्होंने (गोदार, फौसुआ, त्रुको आदि) अपनी फिल्में बनानी शुरू की तो उन फिल्मों को फ्रांसीसी भाषा में नूवेल वाग या अंग्रेजी में न्यू वेव यानी नयी धारा या लहर का नाम दिया गया। एफएफसी ने शुरू में सुरक्षित रास्ता चुना था और वी शांताराम की "स्त्री (1962)" सरीखी फिल्मों से शुरूआत की। सत्यजित राय की "चारुलता", "नायक", "गोपी गायन बाघा बायन" सरीखी फिल्में भी इसी स्रोत से बनीं। फिल्म पत्रकार बी के करंजिया जब एफएफसी के अध्यक्ष बने, तो कम बजट की प्रयोगधर्मी फिल्मों को बढ़ावा मिलना शुरू हुआ।*

बांग्ला फिल्मकार मृणाल सेन की "भुवन शोम" (1969) से समांतर सिनेमा की शुरुआत मानी जा सकती है। कुमार शहानी फ्रांस में रॉबर्ट ब्रेसां सरीखे चर्चित प्रयोगधर्मी फिल्मकार के साथ भी काम कर चुके थे उनकी पहली फिल्म "माया दर्पण" और मणि कौल की "उसकी रोटी" नये सिनेमा में मील का पत्थर बनीं। समांतर सिनेमा के दो सिरे थे– एक सिरे पर "भुवन शोम", "सारा आकाश" (बासु चटर्जी) "गर्म हवा" (एमएस सथ्यू) "अंकुर" (श्याम बेनेगल) आदि थीं जिनमें सिनेमा के मुख्य गुणों को पूरी तरह से छोड़ नहीं दिया गया था। दूसरे सिरे पर "उसकी रोटी", "माया दर्पण," "दुविधा (मणि कौल) आदि फिल्में थीं जो सिनेमा की प्रचलित परिभाषा से काफी दूर थीं। समांतर सिनेमा की मुख्य पहचान कम बजट, जागरूक दर्शक, प्रयोगधर्मी पटकथा, प्रतिबद्ध अभिनेता आदि थे। इन फिल्मकारों ने मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, रमेश बक्षी, विनोद कुमार शुक्ल, धर्मवीर भारती सरीखे लेखकों की रचनाओं को चुना। सन् 1970 में पट्टाभी राम रेड्डी की फिल्म "संस्कार" ने सिनेमा के नये द्वार खोले। बी.वी. कारंत (चोमन दुडी) गिरीश कार्नाड (काडू), जी अरविंदन (कांचन सीता, चिदंबरम्), एमटी वासुदेवन नायर (निर्मालयम्), अडूर गोपालकृष्णन (एलीपतायम), शाजी करुण (पीरवी) सरीखे फिल्मकारों ने समांतर सिनेमा को कई सार्थक फिल्में दीं। मणि कौल, सईद मिर्जा, कांतिलाल राठौर, गिरीश कासरवल्ली, गौतम घोष, बुद्धदेव दासगुप्त, केतन मेहता, प्रकाश झा, कुंदन शाह आदि फिल्मकार अपने-अपने ढंग से समांतर सिनेमा के महत्वपूर्ण नाम साबित हुए। जहानू बरुआ ने असमिया सिनेमा को नयी दिशा दी। कुछ व्यावसायिक लहरों की चपेट में आ गये (प्रकाश झा, केतन मेहता), कुछ आखिर तक अपनी शर्तों पर सिनेमा बनाते रहे (मणि कौल) और कुछ आज भी अलग तरह के अर्थपूर्ण सिनेमा का सपना देख रहे हैं। "दुविधा", "नौकर की कमीज" (मणि कौल), "भूमिका", "सूरज का सातवां घोड़ा" (श्याम बेनेगल), "पार" (गौतम घोष), "एलिप्पतायम्, मुखामुखम्" (अडूर) "चिदंबरम्" (अरविंदन) "पीरवी" (शाजी), "मिर्च मसाला" (केतन मेहता), "बाघ बहादुर", "दूरत्व" (बुद्धदेव दासगुप्त), "अलबर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है", "नसीम" (सईद मिर्जा), "जाने भी दो यारों (कुंदन शाह), "घटश्राद्ध" (गिरीश कासरवल्ली) आदि फिल्मों की एक लंबी सूची है जो समांतर सिनेमा की उल्लेखनीय उपलब्धियां है।

भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के वर्चस्व और साझा संस्कृति और लोक परंपराओं के विरुद्ध सक्रिय ताकतों के दबाव ने भारतीय सिनेमा की बहुसांस्कृतिक और बहुजातीय परंपरा के सामने चुनौतियां खड़ी कर दी हैं। साहित्य और अन्य कला माध्यमों के सामने भी ये चुनौतियां मौजूद हैं। साहित्य और अन्य कला माध्यमों की तरह सिनेमा में भी इनसे संघर्ष करने वाली प्रवृत्तियां आज भी सक्रिय हैं।

मदर इण्डिया 1956	–	निर्देशक महबूब खाँ–ऑस्कर में जाने वाली पहली भारतीय फिल्म
किसान कन्या 1937	–	निर्देशक मोती बी. गिडवानी भारत की पहली रंगीन फिल्म
सैरंध्री 1935	–	निर्देशक वी. शांताराम, जर्मनी में प्रॉसेस की गई भारत की पहली रंगीन फिल्म
आलमआरा 1931	–	निर्देशक आर्देशिर इरानी प्रथम सवाक् फिल्म
अबाना 1958	–	पहली सिंधी फिल्म
मातमगी 1972	–	पहली मणिपुरी फिल्म
गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो 1962	–	पहली भोजपुरी फिल्म
नजराना 1942	–	पहली राजस्थानी फिल्म
मोगैचो अनवड्डो 1950	–	पहली कोंकणी फिल्म
सीता बिबाह 1936	–	पहली उड़िया फिल्म
जॉयमोती 1935	–	पहली असमिया फिल्म
शीला (पिंड दी कुड़ी) 1936	–	पहली पंजाबी फिल्म

Copyright– Drishti The Vision Foundation

नरसिंह मेहता 1932	–	पहली गुजराती फिल्म
बिल्वमंगल 1919	–	पहली बंगाली फिल्म
विगतकुमारन 1930	–	निर्देशक जे.सी. डैनियल मलयालम की पहली मूक फिल्म
बालन 1938	–	निर्देशक एस. नोट्टानी मलयालम की पहली सवाक फिल्म
सती सुलोचना 1934	–	पहली कन्नड़ फिल्म
भीष्म प्रतिज्ञा 1912	–	पहली तेलुगु फिल्म
भक्त प्रह्लद 1931	–	पहली तेलुगु सवाक् फिल्म
कीचक वधम् 1931	–	पहली तमिल फिल्म
कालिदास 1935	–	पहली तमिल सवाक् फिल्म
बालयोगिनी 1937	–	पहली तमिल बाल फिल्म
जग्वाल 1983	–	पहली गढ़वाली फिल्म
एन्ना थानगडी 1971	–	पहली तुलु भाषी फिल्म

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-6

पारंपरिक भारतीय वस्त्र एवं भोजन

वस्त्र

भारत में कपड़ों के विभिन्न प्रकारों, उन्हें पहनने के तरीकों की एक विशद परंपरा है। यह परंपरा क्षेत्र बदलने के साथ बदल जाती है और उनपर क्षेत्र विशेष के भूगोल, पर्यावरण और सांस्कृतिक परंपरा का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। ऐतिहासिक सन्दर्भों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि स्त्री और पुरुषों का प्रथम वस्त्र वृक्ष के पत्तों या छाल से निर्मित था। इसे कटि प्रदेश से नीचे के हिस्से को ढँकने के लिए प्रयोग किया जाता था। धागे के ज्ञान से कपड़े का बनाया जाना संभव हुआ और शरीर के अन्य अंगों को ढँकने की परंपरा के विकास के साथ-साथ विविधता भी परिलक्षित होने लगी। धीरे-धीरे पर्वों, शुभ अवसरों और अन्य सामूहिक गतिविधियों एवं गीत-संगीत के कार्यक्रमों के लिए सामान्य रोजमर्रा में पहने जाने वाले वस्त्रों से भिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाने का चलन शुरु हुआ। कपड़ों की रंगाई और विभिन्न रंगों से रंगे कपड़ों के अर्थ निकाले जाने का प्रचलन भी परम्परागत परिप्रेक्ष्य के रूप में शुरू हुआ। उदाहरण के तौर पर हिन्दू समुदाय शोक के अवसरों पर श्वेत वस्त्र धारण करते हैं जबकि पारसी समुदाय उल्लास के अवसरों पर श्वेत वस्त्र पहनते हैं।

ऐतिहासिक साक्ष्यों पर यदि दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट है कि हड़प्पा काल में कपास के धागों से बने हुये वस्त्रों का प्रयोग होता था। इसके अलावा रेशमी एवं ऊनी वस्त्रों के प्रयोग के भी प्रमाण हैं। एलोरा की गुफाओं में मिली मूर्तियों, अजंता तथा अन्य जगहों से मिले भित्ति चित्रों में पुरुषों को धोती और महिलाओं को साड़ी पहने दिखाया गया है। कपड़े पहनने की यह परम्परागत शैली आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है। जातककालीन मानव-समाज भी विभिन्न प्रकार के वस्त्रों-सूती, ऊनी, क्षौम, कौषिए (सिल्क) आदि से परिचित था। 'तुण्डिल जातक' के अनुसार, बनारस में कपास के खेत थे। 'महाउम्मग जातक' में गाँव के बाहर स्थित कपास के खेतों की रखवाली करने वाली नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी जातक के अनुसार रखवाली करते समय ही खेत-रक्षिका ने वहीं से कपास लेकर, बारीक सूत कातकर गोला बनाया। सूती वस्त्र निर्माण के साथ-साथ बनारस और बिहार में आधुनिक युग की भाँति उच्च कोटि का सिल्क निर्माण कार्य किया जाता था। रेशमी और सूती वस्त्र बहुत लोकप्रिय थे। क्षोम्य (ऊनी) सामान्य वस्त्र था, जिससे भिक्षु अपने चीवर बनाते थे। जातकों में उच्च वर्ग के द्वारा क्षौम वस्त्र के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। जातकों में भी गान्धार कम्बल को विशेष महत्त्व दिया गया है। वस्त्रों को तंतुवाय (कोलिय) जाति के लोग बुनते थे।

वैदिक आख्यानों में वर्णन आता है कि सर्वप्रथम ऋषि गृत्समद ने कपास का पौधा उगाया और अपने इस प्रयोग से दस सेर कपास की प्राप्ति कर सूत बनाया। इस सूत से वस्त्र कैसे बनाया, यह समस्या थी। इसके समाधान के लिए उन्होंने लकड़ी की तकली बनायी। वैदिक भाषा में कच्चे धागे को तंतु कहते हैं। तंतु बनाते समय अधिक बचा हिस्सा ओतु कहा जाता है।

ह्वेनसांग ने अनेक प्रकार के रेशमी और सूती वस्त्रों का उल्लेख किया है। इनमें कौषिय, क्षौम और दुकूल प्रमुख हैं। उसने कश्मीर में बनने वाले श्वेत लिनन का भी उल्लेख किया है। हर्षवर्धन के राजकवि बाणभट्ट ने अपने ग्रंथ हर्षचरित में रेशम से बनाये जाने वाले अनेक कपड़ों का उल्लेख किया है, जैसे अंशुक, चीनांशुक और लालातुज। अल-इदरीसी ने तत्कालीन मुल्तान को वस्त्र का केंद्र बताया है। काशी, वत्स, मगध, बंगाल, कामरूप, कलिंग, अपरांत, मदुरै और गुजरात भी वस्त्र उद्योग के लिए प्रसिद्ध थे। गुजरात के भड़ौच में बने वस्त्र की प्रसिद्धी 'वरोज' के नाम से तथा खंभात में बने वस्त्र 'खंबायात' के नाम से जाने जाते थे। गुजरात के वस्त्र 'बुकरम' का निर्यात विदेशों तक होता था। मध्य देश चुनारी वस्त्र के लिए जाना जाता था।

रंगों का निर्माण– नील की खेती से मिले नील से वस्त्रों पर नीले रंग से रंगाई होती थी। इसके अलावा नील का प्रयोग नीले रंग से जुड़े अन्य रंगों को बनाने में होता था जैसे- आसमानी, जामुनी और बैंगनी आदि। हरा रंग लाने के लिए पहले हल्दी से रंगाई होती थी फिर नीले रंग से। लेकिन इन प्रक्रियाओं से कच्चे रंग ही बनते थे। इन्हें पक्का करने के लिए खाने वाले सोडे (Sodium bi Carbonate), चीनी और कसीस (Iron Sulphate) का प्रयोग होता था। अवध और कोटा में उगाये जाने वाले आल के पौधे की जड़ की छाल से चमकीला लाल रंग बनाया जाता था। लाल रंग मंजिष्ठा से भी प्राप्त किया जाता था। इसे मजीठा भी कहा गया है और इसका प्रयोग रंग पक्का करने में भी होता था। दक्षिण भारत में उगने वाले दंदासा या रंगली दातुन और कचनार के पेड़ की छाल का प्रयोग भी लाल रंग प्राप्त करने में किया जाता था। नारंगी-पीले रंग के लिए शाहाब के प्रयोग का उल्लेख मिलता है जिसे जाफरान के साथ प्रयोग किया जाता था। पीला रंग धाओ के फूल, हर्र-बहेड़ा-आँवला, ढाक और हरसिंगार से प्राप्त किया जाता था। भूरा रंग बबूल की छाल, कत्थे और मेंहदी से तैयार होता था। कपड़ों की रंगाई के लिए लाख का प्रयोग भी होता था, हालाँकि महँगा होने के कारण इसका प्रयोग सीमित था।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मुगल काल में सूती कपड़ों का काम कई जगहों पर होता था जबकि ...न वस्त्रों का काम केवल कश्मीर तथा कुछ जगहों तक सिमटा हुआ था। ...सी तरह रेशमी वस्त्र गुजरात, लाहौर और आगरा में तथा उसके बाद कश्मीर, ...गाल के अलावा बनारस में खूब फला-फूला। पटसन के कपड़ों का भी ...चलन था।

मुगल काल में कपड़ों पर रंगाई से संबंधित सबसे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज ...नुस्खा खुस्तुल मुजार्रबात' (1714-1764) है। इसमें सूती कपड़ों की छपाई ...का विस्तृत ब्यौरा मिलता है। इसके अलावा मुंशी टेकचंद 'बहार' का लिखा ...बहार-ए-आजम' ग्रंथ से भी कपड़ों की छपाई के बारे में जानकारी मिलती ...। इन ग्रंथों के अलावा विदेशी यात्रियों जैसे निकोलो कोंटी, बारबोसा आदि ...यात्रियों ने भी छपाई के तरीके का ब्यौरा लिखा है। 17वीं सदी तक आगरा ...कपड़ों की रंगाई के एक महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में उभरा जबकि पश्चिमी ...भारत में ऐसे केंद्र अहमदाबाद और महमूदाबाद बने। गोलकुंडा में भी खास ...तरह की छपाई वाले वस्त्र का निर्माण होता था जिसे 'छाय' कहते थे। अवध में दरियाबाद और खैराबाद इतने ज्यादा प्रसिद्ध थे कि ...उनके वस्त्रों को दरियाबादी और खैराबादी ही कहा जाने लगा था।

कपड़े की छपाई– कपड़ों को बुनने के पश्चात उसकी रंगाई की जाती थी। कपड़ों को रंगने के क्रम में प्रवृत्त लोगों को रंगरेज कहा गया है। रंगरेज कई तरह से कपड़े की रंगाई करते थे। कपड़े को साधारण तरह से रंगने के अलावा उसे बांध कर रंगने का भी प्रचलन था लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण काम था लकड़ी के ठप्पे से छपाई। लकड़ी के ठप्पे से कपड़े पर छपाई का प्रचलन आज भी है। इस विधि को कालिब कहा गया है। भारत में बनने वाले सूती वस्त्रों में संभवतया सबसे मशहूर 'छींट' का कपड़ा था। मसुलीपट्टन की छींट अपनी कलात्मक श्रेष्ठता के लिए विख्यात थी।

भारत के विख्यात रेशम केन्द्र निम्न हैं–

राज्य	रेशम केन्द्र
1. आंध्र प्रदेश	धरमावरम्, पोचमपल्ली, वेंकटगिरि, नारायण पेट
2. असम	सुआलकुची
3. बिहार	भागलपुर
4. गुजरात	सूरत, काम्बे
5. जम्मू व कश्मीर	श्रीनगर
6. कर्नाटक	बंगलुरु, आनेकल, इलकल, मोलकालपुरु, मेलकोटे, कोल्लेगाल
7. छत्तीसगढ़	चम्पा, चंदेरी, रायगढ़
8. महाराष्ट्र	पैठण
9. तमिलनाडु	कांचीपुरम, अरनी, सेलम, कुंबकोणम, तंजावुर
10. उत्तर प्रदेश	वाराणसी
11. पश्चिम बंगाल	बिष्णुपुर, मुर्शिदाबाद, बीरभूम

महिलाओं के वस्त्र

साड़ियाँ

साड़ी, भारतीय स्त्री का मुख्य परिधान है। यह संभवतः विश्व के सबसे पुराने एवं लंबे परिधानों में शामिल है। यह एक पाँच या छह मीटर लंबा वस्त्र होता है। जिसे चोली या ब्लाउज के साथ पहना जाता है। साड़ी पहनने के कई तरीके होते हैं, जोकि क्षेत्र विशेष की भौगोलिक स्थिति और पारंपरिक मूल्यों और रुचियों पर निर्भर करता है। अलग-अलग शैली की साड़ियों में **कांजीवरम साड़ी, बनारसी साड़ी, पटोला साड़ी** और **हकोबा** मुख्य हैं। **मध्य प्रदेश** की चंदेरी, महेश्वरी, **बिहार** की मधुबनी छपाई, तसर, कांथा **असम** की मूँगा रेशम, **ओडिशा** की बोमकई, **राजस्थान** की बंधेज, **गुजरात** की गठोडा, पटोले, कांथा, **छत्तीसगढ़** की कोसा रेशम, **झारखंडी** कोसा रेशम, **महाराष्ट्र** की पैठणी, **तमिलनाडु** की कांजीवरम, **उत्तर प्रदेश** की तांची बनारसी साड़ियाँ, जामदानी, जामवर, जरी-जरदोजी एवं **पश्चिम बंगाल** की बालूछरी एवं कांथा टंगैल आदि प्रसिद्ध साड़ियाँ हैं।

साड़ी को विभिन्न जगहों पर अलग-अलग नामों से जाना जाता है। केरल में सुनहरे किनारे वाली साड़ी को शुभ अवसरों पर पहना जाता है, जिसे कवानिस कहते हैं जबकि रोजमर्रा में पहने जाने वाली साड़ी को मुंडुम नेरियात्तम या सेत-मुंडु कहा जाता है। तमिलनाडु में साड़ी को पुड़ावी और कर्नाटक में कुप्सास कहते हैं। तमिलनाडु में कुछ समुदाय की महिलाएँ विशेष अवसरों पर भी एक खास तरह की साड़ी बाँधती हैं, जिसे मदिसर कहा जाता है। यह मदिसर अन्य साड़ियों की अपेक्षाकृत ज्यादा लंबी होती है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

असम में महिलाओं के द्वारा पहने जाने वाले पारंपरिक वस्त्र (साड़ी) को मेखला चादोर कहा जाता है। इसमें शरीर के कमर से निचले हिस्से में पहने जाने वाले को मेखला ऊपरी हिस्से पर पहने जाने वाले को चादोर कहा जाता है। इसका एक सिरा त्रिकोणीय बाँधा जाता है। इसे सभी आयु वर्ग की महिलाएँ पहनती हैं।

महाराष्ट्र में महिलाएँ पारंपरिक तौर पर साड़ी को जिस तरह से बाँधती हैं उसे कास्ता, काचा या सकाचा कहा जाता है। चूँकि यह साड़ी करीब नौ मीटर की होती है इसलिए इसे नऊवारी साड़ी भी कहा जाता है। इसकी विशेषता यह है कि सामान्य धोती की तरह इसका एक सिरा पीछे से पहना जाता है।

कश्मीर में खास तरह की शालें बनाई जाती हैं जिन्हें जामावर कहा जाता है। ये शालें आम की आकृतियों वाले डिज़ाइनों से युक्त होती हैं। इनमें कनिका जामावर बहुत उच्च कोटि की शाल मानी जाती है। इसके निर्माण में पश्मीना ऊन का प्रयोग भी होता है। यह शाल पश्चिमी उत्तर प्रदेश के नजीबाबाद में भी बनाई जाती है।

बनारस की जरी साड़ी

पवित्र गंगा नदी के किनारे स्थित वाराणसी अपनी सुंदर रेशमी साड़ियों एवं जरी के लिए प्रख्यात है। ये साड़ियाँ हल्के रंग पर पत्ती, फूल, फल, पक्षी आदि की घनी बुनाई वाली डिज़ाइन के लिए प्रसिद्ध हैं। इन साड़ियों में क्लिष्ट बॉर्डर तथा अच्छी तरह का सजा पल्लू होता है। यह शहर चाँदी तथा सोने के तारों से बुनी हल्की साड़ियों के लिए भी विख्यात है। बनारस में बनने वाले किमखाब का उल्लेख पौराणिक पुस्तकों में मिलता है। इसमें सोने तथा चाँदी के धागों की सुनहरी बुनावट होती है। किमखाब को अंग्रेज़ी में ब्रोकेड भी कहा जाता है। शुद्ध रेशम में सोने की कारीगरी को बाफ़्ता कहते हैं और रंग-बिरंगे रेशम में महीन जरी के कर्म को आमरु।

गुजरात का पटोला

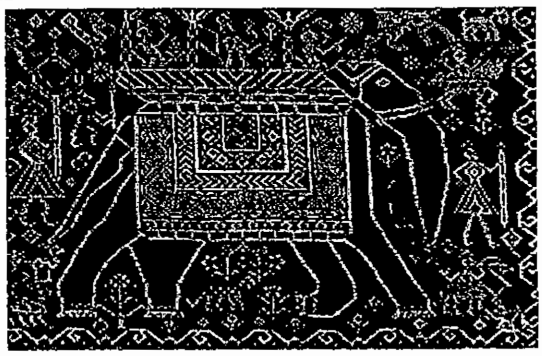
गुजरात का पटोला

पटोला अपनी सूक्ष्मता, बारीकी एवं सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। इसमें पाँच या छह पारम्परिक रंगों जैसे लाल, जामुनी, नीला, हरा, काला या पीला के साथ अवरोध विधि से ताने एवं बाने को रंगा जाता है तथा बेहतरीन रंग एवं आकृति के धरातल पर ज्यामिति शैली की पूर्णता के साथ पक्षी, पुष्प, पशु, नर्तक-नर्तकी आदि का सौन्दर्य उभारा जाता है। पटोला गुजरात मूल की एक प्रकार की रेशमी साड़ी है। यह वधू के मामा द्वारा उपहार में दी जाने वाली दुल्हन की साज-सज्जा सामग्री का एक भाग होती है। पटोला में नर्तकी, हाथी, तोता, पीपल के पत्ते, पुष्पीय रचना, जलीय पौधे, टोकरी सज्जा की आकृतियाँ, दोहरी बाहरी रेखाओं के साथ जालीदार चित्र तथा गहरे लाल रंग की पृष्ठभूमि पर फूल बनाए जाते हैं। इस तरह गुजरात की तनछुई जरी वाली साड़ी का नामकरण तीन पारसी भाइयों जिन्हें छुई के नाम से जाना जाता है, के नाम पर हुआ, जिन्होंने इस कला को चीन में सीखा तथा सूरत में इसे प्रदर्शित किया। तनछुई जरी में सामान्यतया गाढ़ी बुनाई, धरातल में बैंगनी या गाढ़ा रंग तथा पूरी डिज़ाइन में पुष्प, लता, पक्षी आदि का मूल भाव होता है।

बन्धेज

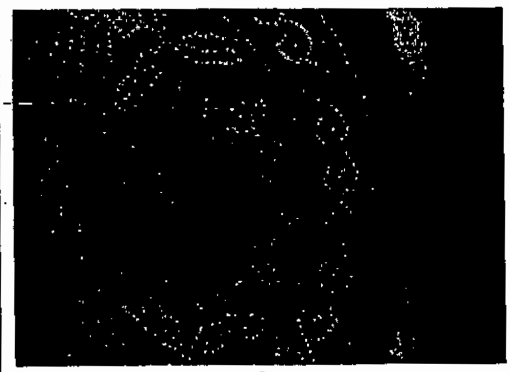
बन्धेज

बन्धेज अथवा बंधिनी की साड़ियाँ या वस्त्रों में विभिन्न आकार प्रकार की गाँठें लगा कर कस कर बाँध दिया जाता है तथा विशेष डिज़ाइन को बनाने के लिए रंगाई की जाती है। कपड़ा सूखने पर इन गाँठों को खोल दिया जाता है जिससे गाँठ लगे हिस्से का डिज़ाइन अलग बन जाता है। इस तरीके से बनने वाली साड़ी, ओढ़नी तथा पगड़ी में चमकीले रंगों का मिश्रण होता है। कच्छ की बंधिनी सूक्ष्म रूप से बंधी गाँठ, रंगों की उत्कृष्टता तथा डिज़ाइन की पूर्णता में अद्वितीय है। ओडिशा में बाँधकर रंगाई करने एवं बुनने को ईकत के नाम से जाना जाता है। इस विधि द्वारा हुआ काम एक ब्रश की रंगाई जैसा प्रतीत होता है। ईकत की इस बुनाई में शहतूत के रेशम एवं तसर के रेशम दोनों इस्तेमाल में लाये जाते हैं। इसे संबलपुरी साड़ी भी कहा गया है। इसका निर्माण बारागढ़, सोनपुर, संबलपुर, बोलांगीर और कोसल क्षेत्र में ज्यादा होता है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बुर्का

इस्लामी संस्कृति में महिलाओं में बुर्का पहनने का चलन है और इसे घर से बाहर निकलने पर अन्य कपड़ों के ऊपर पहना जाता है। वास्तव में यह एक पर्दादारी है। यह प्रायः काले रंग और हल्के नीले रंग के कपड़े से बनाया जाता है। इसे सिर से पहना जाता है और देखने के लिए आँखों के सामने एक जाली लगाई जाती है या फिर आँखों वाला हिस्सा खुला रखा जाता है।

घाघरा या लहँगा

घाघरा कमर से एड़ी तक लम्बी स्कर्ट जैसा होता है। इसमें कलियों को जोड़ कर या चुन्नट के द्वारा इसे ऊपर संकरा और नीचे चौड़ा, घेरदार बनाया जाता है। घाघरे ऊँचे रखे जाते हैं ताकि पाँवों के गहने दिखाई देते रहें। इसका घेरा संपन्नता का द्योतक समझा जाता है। मलमल के घाघरों को रंगवाकर या छपवाकर, उनमें गोटा लगाने या जमीन में गोखरू या गोटे का जाल लगाने का प्रचलन है। कभी-कभी केवल जोड़ों पर ही पतला गोटा लगता है। राजस्थान, पंजाब और हिमाचल प्रदेश में गोटा लगाने का बहुत रिवाज है। इनमें विशुद्ध चाँदी के तार लगते हैं और इन्हें महिलाएँ बहुत संभाल कर रखतीं तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनका उपयोग करती हैं। घाघरे को चोली और दुपट्टे के साथ पहना जाता है। इसे प्रायः शुभ अवसरों एवं पर्वों पर पहना जाता है।

फर्शी घाघरा या पायजामा

इसकी शुरुआत 17वीं सदी से मानी जाती है। इसका चलन अवध के शाही परिवारों से शुरू हुआ। इसके तीन हिस्से होते हैं कुर्ता, लंबा दुपट्टा और दो पांहुचों और बड़े घेरे वाला पजामा जिसका निचला सिरा फूला हुआ बनाया जाता है। इसकी विशेषता यह है कि यह लंबाई में पैरों से आगे फर्श तक जाता है और इसके पहनने के बाद चलने में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है।

पट्टु पावादई (तमिल), लंगा दावनी (कन्नड़) और लंगा ओनी (तेलुगु)

इस प्रकार का वस्त्र दक्षिण भारत में बहुत लोकप्रिय है। इसे प्रायः लड़कियाँ या छोटी बच्चियाँ ही पहनती हैं। इसमें पावादई एक तिकोने घाघरे की तरह होता है जिसका किनारा सुनहरे रंग का बनाया जाता है।

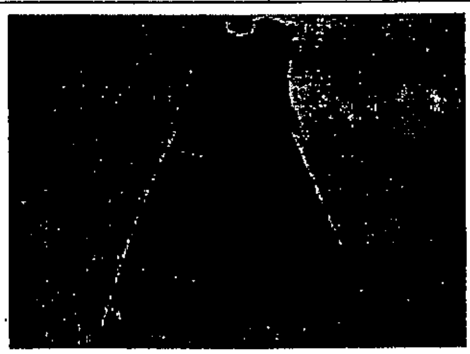

पट्टु पावादई

ओढ़नी या दुपट्टा

इसे महिलाएँ घाघरा और कुर्ती के ऊपर ओढ़ती हैं। ओढ़नी की लम्बाई प्रायः ढाई से तीन मीटर और चौड़ाई डेढ़ से पौने दो मीटर होती है, जिससे कि घूँघट निकालने पर भी ओढ़नी नीचे घाघरे तक रहे। ओढ़नियाँ विविध रंगों में रंगी जाती हैं और इन पर कीमती बेलें या गोटा पत्ती लगाई जाती हैं।

सलवार कमीज

इसे जम्मू कश्मीर, पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश की महिलाएँ पहनती हैं। इसे पंजाबी सूट या केवल सलवार भी कहा जाता है। इसके साथ दुपट्टा भी पहना जाता है। इसमें चूड़ीदार सलवार का भी प्रयोग किया जाता है। यह कमर से घुटने तक थोड़ी ढीली होती है और घुटनों से पैरों तक कसावट के लिए इसमें क्षैतिज चुन्नटें डाली जाती हैं।

सलवार का एक अन्य प्रकार पटियाला सलवार भी बहुत लोकप्रिय है। इसकी बनावट पठानी सूट की तरह होती है और सलवार में ऊपर से नीचे लंबवत चुन्नटें डाली जाती हैं।

फिरन

यह एक लंबे चोगे की तरह बनाया गया ढीला-ढाला गर्म कपड़ा होता है। इसे कश्मीर में महिला और पुरुष दोनों पहनते हैं।

फिरन

ओन्नारा

यह केरल में महिलाओं द्वारा पहने जाना वाला भीतरी वस्त्र है। इसे कहीं-कहीं थार भी कहा जाता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

शॉल

शॉल को अन्य वस्त्रों के ऊपर सर्दी से राहत पाने के लिए ओढ़ा जाता है। कश्मीर की प्रसिद्ध शॉल **पश्मीना** शॉल है। इसे पश्मीन भेड़ के बालों से बनाया जाता है। पश्मीना का आशय है बहुत ही सुंदर व कोमल ऊनी कपड़ा जिसकी मुलायमियत और मजबूती लाजवाब हो।

पुरुषों के वस्त्र

कुर्ता या कुरता

यह पारंपरिक भारतीय पोशाक है तथा यह एक लम्बी कमीज की तरह होता है जो घुटनों तक लंबा होता है और पजामा या धोती के साथ पहना जाता है। कुर्ते को आम प्रयोग और खास मौकों दोनों के लिये इस्तेमाल किया जाता है। हालाँकि खास मौकों पर पहने जाने वाला कुर्ता विशेष ढंग से बनाया गया होता है। कुर्ते कॉलर वाले और बगैर कॉलर वाले दोनों प्रकारों में बनाये जाते हैं। कुर्ते सूती, ऊनी और रेशमी सभी तरह के वस्त्रों में मिलते हैं। औरतें भी कुर्तों का इस्तेमाल करती हैं किन्तु इन्हें आमतौर पर कुर्ती और अन्य नामों से पुकारा जाता है। कुर्ते का एक अन्य रूप पठानी सूट है जो कि कुर्ते से ज्यादा ढीला और लंबा होता है। पश्चिम बंगाल में बाँहों पर चुन्नटों वाला कुर्ता पहना जाता है।

अंगरखा

अंगरखा

अंगरखा शरीर के ऊपरी हिस्सों पर पहना जाता है। इसका घेरा थोड़ा गोल होता है और इसे आगे की ओर एवं बाएं तरफ बाँध कर पहनते हैं। अंगरखा गुजरात और महाराष्ट्र में ज्यादा लोकप्रिय है। इसे महिला और पुरुष दोनों पहनते हैं। हालाँकि उनकी बनावट में अन्तर होता है।

धोती

धोती कमर से नीचे पहना जाने वाला वस्त्र है, जो करीब छह फीट लंबा होता है। आजकल यह केवल ग्रामीण क्षेत्रों में ही पहना जाता है। इसे तेलुगु में पांचा, तमिल में वेष्ठी और कन्नड में पांचे या लुंगी कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है एक खुली और दूसरी सिलाई युक्त। इसका दक्षिण भारत में बहुत प्रचलन है और इसे वहाँ सामान्यतया साधारण तरीके से ही कमर पर लपेटा जाता है जबकि उत्तर भारत में एक लंबे वस्त्र को दो पैरों में अलग-अलग करके बाँधा जाता है। आमतौर पर धोतियाँ हल्के सूती धागे से बुनी जाती हैं, जो चमकीले रंगीन पट्टेदार किनारें के साथ सफ़ेद रंग की होती हैं। रेशम की धोतियाँ त्योहार और उत्सवों पर पहनी जाती हैं। ई.पू. दूसरी शताब्दी की मूर्तियों से पता चलता है कि प्राचीन काल में एक परिधान के रूप में धोती पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों द्वारा पहनी जाती थी। आज भी भारत के कुछ भागों में, विशेषकर केरल और उत्तर भारत में महिलाएँ धोती पहनती हैं। धोती के अन्य रूप थाईलैंड में पानुंग, श्रीलंका में कॉम्बॉय और इंडोनेशिया व मलेशिया में सारोंग हैं। इसे शाटक भी कहा गया है।

शेरवानी

शेरवानी

शेरवानी प्राय: मुसलमान पुरुषों द्वारा पहना जाने वाला एक वस्त्र है। शेरवानी कोटनुमा एवं घुटने से लम्बी होती है। शेरवानी को ज्यादातर चूड़ीदार पायजामे के साथ पहना जाता है। शेरवानी भारत में आम तौर पर राजस्थान, उत्तर प्रदेश और हैदराबाद में पहनी जाती है। उत्तर भारत के शहरी इलाकों में विवाह के दौरान इसे पहनने का प्रचलन बढ़ गया है। इसके कॉलर ऊपर की तरफ खड़े होते हैं। इसके कपड़े पर जरी और कढ़ाई का काम किया जाता है। शेरवानी के जैसा एक दूसरा वस्त्र अचकन कहलाता है। दोनों में अंतर कपड़े की गुणवत्ता का है। शेरवानी में उत्तम गुणवत्ता के कपड़े का प्रयोग होता है और अचकन में कम गुणवत्ता या हल्के कपड़े का।

चीवर

संस्कृत में चीवर शब्द प्राय: साधु-संयासियों और भिक्षुकों के परिधान को कहते हैं। चीवर वस्त्र का एक छोटा टुकड़ा होता है। वैराग्य और त्याग के सिद्धांतों के कारण से, परिव्राजक निजी उपभोग के लिए जितना हो सके कम से कम सांसारिक वस्तुओं पर निर्भर रहने का प्रयास करते थे। इसीलिए सिले हुए वस्त्र पहनने जैसी विलासिता भी वे नहीं दिखाते थे। वस्त्र के छोटे टुकड़े

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

को ही कंधे से ऊपर गर्दन के पीछे से गाँठ बाँध कर लटका लिया जाता था जो भिक्षुकों के घुटनों तक शरीर को ढक लेता था। यही चीवर कहलाता था। बुद्ध की मूर्तियों में वस्त्र के रूप में चीवर परिलक्षित होता है।

उत्तरीय और अंतरीय

ये वस्त्र प्राचीन काल में पहने जाते थे। इसमें उत्तरीय को शरीर के ऊपरी हिस्से और अंतरीय को कमर से नीचे पहना जाता था। उत्तरीय को गर्दन के पीछे वाले हिस्से की ओर से लपेटते हुए दोनों बाँहों तक लाया जाता था। इसे आधुनिक गमछे के तौर पर समझा जा सकता है। इसके छोटे रूप को आज भी दक्षिण और पूर्वी भारत में वस्त्रों के ऊपर धारण किया जाता है। इसी तरह अंतरीय आधुनिक धोती की तरह पहना जाता था। बुद्ध की मूर्तियों में उन्हें उत्तरीय और अंतरीय पहने दिखाये जाने की परंपरा रही है। अंतरीय के ऊपर कायबंध बाँधने का चलन था। कायबंध कमर पर इस प्रकार बाँधा जाता था कि उसकी गाँठ तथा लटकन आगे की ओर रहे।

लंगोट

लंगोट एक चतुर्भुज आकार का पुरुष अंत: वस्त्र है। देश में साधु-महात्माओं और कुछ देवताओं को अक्सर लंगोट में ही प्रस्तुत किया जाता है और इस वस्त्र को भगवान को भेंट करने की भी परंपरा है। आधुनिक समय में इसका चलन बहुत कम हो गया है लेकिन कुश्ती प्रशिक्षण अखाड़ों में इसे पहनना जरूरी समझा जाता है। केरल में इसी प्रकार के वस्त्र को कोपीनम कहते हैं। कुछ पौराणिक पुस्तकों में इसे कुपीनम कहा गया है।

बंद गले का कोट

भारत में इसकी शुरुआत 1940 के आसपास मानी जाती है। यह आकार में एक छोटी शेरवानी के जैसा होता है और इसमें बंद गले का होना ही इसकी खासियत है। इसे नेहरू जैकेट भी कहा जाता है। इसकी लोकप्रियता में गिरावट आयी है लेकिन देश में इसे आधिकारिक-वस्त्र के रूप में मान्यता है।

गमछा

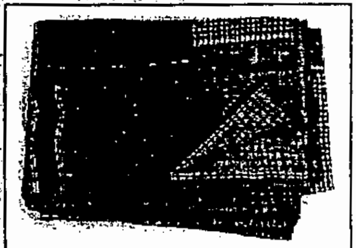
गमछा

इसे पुरुष गले या कंधे पर डालते हैं और इसका प्रयोग तौलिये की तरह होता है। इसका चलन पूर्वी भारत के अलावा बांग्लादेश में भी है। यह प्राय: लाल, नारंगी या हरे रंग का होता है और इस पर चारखाने या पट्टियों का डिज़ाइन बनाया जाता है। ओडिशा और असम में सफेद रंग और सुनहरी किनारी वाला गमछा धारण किया जाता है।

पगड़ी

देश में पगड़ी और टोपियाँ पहनने की परंपरा बहुत प्राचीन है। इसे प्रतिष्ठा से जोड़ कर भी देखा जाता है। आधुनिक समय में इसका चलन कम हुआ है लेकिन शुभ अवसरों पर आज भी पगड़ी बाँधी जाती है। पूरे देशभर में विभिन्न तरह की पगड़ियों और टोपियों को धारण करने का चलन है।

दस्तार

सिख धर्म में पगड़ी को दस्तार कहा जाता है। इसे पहनने वाले पुरुषों को बेहद सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इसे विभिन्न तरह से पहना जाता है। सिख समुदाय में दोहरी पट्टी या नोंक वाली पगड़ी, धमाला, चांद तोड़ा धमाला (निहंगों द्वारा पहने जाने वाली), अमृतसरी धमाला और पटका पहने जाने का चलन है।

फेटा

फेटा

फेटा एक मराठी शब्द है, जो पगड़ी के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इसे शुभ मौकों और त्योहारों पर पहना जाता है। पुनेरी पगड़ी, कोल्हापुरी और मावाली फेटा इसी के अन्य प्रकार हैं। पुनेरी पगड़ी का चलन पुणे में ज्यादा है। इसे सम्मान का प्रतीक समझा जाता

Copyright– Drishti The Vision Foundation

है। मैसूर फेटा नामक पगड़ी कर्नाटक में पहनी जाती है। भारत रत्न से सम्मानित मोक्षगुंडम विश्वेश्वरैया मैसूर फेटा ही धारण करते थे। इसका चलन मैसूर और कोडगू क्षेत्र में ज्यादा है।

राजस्थानी पगड़ी

राजस्थान पगड़ियों के मामले में बेहद धनी राज्य है। यहाँ की रंग-बिरंगी पगड़ियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं और इन्हें अनोखे ढंग से बाँधा जाता है। पगड़ी बाँधने के तरीकों से राज्य के अंचल का पता तक लगाया जा सकता है। मेवाड़ क्षेत्र में पगड़ और मारवाड़ क्षेत्र में साफा बाँधा जाता है। यहाँ मित्रता को प्रगाढ़ बनाने के लिए आपस में पगड़ी बदलने का रिवाज है।

गाँधी टोपी

इस प्रकार की टोपी को लोकप्रिय बनाने का श्रेय महात्मा गाँधी को है। यह प्राय: खादी वस्त्र से बनाई जाती है। इस टोपी का चलन इतना ज्यादा हुआ कि इसे राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ता के प्रतीक के तौर पर देखा जाने लगा। सामान्य तौर पर इसे गुजरात, महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल में पहना जाता है। हाल ही में सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हजारे और अरविंद केजरीवाल के आंदोलन के समय इसके प्रयोग में आकस्मिक वृद्धि हुई।

सेहरा

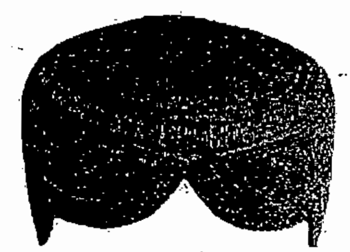
सिंधी टोपी

सेहरा विवाह समारोह में वर को पहनाया जाता है। इसके आगे वाले हिस्से में फूल मालाएँ लगाई जाती हैं जिससे उसका चेहरा ढंका रहता है। सेहरे की चर्चा कविताओं और फिल्मी गीतों में खूब मिलती है।

सिंधी टोपी

इस टोपी को सिंधी समुदाय के अलावा बलूचिस्तान के लोग भी धारण करते हैं। यह टोपी गोल होती है और इस पर कढ़ाई-बुनाई की जाती है। इसके अग्रभाग में विशेष तरह से कट लगाया जाता है और वही इसकी पहचान को विशिष्ट बनाता है। कभी-कभी इसमें छोटे शीशे भी लगाये जाते हैं। सिंधी लोग इसके साथ अजरक नामक शाल नुमा वस्त्र भी धारण करते हैं।

नेपाली टोपी

जप्पी

असम में पहनी जाने वाली टोपी को जप्पी कहा जाता है। यह बांस या बेंत से बनाई जाती है। इसका बीच का हिस्सा उठा हुआ होता है और इसी हिस्से को सिर में पहना जाता है।

नेपाली या ढाका टोपी

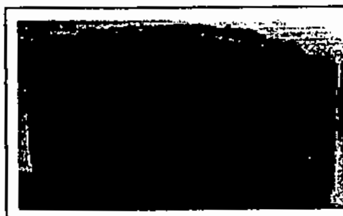
नेपाली टोपी

कपड़े की बनी यह टोपी नेपाली समुदाय के लोगों द्वारा पहनी जाती है। इसे ढाका टोपी कहने की वजह संभवतया यह है कि यह टोपी जिस कपड़े से बनती है उसे ढाका कपड़ा कहते हैं, जिसका निर्माण ढाका में होता था। नेपाली समुदाय इसे बहुत प्रतिष्ठित मानता है और इसे नेपाल के राजकीय-वस्त्र में शामिल किया गया है।

काराकुल या जिन्ना टोपी

यह एक त्रिकोणीय टोपी होती है जिसका निर्माण काराकुल नामक भेड़ की खाल से होता है। इसका चलन भारत, पाकिस्तान और अफगानिस्तान में खूब है। पाकिस्तान के संस्थापक मोहम्मद अली जिन्ना इसी टोपी को धारण करते थे, अत: इसे जिन्ना टोपी के नाम से भी जानते हैं। इसकी खासियत यह है कि इसे उतारने के बाद मोड़ कर रखा जा सकता है अतएव यह कम जगह घेरती है। यह काबुल के परंपरागत परिधान में शामिल है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

पादुका

यह पैरों में पहना जाने वाला सबसे पुराना वस्तु है। यह प्राय: लकड़ी की होती है और इसमें पकड़ बनाने के लिए पैर के अंगूठे और पहली अंगुली के बीच एक नक्काशीदार टुकड़ा लगाया जाता है। देश के कई भगवानों के चित्रों में उन्हें पादुकाएं पहने दिखाये जाने की परंपरा है। इन्हें हिन्दु और जैन धर्म में पवित्र समझा जाता है। इसे खड़ाऊँ भी कहा जाता है।

जूता

कोल्हापुरी चप्पल

पंजाबी जूती

जूता या पंजाबी जूती चमड़े की बनाई जाती है और इस पर कढ़ाई की जाती है। पुराने जमाने में यह कढ़ाई सोने और चाँदी के तारों से की जाती थी। चपटे तले वाली इन जूतियों में आजकल रबड़ का सोल लगाया जाता है। पंजाबी जूती में लाहौरी, पेशावरी और कस्सौरी जूतियाँ ज्यादा मशहूर हैं। महिलाओं की जूतियों में पीछे का हिस्सा नहीं लगाया जाता। यहाँ नोंकदार जूतियाँ बनाने का भी रिवाज है।

कर्नाटक के बेलगाम जिले के अथानी तालुके में बनने वाली कोल्हापुरी चप्पलें भी प्रसिद्ध हैं। भ्रमवश इन्हें महाराष्ट्र में निर्मित समझा जाता है। कोल्हापुरी चप्पलों के कुछ प्रसिद्ध डिज़ाइन-कचकड़ी, ब्रक्कलवाली और पुकारी हैं।

पादुका

मोजड़ी

मोजड़ी जूते में प्रयुक्त होने वाले चमड़े को सब्जियों से शोधित किया जाता है। इसका डिज़ाइन पंजाबी जूती के जैसा ही होता है। इसमें कशीदाकारी करने के साथ पीतल की कीलें, हाथी दाँत, शीशे और घंटियों का प्रयोग होता है।

भारत के विभिन्न राज्यों का परंपरागत भोजन

1.	जम्मू-कश्मीर	:	रोगन जोश, यखनी, नून या शीर चाय, वाज़वान, कहवा, गुश्तावा।
2.	पंजाब व दिल्ली	:	सरसों का साग, मक्के की रोटी, राजमा-चावल, तंदूरी पकवान जैसे पनीर टिक्का, दाल मक्खनी, छोले भटूरे, लस्सी।
3.	उत्तर प्रदेश	:	पूरी-सब्जी, परांठा (सादा, भरवाँ), मिस्सी रोटी, चाट, कचौड़ी (दाल, आलू), दही वड़े या भल्ले, ठंडी खीर, हलवा (गाजर, मूँग दाल, लौकी, सूजी), पुआ, रबड़ी, दम पुख्त, बिरयानी, काकोरी कबाब, शामी कबाबा, गिलौटी कबाब, सींक कबाब, कीमा।
4.	राजस्थान	:	दाल बाटी, चूरमा, पापड़, गट्टे की सब्जी, दाल कचौरी, भुजिया, मिर्चीवड़ा।
5.	गुजरात	:	ढोकला, लप्सी, बाफला, पोहा, छाछ, भाखरी, श्रीखंड, थेपला, पुडला, खमन, खांडवी, फरसान।
6.	महाराष्ट्र	:	वड़ा पाव, श्रीखंड, भेलपूरी, पूरन पोली, कोकुम, पनहा, ज्वारभाखरा।
7.	गोवा	:	केरीरस, कोकुम, धनसाक, विंडालू।
8.	केरल	:	सादया, पाथिरी, पुट्टु अप्पम, अवियल, फिश मोली, उपमा, उत्तपम।
9.	तमिलनाडु	:	इडली, सांभर, डोसा, रवा डोसा, मसाला डोसा, उत्तपम, थोगइल, कोट्टू, फिल्टर कॉफी, मैसूर पाक, वडा, रसम।
10.	आंध्र प्रदेश	:	हैदराबादी बिरयानी, दाल गोश्त (हलीम), बैंगन बाकरा, पेसारट्टू, पुनुगुलू।
11.	ओडिशा	:	पांच फुटाता, पखाल, बड़ी चूरा, दही-भिंडी।
12.	अरुणाचल प्रदेश	:	लेट्यूस (पत्तेदार सब्जी), थुपका, अपोंग (पेय)।
13.	पश्चिम बंगाल	:	माछेर झोल, भाप्पा, रसगुल्ला, संदेश, पंटुआ, मिष्टी दोई।
14.	उत्तराखंड	:	बड़ियाँ, मंगौड़ी, झोली, गहत, चुडकानी, मंडुआ।
15.	त्रिपुरा	:	छाखवई, मुखवई, मुईतुरू।
16.	असम	:	खार, टेंगा, पोइताभात, पिटिका।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

17. बिहार : लिट्टी चोखा, सत्तू, दालपूरी, मालपुआ, ठेकुआ, जलेबी, अनरसा, तिलकुट, खाजा।
18. छत्तीसगढ़ : रखिया बड़ी, पेठा, बफौरी, देहोरी, इढाहर, खुर्मी, चावल, पकौड़ा, महुआ (पेय)।
19. दमन और दीव : रोटला और साग, चोखा, लप्सी, पोट्या, ढकानू, दूध पलग।
20. हरियाणा : चूरमा, बथुआ रायता, लस्सी, सीगरी, बाजरा, आलू रोटी, दूधी हलवा, पिन्नी, मेथीगाजर।
21. हिमाचल प्रदेश : सीदू, पटांडे, चुर्ये, मार्चू, चाकूचा, नुडू, थोग, तिलचटनी, छांग।
22. कर्नाटक : नीर डोसा, बिसी बेले भात, जोलदा रोटी, हुली, उप्पीटू, मैसूर पाक।
23. मध्य प्रदेश : दाल बाफला, पोहा।
24. झारखंड : मंडुआ, चिलका, कंडा, ओल, बर्रा, लालचींटी चटनी, अरसा, निमकी, मूरी लड्डुआ, हड़िया।
25. मणिपुर : इटोम्बा, सिंगजू, मोरोक मेरपा, खांग होपू।
26. पश्चिम बंगाल : भाप्पा इलिश, माछ झोल, रसगुल्ला संदेश।
27. सिक्किम : थुपका, मोमो, त्वांग, निंग्रो, गंडुरूक, फागशाया।
28. नागालैंड : भुत जोलोकिया (मिर्च), सूखी मछली।
29. मिजोरम : बई, स्वायंचर, जू।
30. मेघालय : जोदाह, को-कपू, टुंग-रिम्बाई, कयात।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-7

युद्धकला और परंपरागत खेल

युद्धकला

मार्शल आर्ट या लड़ाई की कलाएँ, किसी शारीरिक हमले से बचाव के लिए प्रशिक्षण की परंपराएँ हैं। इनमें सिद्धहस्त होने के लिए नियमित अभ्यास और कड़े प्रशिक्षण की जरूरत होती है। इस कला का उद्देश्य हमला करना नहीं अपितु बचाव या खतरे से रक्षा करना होता है। मार्शल आर्ट को विज्ञान और कला दोनों माना जाता है। विज्ञान इसलिए क्योंकि इसके नियम निश्चित हैं और कला इसलिए कि इसमें कौशल की अभिव्यक्ति होती है। युद्धकला को धर्म से भी जोड़ा गया है और कहीं-कहीं इसने नृत्य का रूप धारण कर लिया है। चीन की युद्धकलाओं को धर्म और धर्मगुरुओं की रक्षा से जोड़ कर देखा जाता है। इसी तरह भारत में सिखों की युद्धकला गतका भी धर्म से प्रेरित है। कुछ प्रसिद्ध भारतीय युद्धकलाओं का परिचय इस प्रकार है:

कलारिपयट्टू *(Kalari Payattu)*

केरल के मार्शल आर्ट कलारिपयट्टू को विश्व में मार्शल आर्ट का सर्वाधिक प्राचीन और सबसे वैज्ञानिक रूप माना जाता है। लड़ाई का प्रशिक्षण कलारि यानी नामक एक प्रशिक्षण स्कूल में दिया जाता है। कलारि के नियमों के तहत मार्शल आर्ट के प्रशिक्षण की शुरुआत शरीर की तेल-मालिश से की जाती है जो देह को फुर्तीला और लचीला बनाता है। इसके बाद चाट्टोम (कूद), ओट्टम (दौड़), मरिचिल (कलाबाजी) आदि जैसे करतब सिखाए जाते हैं जिसके बाद कटार, तलवार, भाला, गदा, धनुष-बाण जैसे हथियार चलाने की विद्या सिखाई जाती है।

कलारिपयट्टू

कलारिपयट्टू के प्रशिक्षण का उद्देश्य व्यक्ति के मन और शरीर के बीच बेहतरीन तालमेल स्थापित करना होता है। कलारि के पारंपरिक प्रशिक्षण में देशी चिकित्सा विधियों को भी शामिल किया जाता है। कलारि धार्मिक पूजन के भी केन्द्र होते हैं। कलारिपयट्टू के सामान्य नियमों के तहत व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह प्रशिक्षण पूरा होने के बाद भी तेल मालिश और बाकी के व्यायाम जारी रखेगा।

सिलाम्बम *(Silambam)*

यह तमिलनाडु में प्रचलित युद्धकला है। माना जाता है कि पांड्य शासकों ने इस कला को प्रश्रय दिया। तमिल ग्रंथ शिल्लपादिकरम में इसका उल्लेख मिलता है। इसमें मुख्यत: लाठियों का प्रयोग होता है और कभी-कभी दूसरे प्रकार के अस्त्रों जैसे हिरण के सींगों का भी इस्तेमाल किया जाता है। इसे मिट्टी के मैदान में खेला जाता है। जब इसमें दो खिलाड़ी होते हैं तो इसकी अवधि छह से दस मिनट तक होती है। जब इसे बिना शस्त्रों के खेलते हैं तो इसे कुट्टु वरिसई कहा जाता है। तमिलनाडु की एक और युद्धकला का नाम वरमा कलाई है और इसे कुट्टु वरिसई का आवश्यक अंग भी माना जाता है।

थांग-ता और सारित-साराक *(Thang-ta & Sarit-Sarak)*

ये मणिपुर की प्राचीन युद्धकलाएँ हैं। इनमें दो या दो से अधिक खिलाड़ी होते हैं और वे तलवार का इस्तेमाल करते हैं। मणिपुरी भाषा में थांग का आशय तलवार से और टा का आशय बरछी से है। थांग-टा यहाँ के धार्मिक अनुष्ठानों और नृत्यों से भी जुड़ा है। सारित-साराक और थांग-टा में अंतर यह है कि सारित-साराक में हथियारों का प्रयोग नहीं होता। थांग-टा को हयुन-लालोंग भी कहते हैं और इसका प्रचलन मणिपुर के मैती समुदाय में ज्यादा है।

थांग-ता

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

ठोडा *(Thoda)*

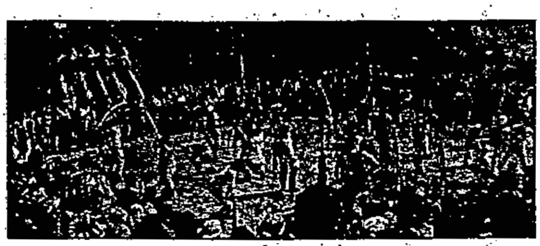

ठोडा

यह हिमाचल प्रदेश की युद्धकला है। इसमें धनुष-बाण का प्रयोग होता है। इसका संबंध कौरव-पांडवों के बीच हुए युद्ध से जोड़ा जाता है। बैसाखी और अन्य शुभ अवसरों पर होने वाले इस कौशल प्रदर्शन में दो दल भाग लेते हैं जिसमें एक को पाशी और दूसरे को साथी कहा जाता है। इसमें भाग लेने वाले प्रतिभागी एक विशेष प्रकार की सफेद पोशाक धारण करते हैं।

गतका *(Gatka)*

गतक

इस युद्धकला का प्रचलन सिख समुदाय और पंजाब से है। इसका अभ्यास बतौर खेल और अनुष्ठान दोनों प्रकार से होता है। इसमें खिलाड़ी के हाथ में लकड़ी की तलवारें या भाले होते हैं और उनके दूसरे हाथ में ढाल होती हैं। खिलाड़ी एक दूसरे पर वार तथा बचाव करके अपने कौशल का प्रदर्शन करते हैं। इसके अलावा गतका में व्यक्तिगत और समूह के बहादुरीपूर्वक कार्यों का प्रदर्शन किया जाता है।

छीबी गद-गा *(Cheibi Gad-Ga)*

यह मणिपुर की प्राचीन युद्धकला है। इसमें तलवार और ढाल प्रयुक्त होते हैं। यह प्रतियोगिता सात मीटर व्यास वाले एक गोल घेरे में होती है और जिस खिलाड़ी को जितने ज्यादा अंक मिलते हैं वह इसमें जीत हासिल करता है। इसमें छीबी यानी तलवार की लंबाई दो से ढाई फीट तक लंबी और ढाल का व्यास करीब एक मीटर तक होता है।

मर्दानी खेल

इस युद्धकला का प्रचलन महाराष्ट्र के मराठा समुदाय में है।

मुष्टि युद्ध

उत्तर प्रदेश के बनारस में मध्य काल में इस युद्धकला का प्रचलन था।

पारीकदा

पश्चिम बंगाल और बिहार में प्रचलित इस युद्धकला में तलवार और ढाल का प्रयोग होता है।

कथी सामू

आंध्र प्रदेश में प्रचलित इस युद्धकला में तलवार-ढाल का इस्तेमाल होता है।

पाईका अखाड़ा

इस युद्धकला का प्रचलन ओडिशा में है।

खेल

वर्तमान समय में खेल को किसी व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर खेल में प्रतिभाग कर सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन से जहाँ देश गौरवान्वित महसूस करता है वहीं देश की प्रतिष्ठा में श्रीवृद्धि होती है। देश में उक्त खेल विशेष के प्रति जागरुकता बढ़ती है और नए खिलाड़ी कीर्तिमान बनाने हेतु खेल में प्रवेश करते है। वर्तमान में खेलों में कई बदलाव आ रहे हैं जो समय की माँग के अनुरूप हैं तथा यह बदलाव राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तर पर हो रहे हैं। इसलिए सरकार ने खेलों के विकास के लिए कई कल्याणकारी तथा उत्कृष्ट योजनाओं एवं कार्यक्रमों की शुरुआत की है।

युवा कार्य एवं खेल मंत्रालय: इसकी स्थापना सन् 1982 में खेल विभाग के रूप में की गई थी। उसी समय देश में नौवें एशियाई खेल का अयोजन नई दिल्ली में किया जा रहा था। इसके बाद वर्ष 1985 में अंतर्राष्ट्रीय युवा वर्ष के मौके पर इस विभाग का नाम

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बदलकर खेल एवं युवक कल्याण विभाग कर दिया गया। 27 मई, 2000 को इसे स्वतंत्र मंत्रालय के रूप में घोषित कर दिया गया। बाद में इस मंत्रालय को दो विभागों, युवा कार्य विभाग तथा खेल विभाग में बाँट दिया गया, जो 30 अप्रैल, 2008 से अस्तित्व में आया।

भारतीय खेल प्राधिकरण (एसएआई): यह युवा कार्य एवं खेल मंत्रालय का एक विभाग है। इसकी खेल प्रोत्साहन योजनाएँ युवाओं की प्रतिभा को सामने लाकर उन्हें और तराशती हैं। साथ ही उन्हें अपनी खेल प्रतिभा निखारने के लिए बुनियादी सुविधाएँ, उपकरण तथा प्रशिक्षण सुविधाएँ भी उपलब्ध कराती हैं।

खेल शिक्षा एवं प्रशिक्षण

देश के अधिकांश राष्ट्रीय खेल परिसंघ स्वायत्तशासी हैं और इनकी प्रमुख जिम्मेदारी खेलों को प्रोत्साहन देना है। खेलों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार आधारभूत सुविधाओं के साथ ही विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं का भी आयोजन करती रहती है, जिससे राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर की उच्च श्रेणी की प्रतिस्पर्धा को हासिल किया जा सके। समस्त योजनाएँ भी इसी को ध्यान में रखकर बनाई जाती हैं। खेल-प्रतिस्पर्धाओं में हिस्सा लेने के साथ ही साथ उसमें जीत एवं मेडल हासिल करना भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके लिए कई राज्यों ने अलग से राष्ट्रीय प्रशिक्षण अकादमियों एवं विशेष केंद्रों की स्थापना की है। यहाँ पर प्रतिभावान किशोरों एवं बच्चों को सुप्रशिक्षित कोच द्वारा आधुनिक खेल पद्धतियों का अधिक से अधिक समय तक प्रशिक्षण दिया जाता है।

राज्यों एवं केंद्र के कई विश्वविद्यालयों ने भी खेल को अपने स्नातक तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में शामिल किया है। इसके अलावा हर राज्य सरकार ने अपने यहाँ खेल एवं युवक कल्याण का समर्पित विभाग एवं मंत्रालय बना रखा है, जो खेलों के प्रोत्साहन के लिए नियमित रूप से काम करता है।

राष्ट्रीय स्तर के संस्थान

- नेताजी सुभाष खेल संस्थान, पटियाला
- लक्ष्मीबाई राष्ट्रीय शारीरिक शिक्षा महाविद्यालय (एलएनसीपीई), तिरुवनंतपुरम
- लक्ष्मीबाई राष्ट्रीय शारीरिक शिक्षा संस्थान, ग्वालियर

खेल शिक्षा एवं प्रशिक्षण देने वाले अन्य संस्थान

- इंदिरा गाँधी शारीरिक शिक्षा एवं खेल विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली
- अटल बिहारी वाजपेयी पर्वतारोहण एवं संबंधित खेल संस्थान (एबीवीआईएमएएस) – मनाली
- राष्ट्रीय जलक्रीड़ा संस्थान, पणजी, गोवा
- नेताजी सुभाष राष्ट्रीय खेल संस्थान, कोलकाता
- सांगे ल्हादेन खेल अकादमी, चिम्पू अरुणाचल प्रदेश
- डा. डी. वाई. पाटिल खेल अकादमी, मुंबई महाराष्ट्र
- चंडीगढ़ फुटबॉल एवं हॉकी अकादमी, चंडीगढ़
- आंध्र प्रदेश खेल विद्यालय, रंगारेड्डी आंध्र प्रदेश
- तमिलनाडु शारीरिक एवं खेल विश्वविद्यालय, चेन्नई

सरकार द्वारा स्थापित पुरस्कार

राजीव गाँधी खेल रत्न पुरस्कार खेल में अद्वितीय प्रतिभा दिखाने वाले खिलाड़ी तथा टीम को दिया जाता है।

द्रोणाचार्य पुरस्कार उन प्रशिक्षकों तथा कोच को दिया जाता है, जिनके प्रयासों तथा अथक मेहनत की वजह से कोई खिलाड़ी अथवा टीम किसी अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा में शानदार प्रदर्शन करती है।

अर्जुन पुरस्कार उस खिलाड़ी को दिया जाता है, जिसने लगातार तीन वर्षों तक अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शानदार प्रदर्शन कर रहा हो तथा अपने खेल में माहिर साबित हो चुका हो। इस पुरस्कार को देने के लिए खिलाड़ी में नेतृत्व क्षमता, अनुशासन एवं खेल की भावना होना भी अहम माना जाता है।

खेलों के लिए **ध्यानचंद लाइफ टाइम अचीवमेंट पुरस्कार** उन खिलाड़ियों को दिया जाता है, जिन्होंने खेल के लिए अमूल्य योगदान दिया हो तथा लगातार उसमें सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन कर रहे हों। इसके लिए उन खिलाड़ियों का भी चयन किया जाता है, जिन्होंने खेल से भले ही संन्यास ले लिया हो, लेकिन वे खेल के प्रोत्साहन के लिए भी कार्यरत हों।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ट्रॉफी विश्वविद्यालयों को दिया जाने वाला पुरस्कार है। मुख्यत: यह उन विश्वविद्यालयों को दिया जाता है, जिन्होंने पूरे वर्ष के दौरान खेलों में अच्छा प्रदर्शन किया हो।

राष्ट्रीय खेल प्रोत्साहन पुरस्कार स्थापित करने का लक्ष्य कॉरपोरेट जगत को खेलों की ओर आकर्षित करना एवं प्रोत्साहन के लिए आगे लाना है। इससे देश में खेलों का विकास होगा।

पंचायत युवा क्रीड़ा और खेल अभियान (पीवाईकेकेए) इस योजना में पूरे देश में राष्ट्रव्यापी ग्रामीण खेलकूद ढांचे में पंचायत स्तर पर आधारभूत उपकरण एवं सुविधाएँ मुहैया कराई जाती हैं। इसमें ब्लॉक और जिला स्तर पर वार्षिक प्रतियोगिताएँ भी आयोजित करवाई जाती हैं।

भारतीय परंपरागत खेलों का परिचय

क्रिकेट, हॉकी, फुटबाल आदि खेल देश में अति लोकप्रिय हैं लेकिन इनसे जुड़ा एक तथ्य यह भी है कि ये भारतीय खेल नहीं हैं। ये विदेशी खेल हैं और यहाँ आकर इतने लोकप्रिय हुए कि देश के परंपरागत खेलों के विकास की धारा अवरुद्ध हो गयी। कुछ खेल जो यहाँ पहले से चल रहे थे उनके खिलाड़ियों को अंतर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप तैयार किया गया ताकि खिलाड़ी विश्व स्तर पर मुकाबला कर सकें। इन खेलों में शतरंज, तीरंदाजी और कुश्ती प्रमुख हैं। लेकिन खेलों की तीसरी श्रेणी भी है जिसमें नियम स्थानीय आधारों पर तय होते हैं और वे प्राय: क्षेत्र विशेष में ही प्रचलित भी होते हैं। इस तीसरे वर्ग में शामिल खेल देश की वृहद परंपरा का हिस्सा हैं। इनमें गुल्ली-डंडा, कबड्डी, खो-खो, किरीप, लामजेई आदि शामिल हैं। इन खेलों में कबड्डी संबंधी नियमों का मानकीकरण करके इसे राष्ट्रीय स्तर के खेल के तौर पर विकसित किया गया और अब इसकी अंतर्राष्ट्रीय पहचान है। इसी तरह खो-खो के मानकीकरण के प्रयास हुये हैं और इसके भी विभिन्न टूर्नामेंट आयोजित हो रहे हैं।

देश के ग्रामीण इलाकों में खेलों की विशद परंपरा है। ये खेल खाली समय [illegible] परिचय इस प्रकार है:

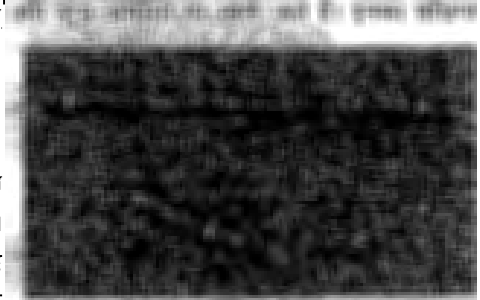

गिल्ली-डंडा

गिल्ली-डंडा

यह खेल खुले मैदान में खेला जाता है। इसमें लकड़ी का तीन से छह इंच का छोटा टुकड़ा गिल्ली कहलाता है और उसके दोनों सिरे नुकीले बनाये जाते हैं। इसका डंडा करीब 12 से 18 इंच लंबा होता है। डंडे से गुल्ली पर एक खिलाड़ी प्रहार करता है और अगर विपरीत दिशा में मौजूद खिलाड़ी उसे हवा में ही पकड़ लेता है तो वह खिलाड़ी आउट माना जायेगा। खिलाड़ी को गिल्ली पर प्रहार करने के लिए तीन अवसर मिलते हैं और सबसे अधिक अंक अर्जित करने वाला खिलाड़ी जीतता है। गिल्ली-डंडा को बांग्ला में डांगुली, कन्नड़ में चिन्नी डंडू, मराठी में विति डंडू कहा जाता है। केरल में ऐसे ही एक खेल को कुट्टीयम कोलुम कहते हैं।

खो-खो

इस खेल का जिक्र महाभारत में आता है तब इस खेल में राजा रथों पर सवार होकर इसे खेलते थे। इसमें दो टीमें भाग लेती हैं और प्रत्येक में 12 खिलाड़ी होते हैं। एक निश्चित दायरे में खिलाड़ी दौड़ लगाता है और दूसरा उसे छूने का प्रयास करता है। जो टीम दूसरी टीम के अधिक खिलाड़ी छू कर आउट कर दे वही टीम विजयी होती है।

पचीसी या चौसर या चौपड़

पचीसी में चार व्यक्ति भाग लेते हैं। इसमें सीपियों की मदद से गोटियों को एक चारखाने में बने छोटे आकारों में उनके अंकों के आधार पर चलाया जाता है। इसका यूरोपीय रूपांतरण लूडो है।

कबड्डी

कबड्डी को पश्चिमी भारत मे हू-तू-तू और दक्षिण भारत में चेडुगुडडु के नाम से जानते हैं। इसमें दो दल भाग लेते हैं और एक दल का खिलाड़ी दूसरे दल के पाले में जाता है और उन्हें छूने का प्रयास करता है। इसी से अंक बनते हैं और ज्यादा अंक हासिल करने वाली टीम जीत जाती है।

Copyright- Drishti The Vision Foundation

अमोल आप और असोल-ताले आप *(Asol Aap and Asol Tale Aap)*

अंडमान और निकोबार में रहने वाली छह जनजातियों में केवल निकोबारी ही ऐसे हैं जिनके अपने रीतिरिवाज और विकसित ...गएँ हैं। इन लोगों के दो मुख्य खेल असोल आप और असोल ताले आप हैं। इसमें असोल आप नौका दौड़ है। यह नौका करीब ... फीट लंबी होती है और उसमें खिलाड़ी चप्पू लेकर बैठते हैं और अपनी ताकत से नौका को खींचते हैं। एक समय में केवल ... टीमें ही भाग लेती हैं। "असोल-ताले आप" दौड़ पानी के बजाए रेत पर होने वाली नौका दौड़ है। इसमें जो खिलाड़ी भाग लेते ... अपनी-अपनी नौका को रेत पर दौड़ाते हैं।

निकोबार में होने वाली परंपरागत कुश्ती को **किरिप** कहा जाता है। इसी तरह **सालदू** भी यहाँ एक प्रकार की कुश्ती का नाम ... जिसमें दो टीमें भाग लेती हैं और दूसरी टीम के खिलाड़ियों को एक घेरे से बाहर निकालने का प्रयास करती हैं।

कीनाग हुआन नामक खेल में खिलाड़ी सुअर के साथ कुश्ती लड़ता है।

धोप खेल

धोपखेल *(Dhopkhel)*

यह असम का लोकप्रिय खेल है। यह वसंत ऋतु में रंगोली बिहू के अवसर ... खेला जाता है। धोप दो प्रकार का होता है। एक को पुरुष खेलते हैं और दूसरे ... महिलाएँ। इसमें एक रबड़ की गेंद का प्रयोग होता है। इसमें 11-11 खिलाड़ियों की एक-एक टीम खुले मैदान में आसमान में उछाली गई गेंद या धोप ... पकड़ने का प्रयास करती हैं।

वल्लमकली

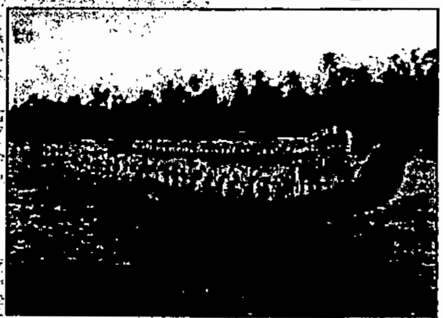

वल्लमकली

यह केरल की प्रसिद्ध सर्पनौका दौड़ है जो ओणम के दिन होती है। इसमें भाग लेने वाले खिलाड़ी अपनी नौका को शेष प्रतिभगियों से आगे निकालने का प्रयास करते हैं और खिलाड़ियों का उत्साह बढ़ाने के लिए ढोल बजाये जाते हैं।

गेल्ला-छूट *(Gella-Chutt)*

यह त्रिपुरा का प्रसिद्ध स्थानीय खेल है। इसमें खिलाड़ियों के दो समूह भाग लेते हैं जिनमें करीब सात से दस खिलाड़ी तक होते हैं।

हियांग तन्नाबा *(Hiyang Tannaba)*

यह मणिपुर की नौका दौड़ संबंधी खेल है जो कि लाई हराओबा उत्सव में खेला जाता है। इसमें दो नौकाओं के बीच दौड़ होती है।

इन्सुकनावर *[Insuknawr (Rod-Pushing)]*

इन्सुकनावर

यह डंडा से विपक्षी खिलाड़ी को धकेलने वाला मिजोरम का लोकप्रिय खेल है। इसमें केवल पुरुष ही भाग लेते हैं। इस खेल को मिजो राष्ट्रीय खेल घोषित किया गया है। इसमें खिलाड़ी आठ फीट लंबे एक डंडे के सिरे पकड़ते हैं और खिलाड़ी करीब 18 फीट व्यास वाले घेरे से दूसरे खिलाड़ी को बाहर निकालने का प्रयास करता है।

कंग शनाबा *(Kang Shanaba)*

यह मणिपुर का लोकप्रिय खेल है जिसे मणिपुर के नये साल और रथ यात्रा के दिन खेला जाता है।

खोंग खांजेई *[Khong Kangjei (Hockey on Foot)]*

यह मणिपुर में खेला जाता है। इसे मुकना खांजेई भी कहते हैं। यह खेल आधुनिक हॉकी की तरह है और इसे नंगे पाँव खेला जाता है।

लामजेई *(Lamjei)*

मणिपुर में होने वाला यह वार्षिक दौड़ बहुत लोकप्रिय है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मल्लखंभ *(Mallakhamb)*

मल्लखंभ

यहाँ मल्ल का आशय शारीरिक बल और खंभ का आशय खंभे से है। मल्लखंभ का उल्लेख 12वीं सदी में चालुक्यकालीन ग्रंथों में मिलता है। पेशवा बाजीराव द्वितीय के गुरु बालमभट्ट दादा देवधर ने इसका प्रचलन दोबारा शुरू किया। इसमें एक जमीन में धंसे खंभे पर चढ़ कर खिलाड़ी कौशल का प्रदर्शन करते हैं। मल्लखंभा के एक अन्य प्रकार में रस्सियों का प्रयोग होता है। इसमें प्रतिभागी रस्सी की सहायता से लटककर विभिन्न योग क्रियाओं का प्रदर्शन करते हैं।

मिजो इंचाई *(Mizo Inchai)*

यह मणिपुर की परंपरागत कुश्ती है।

होले त्सो डुकानाराम *(Hole Taso Dukanaram)*

यह अरुणाचल प्रदेश का खेल है जिसमें जानवरों की नकल उतारी जाती है।

हीनम तुरनाम *(Hinam Turnam)*

अरुणाचल प्रदेश के इस खेल में प्रतिभागी बतौर शिकारी जंगल में शिकार करते हैं।

पोरोक-पामिन सिनम *(Porok-Pamin Sinam)*

अरुणाचल प्रदेश के इस खेल में लंगड़ी टाँग के जरिए दूसरे खिलाड़ी को एक घेरे से बाहर निकालने का प्रयास होता है।

मुकना

यह मणिपुर की परंपरागत कुश्ती है। यह जूडो और कुश्ती का मिलाजुला स्वरूप है।

इनबुआन

यह मिजोरम की परंपरागत कुश्ती है।

थान्गमुंग *(Thwngmung)*

त्रिपुरा में स्थानीय स्तर पर खेले जाने वाली कुश्ती का यह एक प्रकार है।

सागोल खांजेई *[Sagol Kangjei (Polo)]*

मणिपुर में खेला जाने वाला यह खेल आधुनिक पोलो की तरह होता है। इसमें एक खांग यानी गेंद को "सागोल" यानी घोड़े पर सवार होकर दूसरे के खेमे में डाला जाता है।

यूबी-लाकपी *(Yubee-Lakpee)*

यह मणिपुर का खेल है जो कि आधुनिक रग्बी की तरह होता है। इसमें सात खिलाड़ियों की दो टीमें होती हैं और वे एक नारियल को एक-दूसरे से छीनने का प्रयास करती हैं।

ज़ल्लीकट्टू *(Jallikattu)*

तमिलनाडु में पोंगल पर्व पर होने वाले इस खेल में बैल को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है। इसके अन्य नाम मंजू विरट्टू वायेली विरट्टू और मंजू विरट्टू हैं।

पोथू पोट्टू मटसारम

केरल में होने वाली बैल दौड़ को पोथू पोट्टू मटसारम कहते हैं।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-8

प्रमुख भारतीय भाषाएँ *(Prominent Indian Languages)*

भाषा मन के भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। इसके माध्यम से मानव स्वयं के मनोभावों एवं विचारों को दूसरे के सामने अभिव्यक्त कर सकता है। वह आन्तरिक अनुभूति जो संचार की शैली को सीखने एवं व्यवहार में लाने में सक्षम बनाती है, भाषा कहलाती है। शुरूआत में आदि मानव अपने मनोभावों को अपने शारीरिक अंगों द्वारा संकेतों के माध्यम से व्यक्त करता था, लेकिन धीरे-धीरे मानव मस्तिष्क एवं उसके अनेक भागों के विकसित होने से मानव में भाषा का ज्ञान एवं विकास सम्भव हुआ।

भाषा-परिवार *(Language Family)*

दुनिया भर में बोली जाने वाली करीब सात हजार भाषाओं को करीब दस परिवारों में विभाजित किया गया है। इनके नाम हिन्द यूरोपीय (Indo-European), चीनी तिब्बती (Sino-Tibetan), नाइजर-कांगो (Nizer-Congo), एफ्रोएशियाटिक (Afroasiatic), ऑस्ट्रोएशियन (Austroasian), द्रविड़ भाषाएँ (Dravidian), आल्टिक भाषाएँ (Altic), जैपोनिक (Japonic), आस्ट्रोएशियाटिक (Austroasiatic) और ताई-कड़ाई (Tai-Kadai) हैं। इनमें से हिन्द-यूरोपीय, द्रविड़ भाषा और ऑस्ट्रोएशियाटिक भाषा परिवारों की विभिन्न भाषाएँ भारत में प्रयुक्त होती हैं। इन तीनों के अलावा भारत में अंडमानी भाषा परिवार भी स्वीकृत किया गया है। इनमें हिन्द-यूरोपीय भाषा परिवार (Indo-European Family) समूह भाषाओं का सबसे बड़ा परिवार है। इसमें अंग्रेजी, रूसी, प्राचीन फारसी, हिन्दी, पंजाबी, जर्मन, संस्कृत, ग्रीक और लैटिन आदि भाषाएँ रखी गयी हैं। इसी समूह को आर्य परिवार भी कहा जाता है।

> पूरी दुनिया की भाषाओं के अध्ययन के बाद कुछ वैज्ञानिक आधार तय किये गये जिसके अनुसार इस समय संसार की भाषाओं की तीन अवस्थाएँ हैं। विभिन्न देशों की प्राचीन भाषाएँ जिनका अध्ययन और वर्गीकरण पर्याप्त सामग्री के अभाव में नहीं हो सका है उन्हें पहली अवस्था में रखा गया है। इनका अस्तित्व प्राचीन शिलालेखों, सिक्कों और हस्तलिखित पुस्तकों में सुरक्षित है। मेसोपोटेमिया की पुरानी भाषा 'सुमेरीय' तथा इटली की प्राचीन भाषा 'एत्रस्कन' को इस वर्ग में रखा गया है। दूसरी अवस्था में ऐसी आधुनिक भाषाएँ हैं, जिनकी सामग्री तो पर्याप्त है लेकिन उन पर उचित शोध नहीं हुआ है। बास्क, बुशमैन, जापानी, कोरियाई, अंडमानी आदि भाषाएँ इसी अवस्था में हैं। तीसरी अवस्था की भाषाओं में सामग्री की प्रचुरता, अध्ययन एवं वर्गीकरण हो चुका है। इसमें ग्रीक, अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेज़ी आदि अनेक विकसित एवं समृद्ध भाषाएँ रखी गयी हैं।

हिन्द यूरोपीय भाषा परिवार की 439 भाषाओं को पुन: दस वर्गों में बाँटा गया है। इन्हीं दस वर्गों में एक वर्ग 'हिन्द-ईरानी' (Indo-Iranian) का है। इस हिन्द-ईरानी वर्ग के तीन उपविभाजन किये गये हैं, हिन्द-आर्य या इण्डिक (Indo-Aryan or Indic), ईरानी (Iranian) और नूरिस्तानी (Nuristani)। हिन्द-आर्य उपवर्ग में हिन्दी, पंजाबी, मराठी आदि भाषाएँ रखी गयी हैं। ईरानी उपवर्ग में फारसी, पश्तो, कुर्दिश, बलूची आदि भाषाएँ आती हैं जबकि नूरिस्तानी में अफगानिस्तान क्षेत्र की अस्कुनु, वसी-वारी, तरीगामी आदि भाषाएँ रखी गयी हैं।

भारत की दो तिहाई से अधिक आबादी हिन्द-आर्य भाषा परिवार की कोई न कोई भाषा विभिन्न स्तरों पर प्रयोग करती है। इनमें संस्कृत समेत मुख्यत: उत्तर भारत में बोली जाने वाली अन्य भाषायें जैसे हिन्दी, उर्दू, मराठी, नेपाली, बांग्ला, गुजराती, कश्मीरी, डोगरी, पंजाबी, उड़िया, असमिया, मैथिली, भोजपुरी, मारवाड़ी, गढ़वाली, कोंकणी इत्यादि शामिल हैं।

हिन्द-आर्य या इण्डिक (Indo-Aryan or Indic) उपवर्ग की भाषाओं का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। इनमें एक वर्गीकरण में हिन्द-आर्य परिवार की भाषा को आठ विभागों में रखा गया है। पहले विभाग का नाम केंद्रीय क्षेत्र (Central Zone) है जिनमें पश्चिमी हिंदी (ब्रज, खड़ी बोली, कन्नौजी, बुंदेली आदि) और पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी आदि) को रखा गया है। दूसरे विभाग में दर्दिक (Dardic) रखी गयी है इसकी मुख्य भाषाएँ पशाई (Pashayi), कोहवर (Khowar), शिना (Shina) और कश्मीरी (Kashmiri) आदि हैं। तीसरे विभाग यानी उत्तरी क्षेत्र (Northern Zone) में केंद्रीय पहाड़ी (Central Pahari) और पूर्वी पहाड़ी (Eastern Pahari) भाषाएँ रखी गयी हैं। केंद्रीय पहाड़ी में गढ़वाली (Garhwali) और कुमाऊँनी (Kumauni) और पूर्वी पहाड़ी में नेपाली (Nepali) आदि भाषाओं को रखा गया है। चौथा विभाग उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र (North-Western Zone) है। इसमें डोगरी (Dogri), कांगड़ी (Kangri), पंजाबी, लहंदा (पश्चिमी पंजाब), सिंधी (Sindhi) भाषाएँ आती हैं। पश्चिमी क्षेत्र (Western Zone) में राजस्थानी (मारवाड़ी, ढूंढाड़ीणी आदि), गुजराती (गुजराती, सौराष्ट्री, आदि), भील (भीली, गामित), खानदेशी (Khandeshi), दोमारी (Domari), रोमनी (Romani) आदि भाषाओं को रखा गया है। पूर्वी क्षेत्र (Eastern Zone) में बिहारी

Copyright– Drishti The Vision Foundation

भोजपुरी, कैरेबियन हिन्दुस्तानी यानी सूरीनाम आदि देशों की भाषा, मैथिली, मगही आदि), बांग्ला (Bengali), असमी (Assamese), ओड़िया (Oriya) और थारू (Tharu) को रखा गया है। दक्षिण क्षेत्र (Southern Zone) में मराठी, कोंकणी तथा द्वीपीय क्षेत्र (Insular Indic) में सिंहली (Sinhalese) और मालदीवीय (Maldivian) को रखा गया है।

द्रविड़ भाषा परिवार भारत का दूसरा सबसे बड़ा भाषायी परिवार है। इस परिवार की सदस्य भाषायें ज्यादातर दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। इस परिवार का सबसे बड़ा सदस्य तमिलनाडु में बोली जाने वाली तमिल भाषा है। इसी तरह कर्नाटक में कन्नड़ एवं दक्षिण कर्नाटक में तुलु, केरल में मलयालम और आंध्र प्रदेश में तेलुगु इस परिवार की बड़ी भाषायें हैं। इनके अलावा इस वर्ग में ब्राहुई भाषाओं को रखा गया है। अफगानिस्तान, पाकिस्तान और भारतीय कश्मीर के सीमावर्ती क्षेत्रों में ब्राहुई भाषा भी बोली जाती है जिस पर बलूची और पश्तो जैसी भाषाओं का असर देखने को मिलता है।

एस्ट्रो एशियाटिक भाषा परिवार अपेक्षाकृत नया विभाजन है। इसलिए इसके उपविभाजन को लेकर विद्वानों में मतभेद है। एस्ट्रो एशियाटिक का शाब्दिक अर्थ दक्षिण एशियाई भाषा परिवार से है। इस परिवार को कुछ विद्वानों ने मोन-खमेर (Mon-Khmer) भी कहा है जबकि कुछ ने मोन-खमेर को इसका एक उपवर्ग माना है। गेरार्ड डिफलोथ (Gerard Diffloth) ने 2005 में इस भाषा वर्ग का नया विभाजन प्रस्तुत करते हुए इसे तीन भागों मुंडा, खासी-ख्यूमिक और मोन-खमेर में बाँटा। मुंडा भाषा वर्ग में उन्होंने छोटा नागपुर पहाड़ी क्षेत्र की भाषाओं संथाली, कुरूकु, खरियांव आदि को रखा। खासी-ख्यूमिक भाषा वर्ग में उन्होंने मेघालय की खासी और ख्यूमिक आदि भाषाओं को तथा मोन-खमेर में उन्होंने निकोबारी (Nicobarese) आदि को रखा।

चीनी-तिब्बती भाषा परिवार में चीन, तिब्बत और बर्मा की भाषाएँ शामिल हैं। भारत के मुख्यत: पूर्वोत्तर क्षेत्र पर तिब्बती और बर्मा की भाषाओं का प्रभाव ज्यादा रहा है। इन्हें 'नाग परिवार' की भाषाएँ भी कहा गया है। इस तरह से देश के पूर्वी अंचल तथा हिमालय की उपत्यकाओं में या कहें कि उसके पाद प्रदेश में नाग परिवार की अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इसे एकाक्षर परिवार भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि इसके मूल शब्द प्राय: एकाक्षर होते हैं। इस परिवार की प्रधान भाषा चीनी है। यद्यपि भारतीय नाग भाषाओं का नजदीकी संबंध तिब्बती और बर्मी भाषाओं से है। इनमें मणिपुरी, कुकी, बोडो, नागालैण्ड की भाषाओं आदि को रखा गया है।

अंडमानी भाषा परिवार नवीनतम विभाजन है। इसके दो उपविभाजन किये गये हैं—ग्रेट अंडमानी (Great Andamanese) और ओंगें (Ongan) भाषा समूह। इसमें ग्रेट अंडमानी का उपयोग अका-जेरू (Aka-Jeru) समुदाय के लोग करते हैं। इसके अलावा इस भाषा वर्ग में सेंटेलीस (Sentinelese) को भी रखा गया है। ये तीनों भाषाएँ आपस में निकटतापूर्ण संबंध रखती हैं।

इन पाँच वर्गों की भाषाओं के अलावा भारत में 'निहाली या नहली' (Nihali or Nahali) भाषा को एक अलग समूह 'विलग भाषा' (Language Isolate) में रखा गया है। विलग भाषा का तात्पर्य ऐसी भाषा से है जो अन्य प्रचलित भाषाओं के वंश से किसी प्रकार का संबंध नहीं दर्शाती है। निहाली भाषा महाराष्ट्र के जलगांव और मध्यप्रदेश के सीमावर्ती आदिवासियों के एक समूह द्वारा प्रयुक्त की जाती है। इसके अतिरिक्त गुजरात के कुछ क्षेत्रों में 'सीदी' (Sidi) भाषा भी प्रयोग में लायी जाती है। सीदी भाषा का संबंध बंतू (Bantu) भाषा से है जो कि अफ्रीकी देशों की भाषा का एक उपवर्ग है।

देश में 74 प्रतिशत लोग हिन्द-यूरोपीय भाषा का प्रयोग करते हैं। जबकि 24 प्रतिशत लोग द्रविड़ भाषा का, 1.2 प्रतिशत आस्ट्रो एशियाटिक और 0.6 प्रतिशत लोग तिब्बती-बर्मी वर्ग समूह की भाषाओं का प्रयोग करते हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

विश्व के भाषा परिवार (Language Family of the World)

- द्रविड़ भाषाएं (Dravidian)
- चीनी-तिब्बती (Sino-Tibetan)
- नाइजर-कांगो (Nizer-Congo)
- एफ्रोएशियाटिक (Afroasiatic)
- आस्ट्रोएशियन (Austroasian)
- हिन्द-यूरोपीय (Indo-European)
  - सेल्टिक (Celtic)
  - अल्बानियन (Albanian)
  - अनातोलियन (Anatolian)
  - बाल्टो-स्लेविक (Balto-Slavic)
  - तोचारियन (Tocharian)
  - हिन्द-ईरानी (Indo-Iranian)
    - ईरानी (Iranian)
    - हिन्द-आर्य (Indo-Aryan)
      - केंद्रीय क्षेत्र (Central Zone)
        - पश्चिमी (ब्रज, खड़ी बोली, कन्नौजी, बुंदेली आदि)
        - पूर्वी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी आदि)
      - दर्दिक (Dardic) (पशाई, कोहबर, शिना, कोहिस्तानी, कश्मीरी आदि)
      - उत्तरी क्षेत्र (Northern Zone)
        - पूर्वी पहाड़ी (नेपाली आदि)
        - केन्द्रीय पहाड़ी (गढ़वाली, कुमाऊँनी आदि)
      - उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र (North-Western Zone) (डोगरी, कांगड़ी, पंजाबी, सिंधी आदि)
      - पश्चिमी क्षेत्र (Western Zone) (राजस्थानी, गुजराती, भीली आदि)
      - पूर्वी क्षेत्र (Eastern Zone) (बिहारी, बांग्ला, असमिया आदि)
      - दक्षिण क्षेत्र (Southern Zone) (मराठी, कोंकणी आदि)
      - द्वीपीय क्षेत्र (Peninsular Indic) (सिंहली, मालदीवी आदि)
    - नूरिस्तानी (Nuristani)
  - जरमोनिक (Germonic)
  - हेलेनिक (ग्रीक) [Hellenic (Greek)]
  - इटालिक (Italic)
  - आर्मेनियन (Armenian)
- आल्टिक भाषाएं (Altic)
- जैपोनिक (Japonic)
- आस्ट्रोएशियाटिक (Austroasiatic)
- ताई-कड़ाई (Tai-Kadai)

Copyright– Drishti The Vision Foundation

द्रविड़ भाषा परिवार (*Dravidian Language Family*)

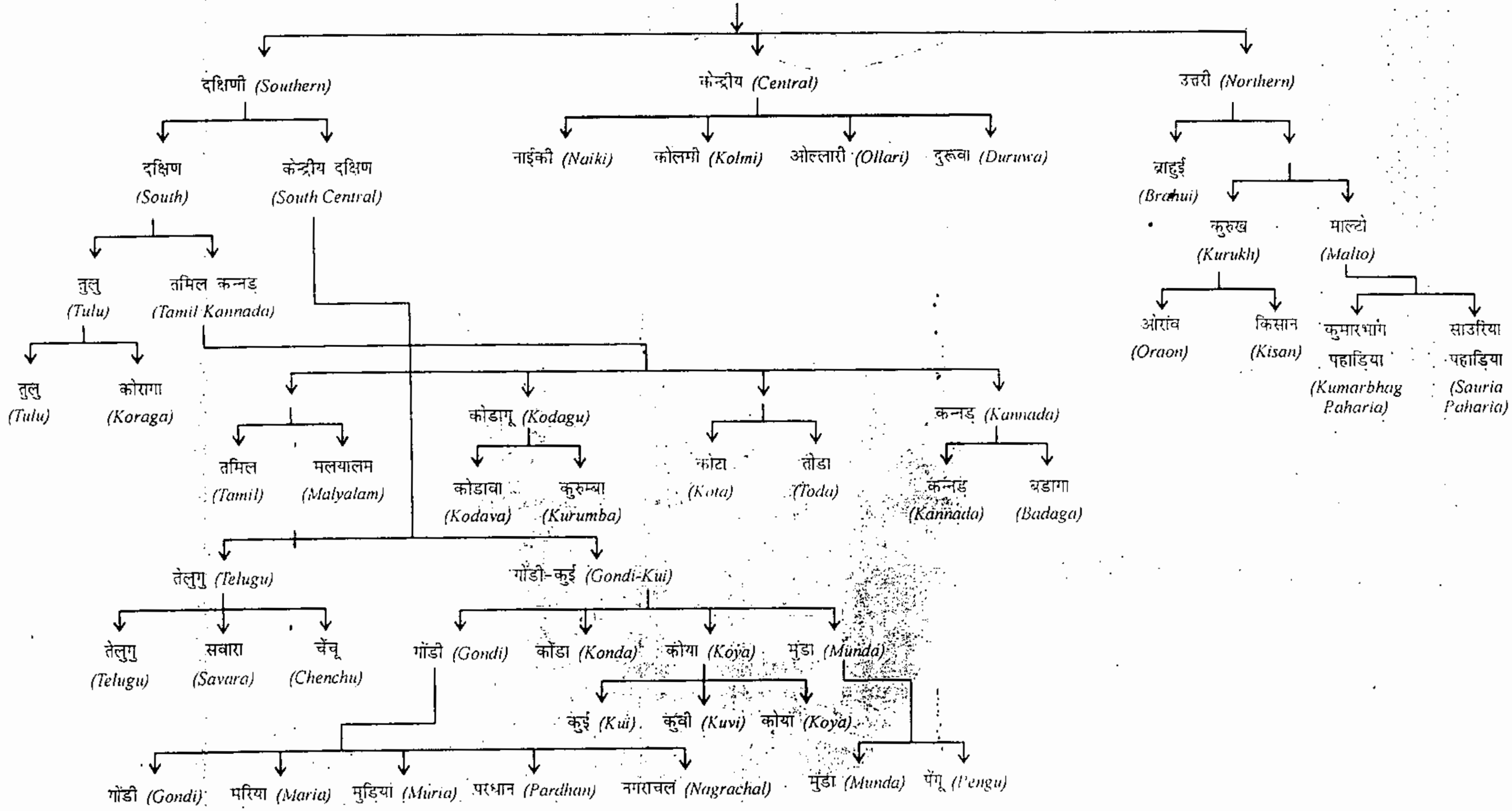

Copyright– Drishti The Vision Foundation

भारतीय भाषाओं का विकास क्रम

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास क्रम को सामान्यत: तीन काल खंडों प्राचीन भारतीय आर्यभाषा, मध्यकालीन आर्यभाषा और आधुनिक आर्यभाषा में विभाजित किया जाता है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल

इस काल का समय 2000 ईसापूर्व से 500 ईसापूर्व तक का माना जाता है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल में संस्कृत के दो रूप मिलते हैं–वैदिक और लौकिक। वैदिक संस्कृत का सर्वोत्तम स्वरूप ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा के धीरे-धीरे परिवर्तित होने और उसमें जनभाषा के लक्षण निरंतर आते रहने के परिणामस्वरूप लौकिक संस्कृत का जन्म हुआ। इस भाषा के रूप को स्थिर करने के लिए पाणिनि ने आगे चलकर 'अष्टाध्यायी' (500 ई. पू.) की रचना की। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं और प्रत्येक पाद में 38 से 220 तक सूत्र हैं। इस प्रकार अष्टाध्यायी में आठ अध्याय, बत्तीस पाद और सब मिलाकर लगभग 3155 सूत्र हैं। अष्टाध्यायी पर महामुनि कात्यायन ने विस्तृत वार्तिक ग्रन्थ लिखा। पाणिनी के सूत्रों एवं कात्यायन के वार्तिकों पर पतंजलि ने विवरणात्मक ग्रन्थ महाभाष्य लिखा। सूत्र, वार्तिक एवं महाभाष्य तीनों सम्मिलित रूप में 'पाणिनीय व्याकरण' कहलाते हैं और सूत्रकार पाणिनी, वार्तिककार कात्यायन एवं भाष्यकार पतंजलि, तीनों व्याकरण के 'त्रिमुनि' कहलाते हैं। महाभाष्य में अष्टाध्यायी को ''सर्ववेद-परिषद-शास्त्र'' कहा गया है। इसका आशय यह है कि अष्टाध्यायी का संबंध किसी वेद विशेष तक सीमित न होकर सभी वैदिक संहिताओं से है और पहले से चले आ रहे अभिमतों का पाणिनी ने समादर किया था। अष्टाध्यायी में अनेक पूर्वाचार्यों के मतों और सूत्रों का प्रयोग किया गया है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-काल

इस काल का समय 500 ई. पू. से 1000 ई. तक माना गया है। हम मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के विकास क्रम को मुख्यत: तीन भागों पालि युग, प्राकृत युग और अपभ्रंश एवं अवहट्ट युग में देख सकते हैं।

पालि युग का समय 500 ई. पू. से ईस्वी सन् की शुरूआत तक का माना जाता है। सामान्यतया विद्वानों की मान्यता है कि पालि का उद्गम मगध के क्षेत्र से होकर मथुरा और उज्जैन के बीच के क्षेत्र में हुआ होगा। आगे चलकर इसकी व्यापक स्वीकार्यता हुई। बौद्ध धर्म का प्राचीन साहित्य पालि भाषा में ही उपलब्ध है। बौद्ध धर्म के त्रिपिटक, अशोक के कुछ अभिलेख और अन्य साहित्य पालि में उपलब्ध हैं। पालि में संस्कृत की तरह नपुंसक लिंग और द्विवचन का प्रयोग नहीं होता इसलिए यह संस्कृत से ज्यादा सरल है।

मध्यकालीन आर्य भाषा के विकास की दूसरी अवस्था को प्राकृत नाम से व्यक्त किया जाता है। इसका युग ईस्वी सन् की शुरूआत से 500 ईस्वी तक का माना जाता है। प्राकृत के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण विवाद यह है कि यह संस्कृत से विकृत होकर बनी है या इसकी ही विकसित एवं संस्कारित अवस्था को संस्कृत कहा गया है। कुछ विद्वान जैसे हेमचंद्र, मार्कण्डेय आदि का मानना है कि संस्कृत देववाणी है और प्राकृत उसी से विकसित हुई है। जबकि पिशल जैसे विद्वानों का मानना है कि प्राकृत जनबोलियों और जनभाषाओं से निर्मित भाषा है और इसी का अभिजात रूप संस्कृत बनकर विकसित हुआ है। प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य मूल रूप से मागधी और अर्ध-मागधी प्राकृत में ही रचे गये हैं। इनके अलावा प्राकृत में सेतुबंध, गौडवहो जैसे महाकाव्य और गाहासतसई (गाथासप्तशती) और वज्जालग्ग जैसे खंडकाव्य भी रचे गये। आगे चलकर प्राकृत के पाँच भेद पैशाची, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी एवं शौरसेनी प्राकृत विकसित हुये। इनमें पैशाची प्राकृत जिसे भूतभाषा भी कहा जाता है, का विस्तार क्षेत्र अफगानिस्तान, पंजाब में था। महाराष्ट्रीय प्राकृत का संबंध उत्तर भारत की प्राकृत से है। प्राकृत का अस्सी प्रतिशत ललित साहित्य इसी भाषा में मिलता है। शौरसेनी प्राकृत मथुरा के आसपास की भाषा रही है। शौरसेनी प्राकृत से ही आगे चलकर ब्रजभाषा, कौरवी, हरियाणवी आदि का विकास हुआ है। मागधी प्राकृत बिहारी हिन्दी के विकास की पृष्ठभूमि है तो अर्धमागधी प्राकृत से पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है।

मध्यकालीन आर्य भाषा के विकास की तीसरी अवस्था को 'अपभ्रंश तथा अवहट्ट' या अपभ्रंश युग नाम से व्यक्त किया जाता है। इसका युग 500 ईस्वी से 1100 ईस्वी तक का माना जाता है। अपभ्रंश का अर्थ है 'दूषित' अर्थात जो शुद्ध न हो। यह भाषा ही आधुनिक हिंदी भाषा के मूल में है। अपभ्रंश के भेदों के बारे में विद्वानों में मतभेद है। एक मत के अनुसार अपभ्रंश के तीन भेद नागर अपभ्रंश (गुजरात), उपनागर अपभ्रंश (राजस्थान) और व्राचड अपभ्रंश (सिंध) हैं। एक विचार यह है कि प्रत्येक प्राकृत की एक अपभ्रंश रही होगी जैसे शौरसेनी प्राकृत की शौरसेनी अपभ्रंश। उस समय की बौद्ध, रासो तथा विशेषकर जैन साहित्य की रचनाओं में अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है। इनमें महापुराण, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, जिनदत्त कहा; पाहुड दोहा आदि प्रमुख हैं। कालिदास के नाटकों में कमजोर स्थिति वाले पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। अवहट्ट की शुरूआत नौवीं से 11वीं सदी तक मानी जाती है। संदेश रासक और कीर्तिलता अवहट्ट के दो प्रमुख ग्रंथ हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

आधुनिक आर्य भाषाएँ

1100 ईसवी के आसपास पहली बार हिन्दी और उसकी बोलियाँ जैसे अवधी, ब्रज आदि स्वतंत्र रूप से प्रकट होने लगी थीं। इसी समय हिन्दी, बांग्ला, ओडिया, मराठी, पंजाबी और सिंधी आदि बोलियों का विकास होने लगा था। इस काल को कुछ विद्वान पुरानी हिन्दी काल तथा कुछ विद्वान उत्तरकालीन अपभ्रंश काल मानते हैं। नयी विकसित हुई बोलियों को राजस्थानी हिन्दी, बिहारी हिन्दी, पहाड़ी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी में बाँटा गया है। राजस्थानी हिन्दी में मारवाड़ी, मालवी, मेवाती, ढूंढाड़ी‌णी को, बिहारी हिन्दी में भोजपुरी, मगही और मैथिली को, पहाड़ी हिन्दी में कुमाऊँनी, गढ़वाली को, पश्चिमी हिन्दी में ब्रजभाषा, खड़ी बोली (कौरवी), हरियाणवी, कन्नौजी, बुंदेली और दक्खिनी को, पूर्वी हिन्दी में अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी को रखा जा सकता है।

भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल भाषाएँ:

भारत में वर्तमान में अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं, परन्तु भारतीय संविधान ने आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं को मान्यता प्रदान की है। ये भाषाएँ हैं-

1. असमिया	2. बांग्ला	3. गुजराती	4. हिन्दी	5. कन्नड़	6. कश्मीरी
7. मलयालम	8. मराठी	9. ओड़िया	10. पंजाबी	11. संस्कृत	12. तमिल
13. तेलुगु	14. उर्दू	15. सिन्धी	16. नेपाली	17. मणिपुरी	18. कोंकणी
19. बोडो	20. मैथिली	21. डोगरी	22. संथाली		

इन भाषाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

असमिया *(Assamese)*

इस भारतीय आर्य भाषा का उद्भव मागधी प्राकृत से माना जाता है। सातवीं शताब्दी के अन्त में यह एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित हुई। असमिया भाषा पर तिब्बती तथा बर्मन भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। इस भाषा में असम के मूल निवासियों की भाषा अहोम, खासी, बोडो तथा संथाली के कई शब्द समाहित हो गए हैं। इन्हें भूटान एवं बांग्लादेश में कहीं-कहीं बोला जाता है। असमिया भाषा के पहले स्रोत के रूप में बौद्ध गीतों 'चर्यापद' को माना गया है। चर्यापदों को 'बुद्धोगान-ओ-दोहा' भी कहा गया है। ये दोहे लोकगीत, आचार-विचार और नीति को लेकर कहे गये हैं।

इस काल की उपलब्ध सामग्री के आधार पर हेम सरस्वती और हरिहर विप्र असमिया के प्रारंभिक कवि माने जा सकते हैं। हेम सरस्वती का 'प्रह्लादचरित्र' असमिया का प्रथम लिखित ग्रंथ माना जाता है। इस युग में प्रसिद्ध कवि कविरत्न सरस्वती भी थे, जिन्होंने 'जयद्रथ वध' लिखा। इस काल के सबसे प्रसिद्ध कवि माधव कंदली हुए, जिन्होंने रामायण के अनुवाद 'कोथा रामायण' से विशेष ख्याति प्राप्त की। उनके बाद महान भक्त कवि और धर्मसुधारक शंकरदेव (1449-1568 ई.) का योगदान सबसे अधिक माना गया है। भागवतपुराण पर आधारित उनकी रचनाओं में "कीर्तनघोष" सर्वोत्कृष्ट कृति है। असमिया साहित्य के प्रसिद्ध नाट्यरूप "अंकिया नाट्य" के प्रारंभकर्ता भी शंकरदेव ही हैं। उनके नाटकों में गद्य और पद्य का मिश्रण और मैथिली भाषा का प्रभाव है। इसके बाद इतिहास ग्रंथों यानी बुरंजियों के लेखन की परंपरा की शुरूआत हुई। इन बुरंजियों के कारण असम के मध्ययुग का काफी व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध है। आधुनिक असमिया साहित्य के शुरूआती दौर में आनंदराम टेकियाल फुकन का नाम सबसे महत्त्वपूर्ण है। असमिया साहित्य का मूल रूप प्रमुखत: तीन लेखकों द्वारा निर्मित हुआ। ये लेखक थे चंद्रकुमार अग्रवाल (1858-1938), लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (1858-1938) तथा हेमचंद्र गोस्वामी (1872-1928)। कलकत्ता में रहकर अध्ययन करते समय इन तीन मित्रों ने 1889 में "जोनाकी" (जुगनू) नामक मासिक पत्र की स्थापना की। इस पत्र ने असमिया साहित्य एवं भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। समकालीन लेखकों एवं लेखिकाओं में अरूपा कालिता पतंगिया, मोनीकुंतला भट्टाचार्य, मौसुमी कोंडोली, मोनालिसा सैकिया और अमृतज्योति महंत के नाम अग्रणी लोगों में शामिल है।

ओड़िया *(Oria)*

ओडिया भाषा के आदियुग में 'बुद्धोगान-ओ-दोहा', गोरखनाथ के 'सप्तांगयोगधारणम' आदि ग्रंथों को रखा गया है। इस भाषा का प्रादुर्भाव सरलादास से होता है। सरलादास ही ओड़िया भाषा के प्रथम जातीय कवि और ओड़िया साहित्य के आदिकाल के प्रतिनिधि हैं। उनकी तीन कृतियाँ "विलंका रामायण", महाभारत और चंडीपुराण को अपार लोकप्रियता मिली। आधुनिक युग की ओड़िया भाषा पर अंग्रेजी, फारसी और हिन्दी का प्रभाव दिखता है। इस काल के प्रधान कवि राधानाथ राय हैं। इनके लिखे पार्वती, नंदिकेश्वरी, ययातिकेशरी आदि ऐतिहासिक काव्य हैं। इन्होंने मेघदूत, वेणीसंहार और तुलसी पद्यावली का अनुवाद भी किया था। आधुनिक युग को कुछ लोग राधानाथ युग भी कहते हैं। ओड़िया के उपन्यास सम्राट फकीर मोहन सेनापति हैं। सेनापति ने लछमा,

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मामु, छमाण आठगुंठ आदि उपन्यास तथा गल्पस्वल्प उत्कलभ्रमण, पुष्पमाला आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उन्होंने छांदोग्य उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि का पद्यानुवाद भी किया है। सुप्रसिद्ध लेखक सच्चिदानंद राउत राय की पल्लीचित्र पांडुलिपि ने भी पर्याप्त ख्याति अर्जित की। आधुनिक समय में उपन्यासकार गोपीनाथ महांति, कान्हुचरण महांति, नित्यानंद महापात्र, कवि राधामोहन गडनायक, क्षुद्रगाल्पिक, गोदावरीश महापात्र आदि हैं।

कश्मीरी *(Kashmiri)*

कश्मीरी भाषा की उत्पत्ति और भाषाशास्त्रीय निकटता लम्बे समय से विवाद का विषय रही है। कश्मीरी भाषा उत्तर में दार्दी परिवार की भाषा शिना, पूर्व में तिब्बती-बर्मी भाषा बाल्टी, पश्चिम में पंजाबी बोलियों और दक्षिण में डोगरी और पहाड़ी बोलियों से घिरी हुई है। भाषा में भिन्नता के आधार पर कश्मीरी भाषा तीन प्रमुख समूहों मराज (दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र), काम्राज (उत्तरी और पश्चिमोत्तर क्षेत्र) और श्रीनगर एवं इसके आसपास में बोली जाने वाली भाषा को दर्शाती है। घाटी के बाहर बोली जाने वाली एकमात्र बोली कश्तवारी (या किश्तवारी) है, जो किश्तवार में बोली जाती है। अन्य क्षेत्रीय बोलियों पर कश्मीरी भाषा का सिर्फ आंशिक प्रभाव ही पड़ा है। इनमें पाकिस्तान की पोगल घाटी में बोली जाने वाली पोगुली, चिनाब नदी के तट पर स्थित डोडा शहर में बोली जाने वाली शिराजी बोली और जम्मू व श्रीनगर के बीच छोटे क्षेत्र में बोली जाने वाली रामबानी प्रमुख हैं। 15वीं सदी तक कश्मीरी भाषा केवल शारदा लिपि में लिखी जाती थी। लेकिन आगे चलकर फारसी लिपि का प्रचलन बढ़ गया। बंगाल के सिरामपुर में बाइबल का सर्वप्रथम कश्मीरी अनुवाद शारदा ही में छपा था।

इस भाषा के शुरूआती युग में शैव दर्शन, तसव्वुफ, सहजोपासना, सदाचार, अध्यात्मसाधना, पाखंड प्रतिरोध तथा आडंबरत्याग का प्रतिपादन और प्रवचनों की कृतियाँ मिलती हैं। जिनमें शितिकंठ का महानयप्रकाश सर्वाधिक लोकप्रिय है। सुल्तान जैन-उल-आबिदीन (बडशाह) (1420-70 ई.) के प्रोत्साहन से कुछ चरितकाव्य लिखे गए और संगीतात्मक कृतियों की रचना भी हुई। सुल्तान हसनशाह के दरबारी कवि गणक प्रशस्त का सुख-दुःखचरित ही इस काल का पूर्ण ग्रंथ माना जाता है। इसके बाद अनेक सूफियाना कलाम लिखे गये। आधुनिक युग में महजूर आजाद आरिफ, नादिम, रोशन, राही, कामी, अलमस्त फिराक, चमन, बेकस, आजिम, कुंदन, साकी फाजिल, अंबारदार और फानी, प्रसिद्ध हुये कहानीकारों में अख्तर मुहीउद्दीन, अमीन कामिल, सोमनाथ जुत्शी, अली मुहम्मद लोन, दीपक काल, अवतारकृष्ण रहबर, सूफी गुलाम मुहम्मद, हृदय कौल भारती, उमेश कौल और बनसी निर्दोष तो उपन्यासकारों में अख्तर, लोन और कामिल ने लोकप्रियता हासिल की।

कन्नड़ *(Kannada)*

यह मुख्य रूप से कर्नाटक राज्य में बोली जानेवाली भाषा है। यह कर्नाटक की राजभाषा और भारत की 22 आधिकारिक भाषाओं में से एक है। यह भाषा द्रविड़ भाषा-परिवार वर्ग में आती है पर इसमें संस्कृत से भी बहुत शब्द हैं। कन्नड़ भाषा इस्तेमाल करने वाले इसे 'सिरिगन्नड' बोलते हैं। कन्नड़ भाषा लगभग 2500 साल से उपयोग में है। कन्नड़ लिपि लगभग 1900 साल से उपयोग में हैं। राज्य में प्रचलित एक अन्य बोली 'तुलु' कन्नड़ की ही एक बोली है जो दक्षिण कन्नड़ जिले में बोली जाती है। तुलु के अतिरिक्त कन्नड़ की अन्य बोलियाँ हैं- कोडगु, तोड, कोट तथा बडग। कोडगु कुर्ग में बोली जाती है और बाकी तीनों बोलियों का नीलगिरि जिले में प्रचलन है।

प्रारंभिक कन्नड़ का लिखित रूप शिलालेखों में मिलता है जिनमें हलेबिड नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख (450 ई) सबसे प्राचीन है। सातवीं शताब्दी में लिखे गए शिलालेखों में बादामी और श्रवणबेलगोला के शिलालेख महत्त्वपूर्ण हैं। कन्नड़ के उपलब्ध सर्वप्रथम ग्रंथ का नाम "कविराजमार्ग" है। इसके रचयिता मान्यखेत के राष्ट्रकूट चक्रवर्ती नृपतुंग या उनके दरबारी कवि श्रीविजय के होने पर विवाद है। कन्नड़ साहित्य के इतिहास में पंपा का काल महत्त्वपूर्ण है। इनके काल को स्वर्णयुग और जैन युग भी कहा गया है। इस युग के तीन प्रसिद्ध कवि थे- पंप, पोन्न तथा रन्न जो "रत्नत्रयी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। आदिकवि पंप ने दो काव्य रचे- आदिपुराण और विक्रमार्जुनविजय अथवा पंपभारत। बारहवीं सदी के उत्तरार्ध से 15वीं शताब्दी तक का काल बसव युग या क्रांतियुग कहलाता है। इस समय कर्नाटक में धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जो क्रांति से अछूता रह सका हो। इस क्रांति के उन्नायक बसव या बसवेश्वर थे। उन्होंने भक्ति का उपदेश दिया और वैदिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा, जाति आधारित भेदभाव, अवतारवाद, अंधश्रद्धा की आलोचना की। 15वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के अंत तक का काल कुमारव्यास युग कहलाता है। इस अवधि में विजयनगर के सम्राटों तथा मैसूर के राजाओं ने कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि में विशेष हाथ बँटाया। आगे चलकर नरहरि अथवा कुमारवाल्मीकि नामक कवि ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर कन्नड़ में "तोरवैरामायण" की रचना की। आधुनिक कन्नड़ साहित्यकारों में बीजीएल स्वामी, एम वी सीतारमैया, एम एन मूर्ति राव, गोविंद पई, जीबी जोशी, के एस नरसिम्हास्वामी, टी एस वैंकेया, श्रीरंगा, अनुपमा निरंजन, गिरीश कर्नाड, शिवराम कारंत, यू आर अनंतमूर्ति आदि प्रमुख हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

कोंकणी *(Konkani)*

यह गोवा, महाराष्ट्र के दक्षिणी भाग, कर्नाटक के उत्तरी भाग, केरल के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती है और मराठी से इसका काफी निकट का संबंध है। कोंकणी अनेक लिपियों में लिखी जाती रही है; जैसे- देवनागरी, कन्नड, मलयालम और रोमन। गोवा को राज्य का दर्जा मिलने के बाद देवनागरी लिपि में कोंकणी को राज्य की राजभाषा घोषित किया गया है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारकों के चलते इस भाषा के तीन रूप विकसित हुये हैं। इनमें एक मराठीभाषी क्षेत्र से संलग्न मालवण-रत्नगिरि क्षेत्र की भाषा, दूसरा मंगलूर से संलग्न दक्षिण कोंकणी क्षेत्र की भाषा जिसका कन्नड से संपर्क है तथा तीसरी मध्य कोंकण अथवा गोमांतक (गोवा) कारवाड़ में प्रचलित भाषा है। कोंकणी को गोमांतकी के नाम से भी जाना जाता है।

सत्रहवीं सदी से पूर्व इस भाषा का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है। इस भाषा के साहित्यिक प्रयोग का श्रेय ईसाई मिशनरियों को है। पादरी स्टीफेंस की पुस्तक दौत्रीन क्रिश्तां (1622 ई.) इस भाषा की प्रथम पुस्तक है। 1640 ई. में उन्होंने पुर्तगाली भाषा में इसका व्याकरण 'आर्ति द लिंग्व कानारी' नाम से लिखा। 'शणै गोंयबाब' को कोंकणी का आदिपुरूष माना जाता है। उनकी कहानी 'म्होजी बा खोइम गेली' (मेरी माँ कहाँ गई) को आधुनिक कोंकणी की नींव माना जाता है। उनके अलावा मनोहरराय सरदेसाई, शीला नायक, मीना काकोडकर, दामोदर मावजो, ए एम म्हाम्ब्रो, लक्ष्मणराव सरदेसाई, चंद्रकांत केणी आदि साहित्यकारों ने कोंकणी के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है।

बांग्ला *(Bengali)*

बांग्ला भाषा आर्य परिवार की भाषा है। यह पश्चिम बंगाल, असम तथा त्रिपुरा राज्यों, बांग्लादेश और ब्रिटेन में बसे बड़े प्रवासी समुदाय द्वारा बोली जाती है। इसकी चार मुख्य क्षेत्रीय बोलियाँ राधा (पश्चिम बंगाल मुख्य भूमि की बोलियाँ) पुंद्र या वारेद्र (पश्चिम बंगाल के उत्तरी हिस्सों और बांग्लादेश की बोलियाँ) कामरूप (पूर्वोत्तर बांग्लादेश की बोलियाँ) और बंग (बांग्लादेश के अन्य हिस्सों की बोलियाँ) हैं। इन सब में सिल्हट और चटगाँव बोलियों में विशेष लक्षणों का विकास हुआ है।

भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तरह बांग्ला भाषा का भी उत्पत्ति काल सन् 1,000 ई. के आस-पास माना जा सकता है। पुरातन बांग्ला की उपलब्ध रचनाओं में 47 चर्यापद विशेष महत्त्व के हैं। ये प्राय: आठ पंक्तियों के रहस्यमय गीत हैं जिनका संबंध महायान बौद्धधर्म तथा नाथपंथ से है। बंगला का प्रथम महाकवि कृतिवास ओझा (1399 ई.) को माना गया है। उन्होंने संस्कृत रामायण को बांग्ला में प्रस्तुत किया। इसी तरह कृष्णगाथा को बांग्ला में मालाधर बसु ने प्रस्तुत किया। मध्य युग में

वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार देश में 29 भाषाएं ऐसी हैं जिनके प्रयोगकर्ता दस लाख या जनसंख्या के 0.1% से अधिक हैं। [Year 2001 Census Recorded 29 Individual Languages as having more than 1 million native speakers (0-1% of total population)]। इसका विवरण नीचे की तालिका में दिया गया है।

क्रम	भाषा	2001 की जनगणना (कुल जनसंख्या 1,028.610,328) प्रयोगकर्ता (Speakers)	प्रतिशत
1.	हिन्दी	422,048,642	41.03%
2.	बांग्ला	83,369,769	8.11%
3.	तेलुगु	74,002,856	7.19%
4.	मराठी	71,936,894	6.99%
5.	तमिल	60,793,814	5.91%
6.	उर्दू	51,536,111	5.01%
7.	गुजराती	46,091,617	4.48%
8.	कन्नड	37,924,011	3.69%
9.	मलयालम	33,066,392	3.21%
10.	ओडिया	33,017,446	3.21%
11.	पंजाबी	29,102,477	2.83%
12.	असमिया	13,168,484	1.28%
13.	मैथिली	12,179,122	1.18%
14.	भीली	9,582,957	0.93%
15.	संथाली	6,469,600	0.63%
16.	कश्मीरी	5,527,698	0.54%
17.	नेपाली	2,871,749	0.28%
18.	गोंडी	2,713,790	0.26%
19.	सिंधी	2,535,485	0.25%
20.	कोंकणी	2,489,015	0.24%
21.	डोगरी	2,282,589	0.22%
22.	खानदेशी	2,075,258	0.21%
23.	कुरूख	1,751,489	0.17%
24.	तुलु	1,722,768	0.17%
25.	मैतेई/मणिपुरी	1,466,705	0.14%
26.	बोडो	1,350,478	0.13%
27.	खासी	1,128,575	0.11%
28.	मुंडारी	1,061,352	0.103%
29.	हो	1,042,724	0.101%

Copyright- Drishti The Vision Foundation

बांग्ला के एक प्रसिद्ध कवि चंडीदास माने जाते हैं। इनके नाम से लगभग 1200 पद या कविताएँ प्रचलित हैं। उनकी भाषा, शैली आदि में इतना अंतर है कि वे एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं जान पड़तीं।

आधुनिक युग में राजा राममोहन राय ने कुछ उपनिषदों का बांग्ला अनुवाद तैयार किया और अंग्रेजी में बांग्ला व्याकरण लिखा। उन्होंने विचारों के प्रचार के लिए बांग्ला और अंग्रेजी, दोनों में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। इसी समय राजा राधाकांत देव ने शब्दकल्पद्रुम नामक संस्कृत कोष तैयार किया और भवानीचरण बनर्जी ने व्यंग्य रचनाएँ लिखीं। उनके बाद ईश्वरचंद्र विद्यासागर, प्यारीचंद मित्र, माइकल मधुसूदन दत्त, बंकिमचंद्र चट्टोपध्याय, दीनबंधु मित्र, राजा राजेंद्रलाल मित्र, हरप्रसाद शास्त्री, गुरूदेव रवींद्रनाथ ठाकुर, काजी नजरूल इस्लाम ने बांग्ला भाषा में अनेक कृतियों की रचना की।

आधुनिक बांग्ला के सर्वप्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचंद्र चटर्जी (1876-1938) माने जाते हैं। उनके कुछ उपन्यास श्रीकांत, गृहदाह, पल्ली समाज, देना पावना, देवदास, चंद्रनाथ, चरित्रहीन, शेष प्रश्न आदि हैं। उनके उपन्यासों पर कई फिल्में भी बनी हैं। उनके अलावा ताराशंकर बनर्जी, विभूतिभूषण बनर्जी, राजशेखर वसु, आनंदशंकर राय, सतीनाथ भादुडी, मानिक बनर्जी, शैलजान मुखर्जी, नरेंद्र मित्र, गौरीशंकर भट्टाचार्य, वाजिद अली, बुद्धदेव, काजी अब्दुल वदूद, नरेंद्रदेव, डॉ. सुकुमार सेन, गोपाल हालदार, आशापूर्णा देवी, महाश्वेता देवी, अवधूत और मलयराज चौधुरी ने बांग्ला साहित्य के विकास में अमूल्य योगदान दिया है।

डोगरी *(Dogri)*

डोगरी आर्य भाषा परिवार की भाषा है। यह मुख्य रूप से जम्मू, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी पंजाब में बोली जाती है। डोगरी बोलने वालों को डोगर और डोगरी भाषा क्षेत्र को डुग्गर कहा जाता है। डोगरी की अपनी एक लिपि है। जिसे टाकरी या टक्करी लिपि कहते हैं। वर्ष 2004 में डोगरी को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

इस भाषा के प्रमुख साहित्यकार पद्मा सचदेव, वीरेंद्र केसर, ओम विद्यार्थी, अखिल साधोत्रा, शिवनाथ, कृष्ण शर्मा, ज्ञान सिंह पागोच, चंपा शर्मा, ललित मगोत्रा, बालकृष्ण बाहुरा आदि हैं।

गुजराती *(Gujarati)*

गुजराती भाषा का विकास शौरसनी प्राकृत के परवर्ती रूप नागर अपभ्रंश से हुआ है। गुजराती भाषा का क्षेत्र गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के अतिरिक्त मुंबई का सीमावर्ती प्रदेश तथा राजस्थान का दक्षिण-पश्चिमी भाग, दादरा नगर हवेली, दमन और दीव भी हैं। इसकी अन्य प्रमुख बोलियों में सौराष्ट्री तथा कच्छी हैं। इसकी लिपि को गुजराती लिपि भी कहा जाता है।

जैन आचार्य हेमचंद्र सूरी की गुर्जर या श्वेताम्बर अपभ्रंश की कृतियों को गुजराती की आद्य कृतियाँ माना जा सकता है। गुजराती की आरंभिक कृतियों में श्रीधर कवि का 'रणमल्लछंद (1390 ई.)' और पद्मनाभ कवि का 'कान्हडदेप्रबंध (1456 ई)' शामिल हैं। मध्य युग के सांस्कृतिक जागरण की लहर गुजरात में भी देखी गयी। इसके दो प्रमुख प्रतिनिधि नरसी मेहता और भालण कवि हैं। नरसी मेहता के गुजराती पद्य में निश्चल भक्तिभावना की अनुपम अभिव्यक्ति पाई जाती है। भालण कवि का समय भी लगभग यही माना जाता है। इन्होंने रामायण, महाभारत और भागवत के पौराणिक इतिवृत्तों को लेकर अनेक काव्य निबद्ध किए और गरबा साहित्य को जन्म दिया। प्रेमानंद (17वीं शती) गुजराती भक्ति साहित्य के सर्वोच्च कवि माने जाते हैं। मध्ययुगीन गुजराती साहित्य के विकास में स्वामीनारायण संप्रदाय ने भी काफी सहयोग दिया है। कच्छ और गुजरात में इस संप्रदाय के साधुओं का काफी प्रभाव रहा है।

नर्मद या नर्मदाशंकर लालशंकर दवे (1833-1886 ई.) गुजराती मध्यवर्गीय चेतना के अग्रदूत हैं। उनकी स्थिति और योगदान हिन्दी साहित्य में भारतेंदु हरिशचंद्र के जैसी है। उनके अलावा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने गुजराती गद्य विकास में योगदान दिया है। मुंशीजी ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। आधुनिक गुजराती साहित्यकारों में रमणलाल देसाई, गुणवंतराय आचार्य, धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर के अलावा विनेश अंतानी, धीरूबेन पटेल, ध्रुव प्राबधोराई भट्ट, बिंदु भट्ट, अमृत लाल वेगड, सुरेश दलाल, रतिलाल अनिल, राजेंद्र शुक्ला, सुमन शाह, शिरीष पंचाल, धीरेंद्र मेहता, मोहन परमार और चंद्रकांत टोपीवाला प्रसिद्ध हैं।

बोडो *(Bodo)*

बोडो या बड़ो एक तिब्बती-बर्मी भाषा है। इसे भारत के उत्तरपूर्व, नेपाल और बांग्लादेश में रहने वाले बोडो समुदाय के लोग बोलते हैं। बोडो भाषा असम की आधिकारिक भाषाओं में से एक है। यह असम की दिमसा, मेघालय की गारो और त्रिपुरा की कोकबोरोक से मिलती जुलती भाषा है। बोडो को कोकराझार और बोंगाईगांव में बोली जाने वाली पश्चिमी बोडो बोली (स्वानबाडी), बारपेटा नलबाडी, कामरूप एवं दरांग में बोली जाने वाली बोली को पूर्वी बोडो (संजवारी) और दक्षिणी बोडो (हजारी) बोली में बाँटा गया है। इसमें स्वानबाड़ी बोली ज्यादा महत्त्व की है और उसका ज्यादा विकास हुआ है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बोडो भाषा आधिकारिक रूप से देवनागरी में लिखी जाती है। बोडो को लैटिन और असमी लिपि से भी प्रभावित माना गया है। यह भी दावा किया गया है कि बोडो की लिपि देओधाई (Deodhai) है। बोडो भाषा का इतिहास काफी पुराना है लेकिन इसका लिखित रूप बीसवीं सदी में ही देखने को मिलता है। ईसाई मिशनरियों ने धर्म प्रचार के लिए बोडो भाषा का प्रयोग किया। रेवरेंड सिडनी एंडेल ने 1884 में 'एन आउटलाइन ऑफ द कछारी ग्रामर' प्रकाशित की। उनकी किताब 'द कछारी' भी इस दिशा में एक सराहनीय प्रयास है। बोडो संगठनों के प्रयासों के बाद 1963 में स्थानीय प्राथमिक स्कूलों में बोडो भाषा में शिक्षा दी जाने लगी। आजकल इस भाषा में माध्यमिक स्तर की शिक्षा उपलब्ध है और इसे असम में दूसरी राजभाषा का दर्जा हासिल हो गया है। वर्ष 1996 में गुवाहाटी विश्वविद्यालय में इस भाषा में परास्नातक तक की पढ़ाई शुरू हो गई। इस भाषा के प्रमुख साहित्यकारों में मंगलवार होजवारी, कटिंद्रा स्वारगियारी, जनिल कुमार ब्रह्मा, विद्यासागर नरजारे, मनोरंजन लाहारे, अरबिंदो उजिर, प्रेमानंदा मूसाहरी और गणेश्वर मूसाहरी आदि हैं।

मैथिली *(Maithili)*

मैथिली बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल और नेपाल की तराई में बोली जानेवाली भाषा है। इस भाषा का हिन्दी, बांग्ला, असमिया, ओडिया, नेपाली से काफी निकट का संबंध है। पहले इसे मिथिलाक्षर तथा कैथी लिपि में लिखा जाता था जो बांग्ला और असमिया लिपियों से मिलती थी। इसे लिखने में देवनागरी का प्रयोग भी होता है। मिथिलाक्षर को तिरहुता या वैदेही लिपि के नाम से भी जाना जाता है। वर्ष 2003 को भारत सरकार द्वारा मैथिली को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में भी शामिल किया गया। नेपाल सरकार ने मैथिली को दूसरी राजभाषा का दर्जा दिया है। मैथिली का व्याकरण 1880-81 में 'ए एफ रूडोल्फ होईरनले' ने प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से मैथिली को हिन्दी की एक भाषा बताया।

मैथिली की पाँच बोलियाँ वज्जिका, मध्य, अंगिका, तीथी और थारूवत हैं। मध्य मैथिली परिष्कृत है और उसमें ही प्राय: किताबें लिखी जाती हैं। यह बोली दरभंगा, कोसी खंड, पूर्णिया, खगड़िया और बेगूसराय में बोली जाती है। वज्जिका बोली मुजफ्फरपुर, वैशाली, पूर्वी चंपारण, शिवहर, बेगूसराय में बोली जाती है। अंगिका बोली का चलन भागलपुर और झारखंड के संथाल परगना में, तीथी या मुंगेरी बोली मुंगेर में और झोला मैथिली भी कहीं-कहीं प्रयोग की जाती है। झोला मैथिली का चलन स्थानीय मुसलमानों में ज्यादा है। थारूवत का चलन नेपाल के तराई क्षेत्र में है।

प्राचीन मैथिली के विकास का शुरूआती दौर प्राकृत और अपभ्रंश के विकास से जोड़ा जाता है। लगभग 700 ई. के आसपास इसमें रचनाएँ की जाने लगी थीं। विद्यापति (1350-1450) मैथिली के आदिकवि तथा सर्वाधिक ज्ञात कवि हैं। वर्तमान काल में डॉ. हरिमोहन झा, बाबा उग्रनारायण मिश्र 'कनक', मैथिली भाषा के प्रमुख लेखक माने जाते हैं। मैथिली के गौरवपूर्ण इतिहास में पद्य के साथ-साथ गद्य साहित्य का अनुपम योगदान है। यहाँ के ग्रामीणों में गोनू झा की चतुराई की कहानियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। कविश्वर चंदा झा (कविचंद्र) ने मैथिली भाषा में रामायण लिखी है। 1966 में पहला साहित्य अकादमी पुरस्कार यशोधर झा को मैथिली वैभव के लिए मिला था। आधुनिक समय में मैथिली के प्रमुख साहित्यकारों में शेफालिका वर्मा, मन्नमोहन झा, प्रदीप बिहारी, विवेकानंद ठाकुर, चंद्रभानु सिंह, सोमदेव, बबुआ झा, रामानंद रेणु, साकेतनंद, जीवकांत, राजमोहन झा, जयमंत मिश्रा, गोविंद झा और भीमनाथ झा आदि हैं।

मलयालम *(Malayalam)*

द्रविड़ भाषा-परिवार की प्रमुख भाषा मलयालम केरल, तमिलनाडु के कन्याकुमारी, कर्नाटक के दक्षिण कन्नड़ जिला, लक्षद्वीप तथा अन्य कई देशों में बसे केरल वासियों द्वारा बोली जाती है। यह भाषा और लिपि के विचार से तमिल के काफी निकट है। इसमें संस्कृत से कई शब्दों को सीधे ले लिया गया है और कई शब्दों को मलयालम के अनुरूप संशोधित करके स्वीकार किया गया है। नबूंदरी ब्राह्मणों के आगमन, जैनियों, अरबों के साथ सदियों से व्यापार संबंध और यूरोपीय उपनिवेशवाद का असर भी इस भाषा पर पड़ा है। 13वीं शताब्दी में लिखित 'रामचरितम्' को मलयालम भाषा का आदि काव्य माना जाता है। पंद्रहवीं सदी तक आते-आते मलयालम का रूप काफी स्थिर हो गया। इस काम में 16वीं सदी के विद्वान पुरूष एवं आधुनिक मलयालम के पिता माने जाने वाले थुनचातु एझुथच्चन (Thunchathu Ezhuthachan) का बहुत योगदान है।

इस समय मलयालम में दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं जिन्हें 'मणिप्रवाल' और 'पाट्टु' कहा गया है। मणिप्रवाल काव्य शैली में संस्कृत और मलयालम समन्वित रूप से प्रयोग की गयी हैं और इसमें चम्पू, सन्देशकाव्य, शृंगारपरक, देवस्तुति, राजस्तुति, देश-वर्णन आदि विषयों में रचनाएँ की गई। मणिप्रवाल साहित्य की प्रमुख रचनाएँ हैं- 'वैशिकतंत्रम्', 'उण्णियच्ची चरितं', 'उण्णुनीलि सन्देशम्', 'कोकसन्देशम्', आदि। एझुथच्चन पाट्टु शैली से जुड़े हुये हैं। उन्होंने रामायण, श्रीमद्भागवत गीता आदि धार्मिक ग्रंथों का सरल मलयालम में अनुवाद किया। मलयालम के विकास में उन्नयी वरियर, जिन्हें मलयालम के कालिदास की संज्ञा दी जाती है, का भी योगदान रहा है। 18वीं सदी तक आते-आते ईसाई धर्मप्रचारकों ने मलयालम

Copyright– Drishti The Vision Foundation

- ई धर्म से संबंधित पुस्तकों का प्रकाशन किया। इन प्रचारकों ने मलयालम को और अधिक सरल और छापेखाने के प्रयोग से ाषा को और अधिक लोकप्रिय बनाया। 18वीं सदी में कुंजन नांबियार (Kunjan Nambiar) ने लोकप्रिय कविताएँ लिखीं और लोगों के धार्मिक दृष्टिकोण पर सवाल किये। इसलिए उन्हें मलयालम का 'जनकवि' कहा जाता है। उन्हीं दिनों त्रावणकोर राज स्वाति तिरूनल (Swathi Thirunal-1829-1847) ने भी मलयालम भाषा के विकास को प्रोत्साहन दिया। 1857 में मद्रास द्यालय की स्थापना के साथ ही मलयालम भाषा को एक संस्थागत रूप मिलना शुरू हुआ। इस समय केरल वर्मा ने मलयालम ; पाठ्य पुस्तकें लिखीं। उनसे ही मलयालम साहित्य के आधुनिक युग का प्रारंभ माना जाता है।

मलयालम कविता के विकास में कुमारन आसन (Kumaran Asan), वल्लतोल नारायण मेनन (Vallathol Narayana Menon) उल्लूर एस परमेस्वर अय्यर (Ulloor S. Parameswara Iyer) का बहुत योगदान है। इन तीनों को मलयालम कविता का त्रयी जाता है। उनके अलावा के.के. नायर (K. K. Nair) और के.एम. पणिक्कर (K. M. Panikkar) ने भी कविता के विकास में ान दिया। सी.वी. रमन पिल्लई (C. V. Raman Pillai) ने नाटकों के विकास में योगदान दिया। मलयाली भाषा के साहित्यकारों कषी शिवशंकर पिल्लै (Thakazhi Sivasankara Pillai, 1912-1999) का नाम अविस्मरणीय है। उन्होंने समाज के हाशिये लोगों की समस्याओं पर लेखनी चलाई।

आधुनिक मलयाली साहित्यकारों में आर. रामचंद्रन, अत्तूर रवि वर्मा, के. जी. शंकर पिल्लै, सारा जोसेफ, पॉल जकारिया, वी. कक्कानंदन, एम सुकुमारन, सेतु, के. पी. अप्पन, यू. ए. खदेर, एम. पी. वीरेंद्र कुमार और एम. के. सानू आदि प्रमुख हैं।

ाठी (Marathi)

यह महाराष्ट्र की आधिकारिक भाषा है और इसे देश की आधिकारिक भाषा का दर्जा हासिल है। इसकी मुख्य बोलियाँ मानक ाठी (Standard Marathi) और वारहदी मराठी (Warhadi Marathi) हैं। इसके अलावा इसकी अन्य उपबोलियाँ (Sub-dialects) – होरानी, डांगी, वडाली, सामवेदी, खानदेशी और मालवणी हैं। मराठी महाराष्ट्र के अलावा गुजरात, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, मन एवं दीव, दादरा नगर हवेली और छत्तीसगढ़ में भी बोली जाती है। इसके प्रथम उदाहरण यादव काल (850-1312) के मिलते । मराठी का पहला अभिलेख कर्नाटक के श्रवणबेलगोला में 983 ईस्वी में बनी मूर्ति पर मिला है। लेकिन मराठी भाषा का विकास महानुभाव' और 'वरकरी' संप्रदायों से जुड़े संत कवियों द्वारा देखने को मिलता है। 'महानुभाव' के भास्कर भट्ट बोरीकर ऐसे पहले कवि हैं जिन्होंने मराठी में रचनाएँ लिखीं। मराठी की पहली बड़ी पुस्तक मुकुंदराज की 'विवेकसिंधु' मानी जाती है। व्यापक स्तर र पढ़े जाने वाले पहले मराठी कवि संत ज्ञानेश्वर (Jnyaneshwar 1275-1296) हैं। उनकी 'अमृतानुभव' और 'भावार्थ दीपिका या ानेश्वरी' को अपार लोकप्रियता मिली। उनके समकालीन संत नामदेव थे। उनकी रचनाएं भी बहुत लोकप्रिय हुई। उनके दोहों को सिख धर्म की पवित्र पुस्तक गुरु ग्रंथ साहिब में शामिल किया गया है। उनके बाद वरकरी संत कवि एकनाथ (Eknath 1533-1599) न अभंग (देव अराधना गीत), भावार्थ रामायण आदि ग्रंथ लिखे। एकनाथ के पोते मुक्तेश्वर ने महाभारत ग्रंथ का अनुवाद किया। उन्हीं दिनों ईसाई धर्मप्रचारक थॉमस स्टीफेंस ने ख्रीस्त पुराण लिखा। इसमें मराठी और कोंकणी का प्रयोग किया गया। सत्रहवीं सदी में संत तुकाराम और समर्थ रामदास ने मराठी को समृद्ध किया।

19वीं सदी में बाबा पदजी, जोतीबा फुले, गोपालहरि देशमुख, महादेव गोविंद रानाडे और हरि नारायण आप्टे ने मराठी भाषा में लिखकर इस भाषा को समृद्ध किया। जोतीबा फुले को आधुनिक मराठी काव्य में अग्रगण्य माना जाता है। मराठी की लोकप्रियता में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका उस समय लिखे गये गीतात्मक नाट्यों की भी है। कृष्णजी प्रभाकर खदिलकर का लिखा कीचक वध (1910) ऐसा पहला नाटक था जिसे देश में प्रतिबंधित किया गया। मराठी नाटकों ने 1960-70 के दशक में अपार यश प्राप्त किया। इसके लेखकों में वसंत कानिटकर, कुसुमाग्रज और विजय तेंदुलकर शामिल रहे। 1950 के दशक में इस भाषा में लघु पत्रिका आंदोलन शुरू हुआ। बाबा साहेब अंबेडकर के दर्शन से प्रेरित इस आंदोलन ने तत्कालीन वर्चस्वशाली समूह को चुनौती दी। यहीं से मराठी साहित्य में दलित साहित्य की धारा विकसित हुई। इसके प्रमुख लेखक व कवि बालचंद्र नेमादे, शरण राणे, अरूण कोलतकर, दिलीप चित्रे, नामदेव धसाल, वसंत आँबाजी दाहके, मनोहर ओक, विलास सारंग, श्याम मनोहर, आदि हैं। वर्तमान समय के प्रमुख रचनाकार जयंत नलीकर, महेश एलकुंचकर, टी. वी. सरदेशमुख, सदानंद देशमुख, आशा बागे, गो मो पवार, श्याम मनोहर आदि हैं।

मणिपुरी (Manipuri)

मणिपुरी भाषा को मैतेलोन, मीतै लोन या मीतै लोल के नाम से भी जाना जाता है। यह भाषा मणिपुर में जनभाषा के रूप में प्रयोग होती रही है इसलिए इसे मणिपुरी भी कहा गया है। मणिपुरी 'तिब्बत बर्मी' भाषा परिवार की भाषा है। इस भाषा की लिपि को 'मीतै अयेक' कहा गया है। इसका विकास ब्राह्मी लिपि से माना गया है। मणिपुरी भाषा का प्राचीन एवं मध्य इतिहास इसी 'मीतै अयेक' में लिखा गया है। वर्तमान मणिपुरी भाषा विभिन्न राजवंशों द्वारा प्रयुक्त बोलियों के मिश्रण का संयुक्त एवं विकसित रूप है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मणिपुरी भाषा में जो साहित्य लिखा गया है उसे तीन कालखंडों में विभाजित किया गया है। पहला कालखंड ईसा की पहली सदी से लेकर 1730 ईसवी तक का माना गया है। इस समय तुतेड् लोन्, हिजन-हिराओ' पोइरैतान, लैथक् लैखरोन और पान्थोइबी खोड्कुन जैसी प्रसिद्ध रचनाएं लिखीं गयीं। इन ग्रंथों में स्थानीय बोलियों के शब्दों का व्यापक प्रयोग हुआ है। इन रचनाओं में 'औग्री' और 'खेचों' जैसी काव्य शैलियों का प्रयोग किया गया है। दूसरे कालखंड (1730-1890) में मणिपुरी साहित्य में बांग्ला और संस्कृत का व्यापक असर देखा जा सकता है। हवाइम नवद्वीप चंद्र ने बांग्ला साहित्यकार माइकल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध' का अनुवाद करके 'मेघनाद तूबा काव्य' लिखा। उन्होंने टैगोर की गीतांजलि का भी अनुवाद किया। श्यामसुंदर सिंह ने बंकिमचंद्र की कपाल कुंडला का और वसुदेव शर्मा ने 'अभिज्ञान शाकुंतलम' का मणिपुरी भाषा में अनुवाद किया। आधुनिक कालखंड में 1890 से वर्तमान युग को रखा गया है। सन् 1920 में डा. लमाबम सिंह कमल के काव्य संग्रह 'लै परेड्' से मणिपुरी में नवजागरण काल की स्पष्ट शुरूआत मानी गई है। इन्हीं दिनों 'हिजम इरावत' की मणिपुरी भाषा में छपी पत्रिका 'मीतै चनु' ने साहित्यिक जीवन में बड़ी हलचल पैदा की। इसके बाद कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हो गया। मणिपुरी साहित्य में पहला साहित्य अकादमी पुरस्कार 1973 में पाचा मीतैई (Pacha Meetei) को मिला। वर्तमान समय में मणिपुरी साहित्य में जोधा सी. सनासंम, क्षेत्री बीरा, रतन थियम, मोईरंग बोराकन्या रघु आदि की गणना श्रेष्ठ साहित्यकारों में की जाती है।

नेपाली *(Nepali)*

यह भारतीय आर्य परिवार की भाषा है। इसे सिक्किम, पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग सहित अन्य पहाड़ी इलाकों, उत्तराखंड आदि क्षेत्रों में बोला जाता है। यह नेपाल की राष्ट्रीय भाषा भी है। नेपाली को खसकुरा (Khaskura), गोरखाली या गुरखाली भी कहा जाता है। इसे परबतिया भाषा का भी नाम दिया गया है। नेपाली को देवनागरी लिपि में लिखा जाता है। कहीं-कहीं इस भाषा के लिए टंकरी लिपि का भी प्रयोग हुआ है।

नेपाली भाषा का मौखिक प्रयोग तो सदियों पुराना है लेकिन इसका लिखित स्वरूप सौ वर्षों से अधिक का नहीं है। नेपाली भाषा में प्रकाशित ग्रंथ अध्यात्म रामायण इस भाषा का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु माना जाता है। इसके लेखक भानुभक्त आचार्य (Bhanubhkta Acharya 1814-1868) थे। उन्हें नेपाली के आदिकवि की संज्ञा दी गयी है। हालाँकि कुछ विद्वान स्वानंद दास को आधुनिक नेपाली का पहला कवि मानते हैं। मोतीराम भट्ट ने भानुभक्त की परंपरा को आगे बढ़ाया और लोकनाथा पौदयाल, लक्ष्मी प्रसाद देवकोटा, मुना मदन एवं बालकृष्ण सामा की त्रयी ने नेपाली साहित्य को विश्वस्तरीय बना दिया। गुरू प्रसाद मैनाली, विश्शेवर प्रसाद कोईराला की कहानियों को भी खूब लोकप्रियता मिली। नेपाली साहित्य के प्रसार में 'शारदा' नामक पत्रिका ने काफी योगदान दिया।

आधुनिक नेपाली साहित्यकारों में पारिजात, इंद्र बहादुर राय, भूपी शेरूचान, शैलेंद्र सकर, युयुत्सु शर्मा, बिमल निभा, नारायण वागले आदि हैं।

पंजाबी *(Punjabi)*

यह भारतीय आर्य परिवार की भाषा है जिसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसे गुरुमुखी लिपि में भी लिखा जाता है। इसका चलन भारत में पंजाब और सिख समुदाय में है। इसके अलावा यह पाकिस्तान में भी बोली जाती है। यूनाईटेड किंगडम और कनाडा में पंजाबी बोलने वाले काफी संख्या में है। पंजाबी की कई बोलियाँ भी हैं। इनमें से भारत में बोली जाने वाली माझी, दोआबी, पोवाधी, मालवाई, राठी, भट्टयानी आदि हैं। पाकिस्तान की पंजाबी बोलियों को लहंदा कहा गया है। इनमें पोतोहारी, पहाड़ी, धानी, शाहपुरी आदि प्रमुख हैं। इनमें माझी बोली को मानकीकृत स्वरूप प्रदान किया गया है।

पंजाबी भाषा का विकास 12वीं सदी में हुआ माना जाता है। हालाँकि इससे पहले नाथ पंथियों में पंजाबी भाषा के प्रयोग की प्रवृत्तियां मिलती हैं। सूफी संत फरीदुद्दीन गंज-ए-शकर को पंजाबी का पहला मुख्य कवि माना जाता है। सिख धर्म के प्रादुर्भाव के साथ ही यह भाषा विकसित होनी शुरू हुई। सिखों के प्रथम गुरू गुरूनानक देव (1469-1539) के काव्य में इस भाषा का प्रयोग हुआ है। 16वीं सदी से 1849 तक के समय को पंजाबी भाषा का स्वर्णकाल कहा गया है।

पंजाबी सूफी काव्य की वजह से पंजाबी भाषा की लोकप्रियता बढ़ी। इनमें शाह हुसैन, सुल्तान बाहू, शाह शरीफ, अली हैदर, सालेह मुहम्मद सफोरी के अलावा सबसे बढ़कर बुल्ले शाह (1680-1757) का योगदान है। वारिस शाह (1706-1798) का लिखा 'पंजाबी किस्सा', 'हीर रांझा', फजल शाह का 'सोहनी महिवाल', हाफिज बरखुदार का 'मिर्जा साहिबा', हाशिम शाह का ससी पुन्नुन बहुत मशहूर हुए। पंजाबी में मौखिक काव्य 'वार' गाने की परंपरा रही है। सिखों के दसवें गुरूगोविंद सिंह का 'चंडी का वार' बहुत लोकप्रिय हुआ।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

पंजाबी भाषा का रजत काल (1860-1947) पंजाबी के विकास में नया मोड़ है। ईसाई मिशनरियों ने गुरूमुखी लिपि का छापाखाना लगाया और पहला पंजाबी शब्दकोश सन 1854 में रेवरेंड जे न्यूटन ने लिखा। पंजाबी गद्य का विकास नानक सिंह (1897-1971) और वीर सिंह से माना गया है। पंजाबी भाषा के विकास में अमृता प्रीतम (1919-2005) का अतुलनीय योगदान है। उनके लेखन में पंजाब विभाजन का दर्द महसूस किया जा सकता है। उनके अलावा शिव कुमार बटालवी, पाश, पूरन सिंह, धनी राम चतरिक, दीवान सिंह, उस्ताद दमन ने भी बेहतरीन साहित्य लिखा। आधुनिक पंजाबी नाटककारों में संत सिंह सेखो, करतार सिंह दुग्गल, बलवंत गार्गी के नाम प्रमुख हैं। पंजाबी कविता में आधुनिकता का समावेश मोहन सिंह (1905-78) आदि से माना जाता है। मौजूदा समय में सुरजीत पातर, वनिता, बलदेव सिंह, हरदेव ग्रेवाल, अजित कौर, दलीप कौर टिवाणा पंजाबी के महत्त्वपूर्ण साहित्यकार हैं।

सिंधी *(Sindhi)*

सिंधी भाषा इंडो-यूरोपीयन भाषा परिवार की इंडो-ईरानियन शाखा से संबंधित भारतीय आर्य भाषा है। यह उर्दू की तरह भारत-पाकिस्तान उपमहाद्वीप की एक प्रमुख साहित्यिक भाषा है। सिंधी का विकास व्राचड अपभ्रंश से हुआ माना जाता है। इसमें अरबी और फारसी के शब्द अधिक होने के बावजूद मूल शब्द-संग्रह और व्याकरण संरचना लगभग अपरिवर्तित है। भारत में सिंधियों का कोई विशेष भाषाई राज्य नहीं है अपितु सिंधी आबादी समूचे भारत में फैली हुई है और गुजरात के कई क्षेत्रों खासतौर पर कच्छ के क्षेत्र, महाराष्ट्र (मुंबई, उल्हासनगर व पुणे), राजस्थान (अजमेर, जयपुर, जोधपुर व उदयपुर), उत्तर प्रदेश (आगरा, कानपुर, बरेली, लखनऊ व वाराणसी), मध्यप्रदेश (भोपाल, इन्दौर, ग्वालियर व रायपुर) तथा दिल्ली में सिंधी भाषिक समुदाय ज्यादा बसे हुए हैं। सिंधी भाषा मुख्यत: दो लिपियों में लिखी जाती है, अरबी-सिंधी लिपि तथा देवनागरी-सिंधी लिपि। इसके अलावा, सिंधी भाषा की अपनी प्राचीन देशी लिपि 'सिंधी' भी है लेकिन इसका उपयोग अब कुछ व्यापारियों के वाणिज्यिक पत्र व्यवहार और सिंध के इस्माईली खोजा मुस्लिम समुदाय के धर्मग्रन्थों तक सीमित है। पाकिस्तान में यह भाषा सिंध प्रांत और बलूचिस्तान में प्रयोग की जाती है। सिंधी की बोलियों में सिंधी सराइकी (Sindhik Saraiki) विचोली या विचोलो (Vicholi, in Vicholo), लारी (Lari), थारी या थारेली (Thari or Thareli) और कच्छी (Kachhi or Kutchi) प्रमुख हैं।

14वीं और 18वीं सदी के बीच इस भाषा ने अपार लोकप्रियता हासिल की। इसमें सूफियों ने बड़ी भूमिका का निर्वहन किया। इनमें शाह अब्दुल लतीफ भिट्टाई, लाल शाहबाज कलंदर प्रमुख हैं। शाह अब्दुल लतीफ का 'शाह जो रिसालो (Shah Jo Risalo) प्रसिद्ध काव्यग्रंथ है। मध्ययुग के 'दोदो-चनेसर' (रचनाकाल 1312 ई.) वीररस संबंधी खंडकाव्य को सिंधी साहित्य का प्रारंभिक काव्य माना जाता है। मध्ययुगीन सिंधी कवियों में सचल सपमस्त (1739-1826) को खूब पसंद किया गया।

आधुनिक सिंधी साहित्य की शुरूआत सिंध पर अंग्रेजों के कब्जे (1843) के बाद से मानी जाती है। इस युग में सिंध में छापेखानों की शुरूआत हुई और कई अंग्रेजी पुस्तकों को सिंधी में छापा गया। मिर्जा कलीच बेग (1853-1929) ने उमर खय्याम का अनुवाद सिंधी पद्य में किया। मौलिक लेखकों में शुमार बेग गद्य के प्रवर्तकों में गिने जाते हैं। मिर्जा ने लगभग 200 पुस्तकें लिखी हैं। उनका "जीनत" (1890) सिंधी का पहला मौलिक उपन्यास है जिसमें सिंधी जीवन का यथातथ्य चित्रण मिलता है। बेग का नाटक खुशी भी प्रासंगिक रचना है। नवाब मीर हसन अली खाँ (1824-1909) ने फिरदौसी के "शाहनामा" की नकल पर "शाहनामा सिंध" की रचना की। उन्होंने गजलें, सलाम और कसीदे भी लिखे। पश्चिमी साहित्य से प्रभावित होकर लिखने वालों में देवनदास, दयाराम, गिडूमल, नारायण श्याम, मंगाराम मलकाणी तथा टी. एल. वसवाणी उल्लेखनीय हैं। शम्सुद्दीन बुलबुल का कलाम आम लोगों द्वारा बहुत पसंद किया गया। बुलबुल ने व्यंग्य और गजलें लिखी हैं। करुण रस के कवि गुलाम शाह को "आँसुओं का बादशाह" कहा गया है। हैदरबख्श जतोई की कविता में देशभक्ति ओतप्रोत है। सिंधु नदी के प्रति उनकी कविता बहुत प्रसिद्ध हुई है। लेखराज अजीज प्रकृति के चितेरे हैं। मास्टर किशनचंद बेबस, हरि दिलगीर, हूँदराज दुखायल तथा राम पंचवाणी प्रगतिशील कवियों में गिने जाते हैं। वर्तमान समय में मोहन गेहानी, प्रेमप्रकाश, हरि हिमथानी, हिरो ठाकुर, सतीश रोहरा, डोलन राही, कोरल चवानी, वासुदेव निर्मल, हिरो शेख्वानी, आणंद खेमाणी प्रमुख हैं।

संस्कृत *(Sanskrit)*

संस्कृत हिन्द-यूरोपीय भाषा-परिवार की हिन्द-ईरानी शाखा की हिन्द-आर्य उपशाखा में शामिल है। इसका संबंध अवेस्ता और पुरानी फारसी भाषा से भी माना गया है। प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद की भाषा को संस्कृत का आद्यतम उपलब्ध रूप कहा जा सकता है। कुछ विद्वान प्राचीन वैदिक भाषा को परवर्ती पाणिनीय (लौकिक) संस्कृत से भिन्न मानते हैं। पाणिनी का अष्टाध्यायी ग्रंथ इस भाषा के व्याकरण का प्राचीनतम ग्रंथ है। माना जाता है कि इस ग्रंथ के बाद संस्कृत के व्याकरणिक स्वरूप में स्थिरता आ गई।

हिन्दू धर्म से संबंधित लगभग सभी धर्मग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। हिन्दुओं के धार्मिक कर्मकांडों से जुड़े मंत्र संस्कृत में ही उच्चारित होते हैं। पुरोहितों की भाषा होने के कारण संस्कृत को उच्च सामाजिक स्थिति मिलती रही। देश में संस्कृत नाटकों और

Copyright– Drishti The Vision Foundation

विशद परंपरा रही है। बौद्ध धर्म (विशेषकर महायान) तथा जैन धर्म के भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इसी भाषा में उपलब्ध ... भारतीय भाषाएँ जैसे तमिल, तेलुगु, हिन्दी, बांग्ला, मराठी, सिन्धी, पंजाबी, आदि भाषाएँ संस्कृत से प्रभावित रही हैं। ... की कई लिपियों में लिखी जाती रही है, लेकिन आधुनिक युग में देवनागरी लिपि के साथ इसका विशेष संबंध है। ... सरकार ने इसे दूसरी राजकीय भाषा का दर्जा दिया है।

... का पहला साहित्य अकादमी अवार्ड डा. पांडुरंग वामन काणे को उनके ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' चतुर्थ खंड के ... था। आधुनिक संस्कृत लेखकों में काशीनाथ मिश्रा, भास्कराचार्य त्रिपाठी, देवर्षि कलानाथ शास्त्री, स्वामी रामभद्राचार्य, ...धव, हरिदत्त शर्मा, ओमप्रकाश पांडे, मिथिला प्रसाद त्रिपाठी, हरेकृष्ण सत्पथी, रामजी ठाकुर आदि प्रमुख हैं।

(Tamil)

... द्रविड़ भाषा परिवार की भाषा है। इसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं के समान अति प्राचीन तथा सम्पन्न भाषा ... है। यह अति प्राचीन भाषा होकर भी लगभग 2500 वर्षों से आज तक जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रही है। तमिल ...नाडु के अलावा श्रीलंका के तमिल बहुल उत्तरी इलाकों, सिंगापुर और मलेशिया के भारतीय मूल के तमिलों द्वारा बोली ... भारत, श्रीलंका और सिंगापुर में इसकी स्थिति एक आधिकारिक भाषा के रूप में है। संविधान की आठवीं अनुसूची में ... भाषा को 2004 में शास्त्रीय भाषा का भी दर्जा दिया गया। तमिल के सबसे आरंभिक शिलालेख तीसरी शताब्दी ईसापूर्व ... के हैं। तमिल साहित्य का आरंभिक काल, संगम साहित्य, 300 ई.पू. - 300 ईस्वी का है। संगम साहित्य के अलावा ... संबंधी कई प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें तिरूक्कुरल, शिलप्पादिकरम और मणिमेखले आदि शामिल हैं। तमिल भाषा ... पुरानी लिपि 'तमिल ब्राह्मी' की उत्पत्ति 'ब्राह्मी लिपि' से मानी जाती है।

...वीं सदी के बाद से मध्ययुगीन तमिल में पुरानी तमिल से थोड़ा अलग लक्षण मिलने शुरू हो जाते हैं। इस दौरान तमिल ... संस्कृत का ज्यादा प्रभाव देखने को मिलता है। इस समय लिपि में भी परिवर्तन और एक नई लिपि वेट्टेलुट्टु का विकास ... है। इसी समय पल्लव शासकों ने एक अन्य लिपि 'पल्लव ग्रंथ लिपि' का प्रयोग करना शुरू कर दिया था। इस युग में ...और धार्मिक साहित्य जिसमें भक्ति संतों जैसे तेवारम, कंबन की तमिल रामायण, पेरियपुराणम आदि ग्रंथों की रचना हुई। ... नन्नुल ने तमिल व्याकरण पर महती कार्य किया। उन्होंने जो नियम बनाये वे आधुनिक तमिल भाषा में भी प्रयुक्त होते ... तमिल बोली में व्यापक परिवर्तन देखने को मिलता है। आधुनिक तमिल साहित्य के शुरूआती समय में सुब्रह्मण्यम स्वामी ...950) का नाम सर्वप्रमुख है। उनकी तुलना हिन्दी साहित्य के भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ की जा सकती है। बीसवीं सदी ... भाषा के संरक्षण और शुद्धता के प्रति लोगों में व्यापक जनजागरण देखा गया। यहाँ तक कि राज्य में 'विशुद्ध तमिल ... जिसमें प्रयास यह किया गया कि जो शब्द संस्कृत से आये थे उन्हें हटा दिया जाये। आधुनिक तमिल साहित्य की ... जयकांतन और अखिलन के प्रयासों से अवतरित हुई।

...निक तमिल साहित्यकारों में जी तिलाकावथी, नीला पद्मनाभन, एम पुन्नुस्वामी, आरसू, व्यंकटेशन, डी. सेल्वाराज आदि

(Telugu)

...ड़ भाषा परिवार की 'तेलुगु' आंध्र प्रदेश की लोकभाषा और राजभाषा है। यह तमिलनाडु, कर्नाटक, ओडिशा, छत्तीसगढ़ के ... और पुडुचेरी के यनम में बोली जाती है। इसे तमिल, कन्नड़ और संस्कृत के साथ शास्त्रीय भाषा होने का दर्जा हासिल ... के कुछ शब्द पहली सदी में रची गई गाथासप्तशती में मिलते हैं। इस भाषा के विकास का दूसरा काल 575 ईस्वी से ... माना जाता है। इस काल में तेलुगु में लिखा गया पहला अभिलेख मिला है। विद्वानों के अनुसार इस काल में तेलुगु पर ... प्राकृत का व्यापक प्रभाव पड़ा। इस भाषा को जनभाषा के रूप में बदलने में तेलुगु के महान कवि नन्नैया (1022-1063 ... बड़ा योगदान है। उन्होंने महाभारत के अनुवाद के जरिए इस भाषा को लोकप्रिय बना दिया। इस काम में तिकन्ना और येरन्ना ...4वीं सदी) ने नन्नैया की परंपरा को आगे बढ़ाया। इसके बाद के चरण में तेलुगु लिपि पर काफी काम हुआ और आगे तेलुगु लिपि पूरी तरह से कन्नड़ लिपि से अलग रूप में विकसित हो गई। विजयनगर साम्राज्य के उद्भव के साथ ही इस ... स्वर्ण युग प्रारंभ हो गया। राजा कृष्णदेवराय ने स्वयं तेलुगु में आमुक्तमाल्यद नामक ग्रंथ लिखा। पेद्दना की मनुचरितम को ... प्रशंसा मिली है। दक्कनी राज्यों के विस्तार पाने के साथ ही तेलुगु भाषिक विकास में ह्रास दिखाई देता है।

...गु भाषा के पुनरोत्थान में ब्रिटिश विद्वान चार्ल्स फिलिप ब्राउन (1798-1884) का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने तेलुगु भाषा का ... तैयार करके इस भाषा को नया जीवन प्रदान किया। पारावस्तु चिन्नैया सूरी (Paravastu Chinnayya Soori, 1807-1861) ... व्याकरण लिख कर इस भाषा के रूप में स्थिरता लाने का प्रयत्न किया। तेलुगु में आधुनिकता का समावेश कंडुकेरी

Copyright- Drishti The Vision Foundation

वीरेशलिंगम (1848-1919) से माना जाता है। उनके अलावा गुर्जडा अप्पाराव, विश्वनाथ सत्यनारायण, श्रीरंगम श्रीनिवास राव, रायाप्रोलू सुब्बा राव और पुनुघंटी लक्ष्मीनरसिम्हाराव आदि के लेखन से इस भाषा को नवजीवन मिला। आधुनिक तेलुगु साहित्यकारों में उत्पल सत्यनारायणचारी, अब्बूरी छायादेवी, मुनीपल्लै राजू, गडियारम रामकृष्ण शर्मा, चिटिप्रोलू कृष्णमूर्ति, यरलागडा लक्ष्मीप्रसाद, सैयद सलीम, एम गोपाल रेड्डी, पेड्डीभोटला सुब्रह्मण्यम आदि प्रमुख हैं।

उर्दू *(Urdu)*

उर्दू भारत की नवीनतम सुगठित भाषा है। इसमें संस्कृत के शब्द बहुत कम लिये गये हैं जबकि अरबी-फारसी के शब्दों की बहुतायत पाई जाती है। संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल उर्दू की लिपि फारसी-अरबी लिपियों से प्रेरित है। उर्दू शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है। इसका आशय शाही शिविर या खेमा अथवा तंबू से है। इसे दिल्ली, उत्तरप्रदेश, आंध्र प्रदेश, जम्मू कश्मीर और बिहार में दूसरी आधिकारिक भाषा का दर्जा प्राप्त है। उर्दू पाकिस्तान की राजभाषा भी है। खड़ी बोली से साम्य रखने वाली उर्दू का उत्थान 18वीं सदी में फारसी के पतन के साथ शुरू हुआ। इस भाषा के लिए कई नामों का प्रयोग हुआ है। अमीर खुसरो ने इसको "हिंदी", "हिंदवी" अथवा "जबाने देहलवी" कहा था। इसे दक्षिण में "दकिनी" या "दक्खिनी", गुजरात में "गुजरी" (गुजराती उर्दू) कहा गया। जब कविता और विशेषतया गजल के लिए इस भाषा का प्रयोग होने लगा तो इसे "रेख्ता" (मिली-जुली बोली) कहा गया।

सूफी अमीर खुसरो ऐसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने उर्दू का प्रयोग साहित्य के लिए किया। उनके बाद इस भाषा के विकास के चिह्न दक्कन और गुजरात में दिखते हैं। दक्कन के राज्यों ने उर्दू का प्रयोग अपनी स्वाधीनता प्रकट करने और फारसी के विरोध में किया। बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह और गोलकुंडा सुल्तान मुहम्मद कुतुब कुली शाह ने स्वयं उर्दू में रचनाएँ कीं और दरबार में इस भाषा को प्रोत्साहित किया। इसके बाद भी दिल्ली की तरफ उर्दू को लेकर उत्साह नहीं था और यहाँ के लोग फारसी को साहित्य की भाषा समझते थे। लेकिन 18वीं सदी के प्रारंभ में सूफी वली दक्किनी, बहरी और सेराज के काव्य से उत्तरी भारत की इस सांस्कृतिक स्थिति में बदलाव आ गया। वली दक्किनी की रचनाओं को बहुत शोहरत मिली जिससे फारसी को ही महत्त्वपूर्ण समझे जाने की बात में काफी कमी आ गयी।

दक्षिण के उर्दू साहित्य और दिल्ली के साहित्य में प्रमुख अंतर यह था कि दक्षिण में प्रबंध काव्यों और मर्सिया (शोक कविताओं) की उन्नति हुई जबकि दिल्ली में गजल और नज्म को ज्यादा स्वीकारोक्ति मिली। मुगल बादशाह शाहआलम और बहादुर शाह जफर स्वयं उच्च कोटि के शायर थे। उस दौर में मीर दर्द (1784 ई.), मिर्जा सौदा (1785 ई.), मीर तकी मीर (1810 ई.), जौक (1852 ई.), मोमिन (1855 ई.) और गालिब (1869 ई.) ने बेहतरीन रचनाएँ कीं। दिल्ली से जुड़े इन साहित्यकारों को 'दिल्ली स्कूल' के अंतर्गत रखा गया है। उर्दू साहित्य की दूसरी धारा अवध से निकली जिसे लखनऊ या अवध स्कूल कहा गया है। मुगलों की दिनोंदिन खराब होती हालत के कारण कई शायर अवध पहुँच गये। सन् 1775 में जब लखनऊ अवध की राजधानी बनी तो यहाँ साहित्यिक गतिविधियाँ तेज हो गयीं। हिन्दी की बोली अवधी के प्रभाव से उर्दू की मिठास और बढ़ गयी। यहाँ के कवियों में आतिश (1847 ई.), नासिख (1838 ई) आदि को बहुत सराहना मिली। लखनऊ में मर्सिया और मसनवी को विशेष रूप से उन्नत करने का अवसर मिला। लखनऊ और दिल्ली स्कूलों एवं राजदरबारों वाली रचनाओं से इतर नजीर अकबराबादी जैसे लोकमानस के कवि ने जनसाधारण लोगों से संबंधित रचनाएँ लिखीं।

उर्दू गद्य को नयी धार देने वालों में पहला नाम सर सैयद अहमद खां (1817-1897 ई.) का है। उनके अलावा हाली, आजाद, नजीर अहमद और मिर्जा हादी रूसवा ने श्रेष्ठ उर्दू रचनाएँ लिखीं।

20वीं सदी में दो तरह की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। एक तरफ इकबाल, चकबस्त, प्रेमचंद की रचना में राष्ट्रवाद की झलक मिलती है तो दूसरी तरफ अमीर, दाग और दूसरे कवि अभी भी गजल पर जोर दे रहे थे। गजल लिखने का यह सिलसिला अभी भी जारी है।

समकालीन साहित्यकारों में फिराक, फैज, मजाज, हफीज, गुलजार, साहिर लुधियानवी, निदा फाजली, अहमद फराज, बशीर बद्र, वसीम बरेलवी, सैयद मोहम्मद अशरफ, शीन काफ निजाम, कृष्ण कुमार तूर अश्क, मंटो, इस्मत, अपना महत्त्व रखते हैं।

हिन्दी *(Hindi)*

हिन्दी आर्य भाषा परिवार की एक प्रमुख भाषा है, जिसकी लिपि देवनागरी है। इसका उद्भव 1100 ईस्वी में हुआ था।

देश की आजादी के बाद हिन्दी को राष्ट्र भाषा का दर्जा प्रदान किया गया।

हिन्दी साहित्य के विकास के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया गया है। पहला काल आदिकाल या वीर गाथा काल (1050 से 1375 ई.) है। इसमें हिन्दी का निश्चित स्वरूप तो नहीं मिलता लेकिन हिन्दी की बोलियों की पूर्वपीठिका जरूर दिखाई देती है। इस काल की प्रमुख रचना चंदरबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो है। दूसरा काल भक्तिकाल (1375-1700 ई.) है। इस युग में पहली बार हिन्दी की बोलियाँ स्वतंत्र रूप से साहित्य के क्षेत्र में प्रयुक्त होने लगी थीं लेकिन साहित्य के स्तर पर ब्रजभाषा और

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

अवधी ने विकास के उच्च स्तर को प्राप्त किया। इस युग में कबीरदास ने दोहे कहे तो तुलसीदास दुबे ने 'रामचरित मानस' और सूरदास ने सूरसागर जैसे काव्यों का सृजन किया। इस युग का साहित्य ईश्वर भक्ति का साहित्य है। तीसरा काल रीतिकाल या श्रृंगार काल (1700-1900 ई.) कहलाता है। इस काल में ब्रजभाषा ने अपना उत्कर्ष प्राप्त किया। इस युग में खड़ीबोली का भी पदार्पण हो जाता है। इस काल में ईश्वर और भक्ति केंद्र में है लेकिन उसमें सामंती स्वरूप आ गया है। इस काल में 'बिहारी', केशवचंद्र, मतिराम आदि प्रमुख कवि हुए। हिन्दी भाषा के आधुनिक काल की शुरूआत 19वीं सदी के अंत से वर्तमान तक मानी जाती है। इस युग में खड़ी बोली गद्य और पद्य की अपरिहार्य भाषा के रूप में विकसित हुई। हिन्दी को मानकीकरण करके उसके स्वरूप में स्थिरता लाई गयी गयी इस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रामचंद्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला आदि का हिन्दी साहित्य में अनूठा योगदान रहा।

समकालीन युग में उदय प्रकाश, निर्मला पुतुल, अनामिका, राजेन्द्र यादव, डा. धर्मवीर, श्यौराज सिंह बेचैन, नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय और वीरेन्द्र डंगवाल आदि प्रमुख साहित्यकार हैं।

संथाली *(Santali)*

संथाली, आस्ट्रोएशियाटिक भाषा परिवार की एक भाषा है, जो 'हो' और 'मुण्डारी' भाषा से सम्बन्धित है। यह भाषा बिहार, झारखण्ड, ओडिशा आदि राज्यों के संथाली आदिवासियों द्वारा बोली जाती है।

वर्ष 1925 में **पंडित रघुनाथ मुर्मु** ने संथाली के लिए एक अलग लिपि विकसित की, जो **'ओल चीकी'** (Ol chiki) या **ओल सीमित** (Ol Cemet) भी कहलाती है। पंडित रघुनाथ मुर्मु या गुरू गोमके ने अनेक विषयों पर 150 से ज्यादा पुस्तकें लिखीं, जिनमें उपन्यास, नाटक, काव्य आदि शामिल हैं। 'सिद्धू-कान्हू', बिदू चन्दन (Bidu Chandan), 'खेरवाल बीर' आदि उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

भारत की प्रमुख लिपियाँ *(Prominent Scripts of India)*

यह मान लिया गया है कि भाषा के विकास के बाद ही लिपि का विकास हुआ है। मानव को जब अपने विचार और भाव व्यक्त रखने की सुविधा की आवश्यकता होने लगी तो उसके कदम लिपि की ओर बढ़े। लिपि ने ही उसके द्वारा निकले शब्दों ध्वनियों को एक निश्चित रूप प्रदान किया जिसका परिणाम यह रहा कि विचारों या भावों को एक सुरक्षित रूप दिया जाना संभव सका और आने वाली पीढ़ियाँ या एक समूह के विचारों से अनभिज्ञ इसके समूह को विचारों से सही रूप से अवगत कराना संभव सका। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि लिपि लेखन की ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा भाषा का अस्तित्व सुरक्षित रखा जाता और जिसका प्रयोग लंबे समय तक किया जाना संभव हो सकता है।

लिपि प्रतीकों की एक व्यवस्था है। लिपि में प्रत्येक ध्वनि के लिए एक प्रतीक निश्चित होता है जो एक चिह्न या चित्र के रूप में अंकित किया जाता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि भाषा और लिपि में महत्वपूर्ण संबंध तो है लेकिन दोनों समरूप नहीं हैं। दोनों में समानता यह है कि दोनों में ध्वनि संकेतों को प्रयोग में लाया जाता है, दोनों ही विचार और भावों की अभिव्यक्ति के तरीके और दोनों ही ध्वनियों पर आधारित हैं। दोनों में असमानता यह है कि भाषा ध्वनि प्रतीकों की व्यवस्था है जबकि लिपि में लिखित रूप प्रयोग में लाए जाते हैं। भाषा का काल और स्थान से सीधा संबंध है। इसका आशय है कि भाषा में काल और स्थान परिवर्तन से बदलाव आ सकते हैं जबकि लिपि की आयु स्थान और काल के दृष्टिकोण से बहुत ज्यादा होती है। भाषा विविध ध्वनियों का समग्र रूप है, जबकि लिपि उन्हीं ध्वनियों के चिह्नों की समष्टि है। ये चिह्न रेखाओं, वर्णात्मक या गणितीय चिह्नों या चित्राकार जैसे प्रकारों से बनाये जाते हैं।

मनुष्य के सभ्य होते जाने के क्रम में उसके पास भावों की प्रचुरता होने लगी होगी लेकिन इसका अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके पास इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए चित्र बनाने के लिए कोई इसका उपाय नहीं रहा होगा। इस बात की पुष्टि गुफा चित्रों से होती है। भारत में भीमबेटका की गुफा में पाये गए शैलचित्र इसी बात का प्रमाण हैं। इससे यह माना जा सकता है कि लेखन कला की शुरूआत चित्रलिपि से हुई। इसकी खासियत यह थी कि यह बहुत सरल थी और सभी लोगों की समझ में आ सकती होगी लेकिन इसकी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि इसके पदार्थों का निरूपण तो संभव था लेकिन भावों का नहीं।

भारत में लिपि की उत्पत्ति सिन्धु घाटी सभ्यता से मानी जाती है। सिन्धु घाटी सभ्यता में लेखन कला की उपस्थिति के अनेक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। इनसे प्रमाणित होता है कि इस सभ्यता के लोग पढ़ना और लिखना जानते थे।

भारत में प्रचलित कुछ लिपियों का विवरण इस प्रकार है–

सिन्धु लिपि

सिन्धु लिपि: सिन्धु लिपि भारत की प्राचीनतम लिपि है। अनेक प्रयासों के बावजूद सिन्धु लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। सिन्धु घाटी से सेलखड़ी, मिट्टी, हाथी दाँत की अनेक वस्तुएँ मिली हैं जिन पर अनेक प्रतीक-चिह्न मिले हैं। इन चिह्नों में पशु-पक्षियों की आकृतियाँ भी शामिल हैं। इस लिपि के स्वरूप के मामले में विद्वान दो समूहों में बंटे हुए हैं। एक विद्वान समूह मानता है कि यह यूरोपीय या हिन्द आर्य (भारोपीय) परिवार की भाषा है जबकि इसका समूह मानता है कि यह द्रविड़ मूल की भाषा से संबंधित है। इसके अलावा कई और लोगों ने व्यक्तिगत प्रयासों से इसे पढ़ने का दावा किया है लेकिन इन दावों की पुष्टि नहीं हो सकती है। भाषा वैज्ञानिकों ने इसके करीब 396 चिन्हों को पहचान कर सूचीबद्ध कर दिया है। यह भी बात स्पष्ट हो चुकी है कि इसे अरबी लिपि की तरह दाएं से बाएं की ओर लिखा जाता है।

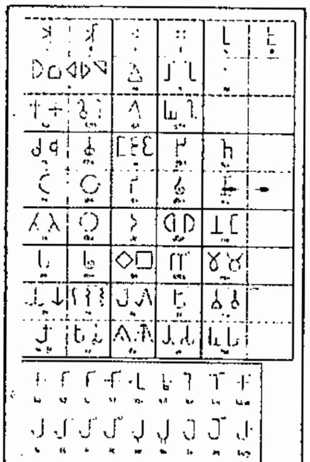

ब्राह्मी लिपि

ब्राह्मी लिपि: ब्राह्मी लिपि का प्रयोग सम्राट अशोक ने लेख लिखवाने में किया था। इस लिपि के उद्भव के बारे में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इसकी उत्पत्ति किसी विदेशी लिपि से तो कुछ किसी भारतीय भाषा की लिपि से मानते हैं। वास्तव में ब्राह्मी भारत की

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright- Drishti The Vision Foundation

अधिकांश लिपियों की जननी है। पाँचवीं सदी ईसा पूर्व से 350 ईसा पूर्व तक इसका एक रूप मिलता है लेकिन बाद में इसके दो विभाजन मिलते हैं, जिन्हें उत्तरी धारा व दक्षिणी धारा के नाम से जाना जाता है। उत्तरी धारा में गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, शारदा लिपि और प्राचीन देवनागरी को रखा गया है। जबकि दक्षिणी धारा में इसके अंतर्गत लिपियाँ विकसित हुईं- तेलुगु, कन्नड, तमिल, कलिंग, ग्रंथ, मध्यदेशी और पश्चिमी लिपि।

खरोष्ठी लिपि: अत्यन्त ही सरल, ग्रहणीय एवं दायीं से बायीं ओर लिखी जाने वाली खरोष्ठी लिपि को बैक्ट्रियन, इण्डो-बैक्ट्रियन आदि नामों से भी जाना जाता है। खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के बारे में दो धारणाएं प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इसे भारतीय मानते हैं जबकि दूसरे विदेशी। विदेशी मानने वालों का तर्क है कि इसे अरामाइक लिपि की तरह दायें से बाएं लिखा जाता है। इसका आशय हुआ कि यह अरामाइक और सीरियाई लिपि से विकसित हुई है। इस लिपि को भारतीय मानने वालों के तर्क हैं कि यह भारत के सीमांत प्रांत में विकसित हुई है। इस लिपि को बाद में बाएं से दाएं की ओर लिखा जाने लगा था। कुल 37 वर्णों वाली इस लिपि में स्वरों का अभाव था। यहाँ तक मात्राएं और संयुक्ताक्षर भी नहीं मिलते हैं।

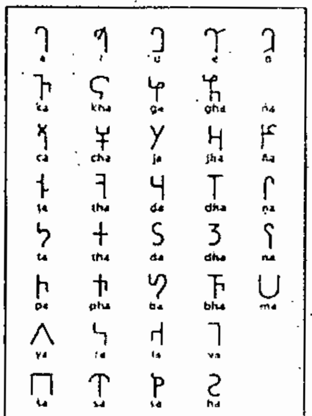

खरोष्ठी लिपि

सम्राट अशोक के जो अभिलेख मानसेहरा और शाहबाजगढ़ी से प्राप्त हुए हैं, उनमें खरोष्ठी लिपि का प्रयोग हुआ है। ये अभिलेख खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम अभिलेख माने जाते हैं। इस लिपि में यूनानियों ने अपने शासन-काल में अनेक सिक्कों पर अंकन करवाया। इस लिपि के अनेक अभिलेख प्राचीन गांधार देश से भी प्राप्त हुए हैं। यह लिपि क्षत्रप, शक, कुषाण, पल्लव आदि शासकों द्वारा भी अपनायी गयी।

कुटिल लिपि: कुटिल लिपि में अक्षरों का लेखन एक विशेष टेढ़े-मेढ़े या कुटिल ढंग से किया जाता था, इसी कारण इसे कुटिल लिपि कहा जाता है। यह लिपि छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक प्रचलन में रही। इस लिपि में अक्षरों के सिर ठोस त्रिकोण जैसे हैं, लेकिन कहीं-कहीं ये आड़ी रेखाओं से भी बने हैं।

इस लिपि में अ, आ, प, ध, त्र, य, स, ष अक्षरों का ऊपर वाला भाग दो खण्डों में विभाजित रहता है तथा प्रत्येक खण्ड का शीर्ष जुड़ा रहता है। इस लिपि के अनेक अक्षर नागरी लिपि के अनेक अक्षरों से मिलते-जुलते हैं। गुप्त लिपि का ही परिवर्तित रूप मानी जानी वाली इस लिपि को 'न्यूनकोणीय लिपि' तथा 'सिद्ध मातृका लिपि' भी कहा जाता है।

जेम्स प्रिंसेप (1799-1840): एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के संस्थापक संपादक जेम्स प्रिंसेप आधुनिक युग में प्रथम बार खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपि को पढ़ने के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने अपने काम की शुरुआत बनारस टकसाल में बतौर गुणवत्ता निरीक्षक के रूप में शुरू की थी। प्रिंसेप ने पहली बार बनारस का नक्शा तैयार करवा कर भूमिगत जलनिकासी प्रणाली की नींव रखी। इसलिए उन्हें आधुनिक बनारस का निर्माता भी कहा जाता है। उन्हें मुद्राशास्त्र, मौसम विज्ञान और धातु विज्ञान का भी गहरा ज्ञान था।

देवनागरी लिपि: देवनागरी लिपि के बारे में भी कई मत प्रचलित हैं। इस लिपि का विकास कुटिल लिपि तथा गुप्त लिपि से हुआ है।

इस लिपि को दक्षिण भारत के विजयनगर के राजाओं तथा पल्लव राजाओं ने भी अपने लेखों में प्रयुक्त किया है। उत्तरी भारत में आठवीं शताब्दी के बाद से आज तक अनेक भाषाओं में देवनागरी का प्रयोग हो रहा है। हिन्दी, मराठी, संस्कृत, भोजपुरी, नेपाली, कोंकणी, मैथिली, गढ़वाली आदि अनेक भाषाओं में आज तक देवनागरी लिपि का प्रयोग हो रहा है।

शारदा लिपि: कश्मीर राज्य की आराध्य देवी 'शारदा' के नाम पर इस लिपि को शारदा लिपि के नाम से जाना जाता है। 'सिद्ध मातृका लिपि' से विकसित मानी जाने वाली इस लिपि के अनेक अभिलेख काफी प्राचीन हैं, जो आठवीं शताब्दी से मिलने शुरू होते हैं। दसवीं शताब्दी के अभिलेख उत्तर-पूर्वी पंजाब से मिलते हैं। हिमाचल प्रदेश के चम्बा से प्राप्त अनेक अभिलेखों की लिपि शारदा लिपि है। कश्मीरी, टक्करी, लंडा, डोगरी, गुरुमुखी और कच्छ लिपि इसी की ही उपज है।

गुरुमुखी लिपि: गुरुमुखी लिपि पंजाबी भाषा में प्रयुक्त होने वाली महत्त्वपूर्ण लिपि है। सिखों के दूसरे गुरु **'गुरु अंगद'** के द्वारा इस लिपि को विकसित किया गया है। सिखों का पवित्र ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' इसी लिपि में लिखा गया है।

गुरुमुखी लिपि मुख्य रूप से पंजाब में प्रयोग की जाती है, परन्तु यह हरियाणा, जम्मू व कश्मीर, हिमाचल, दिल्ली आदि राज्यों के कुछ हिस्सों में भी प्रचलित है।

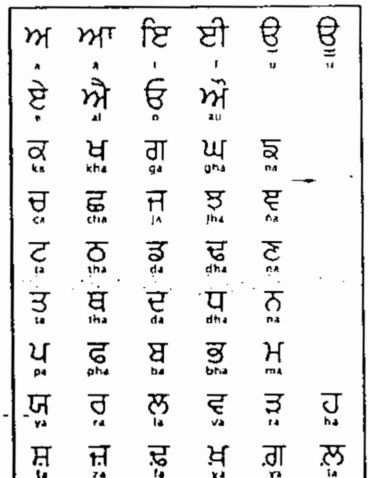

गुरुमुखी लिपि

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

कलिंग लिपि: नवीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी के बीच कलिंग राज्य में जिस लिपि का प्रयोग हुआ, उसे कलिंग लिपि के नाम से जाना जाता है। कलिंग राज्य के गंग वंश के राजाओं ने इस लिपि को प्रयुक्त किया। इस लिपि के आरम्भिक लेखों में दक्षिण भारतीय तथा मध्यदेशीय प्रभाव देखने को मिलता है। आरम्भिक काल में अक्षर समकोणीय दिखायी देते हैं, परन्तु कालान्तर में कन्नड़ तथा तेलुगु लिपि के प्रभाव के कारण ये गोलाकार हो गए।

गुजराती लिपि: यह लिपि सम्पूर्ण गुजरात में प्रयोग में लायी जाती है। यह लिपि देवनागरी लिपि से विकसित हुई है। प्रारम्भ में इस लिपि के अक्षरों के सिरों पर रेखाएँ दिखाई देती थीं, परन्तु बाद में अक्षरों के सिरों पर रेखाएँ दिखायी नहीं देती हैं।

ग्रन्थ लिपि: दक्षिण भारत के तमिलनाडु के अर्काट, मदुरै, सलेम, तिरुचिरापल्ली, तिरुनेलवेल्ली, में यह लिपि व्यापक रूप से प्रचलित है। इस लिपि का दक्षिण भारत के पल्लव, पाण्डय एवं चोल शासकों ने अपने अनेक अभिलेखों में प्रयोग किया है। महाबलीपुरम् में धर्मराज रथ पर ग्रन्थ लिपि में विवरण अंकित किए गये हैं। ग्रन्थ लिपि का एक अन्य नाम 'पल्लव ग्रन्थ लिपि' भी है। राजसिंह द्वारा बनवाये गये कैलाश मन्दिर पर उत्कीर्ण शिलालेख ग्रन्थ लिपि का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

मलयालम लिपि: मलयालम लिपि केरल की भाषा मलयालम की लिपि है। लिपिविदों के अनुसार मलयालम लिपि ग्रन्थ लिपि से उपजी है क्योंकि इस पर ग्रन्थ लिपि का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।

तेलुगु एवं कन्नड़ लिपि: इन दोनों लिपियों में अनेक समानताओं के आधार पर माना जाता है कि इनका उद्भव एक ही स्रोत से हुआ है। इन दोनों लिपियों का वर्णन चालुक्यकालीन अभिलेखों में मिलता है। **हलेबिड** शिलालेख को इस लिपि का प्राचीनतम अभिलेख माना जाता है। इस लिपि को तेरहवीं सदी में 'आन्ध्र लिपि' भी कहा गया। बाद में यह लिपि विभाजित होकर स्वतन्त्र रूप से 'तेलुगु लिपि' तथा 'कन्नड़ लिपि' में विकसित हुई।

मोडी लिपि: मोडी लिपि का प्रचलन यदुवंशीय शासन के महामंत्री हेमाद्रि द्वारा किया गया था। इस लिपि को शीघ्रता के साथ लिखा जाता था जिसके कारण अक्षरों में तोड़-मरोड़ दिखायी देती थी, इसीलिए इस लिपि को मोडी लिपि कहा जाता है। शिवाजी और अन्य पेशवाओं के काल में यह लिपि काफी लोकप्रिय हुई। 1950 से पहले तक 'मराठी' को इसी लिपि में लिखा जाता रहा था।

मैथिली लिपि : इसे तिरहुता या मिथिलाक्षर कहा जाता है। यह बंगला भाषा की लिपि के काफ़ी करीब है। इसे बिहार के अलावा नेपाल, पश्चिम बंगाल, झारखण्ड में प्रयोग किया जाता है।

शुरू मे परमेश्वर आकाश और पृथ्वीक सृष्टि कयलन्हि। पृथ्वी बिना-आकारक और सून-सान छल। अथाह जलक ऊपर अन्हार छल, और परमेश्वरक आत्मा जलक ऊपर मँड़राइत छलन्हि।

तखन परमेश्वर कहलन्हि, "इजोत होअय!" और इजोत भऽ गेल। परमेश्वर इजोत कें देखलन्हि जे ओ नीक अछि। इजोत कें अन्हार सँ अलग कयलन्हि, और इजोत कें "दिन" और अन्हार कें "राति" नाम देलन्हि। साँझ भेल, फेर भोर भेल, और एहिना पहिल दिन भऽ गेल।

तखन परमेश्वर कहलन्हि, "जलक मध्य मे एहन अन्तर होअय जे जल दू भाग भऽ जाय।" परमेश्वर एक अन्तर बना कऽ ओकरा सँ ऊपरक जल और ओकरा सँ नीचाक जल कें अलग-अलग कयलन्हि। तहिना भेयो गेल। एहि अन्तर कें परमेश्वर "आकाश" नाम देलन्हि। साँझ भेल, फेर भोर भेल, और एहिना दोसर दिन भऽ गेल।

मैथिली लिपि

बांग्ला लिपि: यह बांग्ला भाषा की लिपि है। पूर्वी भारत से उपलब्ध ग्यारहवीं शताब्दी के अभिलेखों में इस लिपि की झलक दिखायी देती है। बारहवीं शताब्दी में इसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त हुआ और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन इसी लिपि में किया गया।

तमिल लिपि : इस लिपि का विकास ईसा की सातवीं सदी में होना प्रारंभ हुआ। ग्रंथ लिपि और तमिल लिपि में काफी समानताएं मिलती हैं।

शाहमुखी लिपि : इसे सबसे पहले पंजाब के सूफियों ने इस्तेमाल किया। इसे ईरानी लिपि के पंजाबी संस्करण के तौर पर भी देखा जाता है। भारत के बँटवारे से पहले तक इस लिपि को पाकिस्तान के पंजाब प्रांत का आधिकारिक दर्जा हासिल था।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-10

धर्म *(Religion)*

धर्म का अर्थ *(Meaning of Religion)*

'धर्म' की अवधारणा व्यापक है। धर्म शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'धृ' धातु से मानी जाती है जिसका अर्थ है 'धारण करना'। जो कुछ भी धारण करने योग्य है, वही धर्म है। विस्तृत अर्थ में धर्म शब्द का आशय 'कर्तव्यपालन' या 'अभ्युदय' से है। हिन्दू धर्म के धार्मिक ग्रंथों में मनुष्य को उसके धर्म का पालन करने पर जोर दिया गया है। इन ग्रंथों में मनुष्य से यही अपेक्षा की गई है कि वह अपने धर्म यानी नैतिक कर्तव्यों का पालन करे। जैनों ने धर्म शब्द का अर्थ 'विशेषता' से लगाया है। जैन दार्शनिक ग्रंथों में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्म होते हैं यानी प्रत्येक वस्तु की असंख्य विशेषताएँ होती हैं। बौद्धों ने सत्ता की व्याख्या चेतन और अचेतन धर्मों के रूप में की है। धर्म शब्द को अंग्रेजी के 'रिलीजन' (Religion) के समानार्थी माना गया है। इसमें 'रि' (Re) शब्द का आशय 'दोबारा' और लीजन (Ligion) का 'बाँधने' से है। यानी रिलीजन का अर्थ हुआ 'दोबारा से बाँधना'। यह 'बाँधना' आत्मा का परमात्मा से जुड़ने के रूप में देखा गया है। इस प्रकार रिलीजन वह अभिवृत्ति है जो अलौकिक सत्ताओं को मनुष्य के साथ भावनाओं और क्रियाओं के स्तर पर जोड़ती है। कुछ समाजशास्त्रियों जैसे पार्सन्स और दुर्खीम आदि ने कहा कि विभिन्न समाजों में मनुष्य का जीवन व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए कुछ विश्वास, कर्मकांड और संस्थाएँ बनाई गयीं हैं, जिनको सम्मिलित रूप से धर्म कहा जा सकता है। उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में धर्म को इस प्रकार परिभाषित करने का प्रयास किया जा सकता है–

"धर्म एक व्यापक अभिवृत्ति है, जिसमें किसी अलौकिक शक्ति या अवस्था में विश्वास, मनुष्य की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति, कर्मकांड, नैतिक आचरण आदि पक्षों पर बल दिया जाता है तथा यह मनुष्य के जीवन पर गहरा प्रभाव डालता है।"

धर्म के प्रकार *(Types of Religion)*

विश्व के सभी धर्मों को अध्ययन की सुविधा के लिए प्रायः तीन वर्गों में बाँटा गया है। इनमें पहला प्रकार 'आदिम या प्रारंभिक' (Primitive Religion) धर्म का है। ये ऐसे धर्म होते हैं जिन्हें मानव ने इतिहास के उस कालखंड में निर्मित किया जब वह सभ्यता के प्रारंभिक चरणों से गुजर रहा था। तब मनुष्य जंगलों, पहाड़ों आदि जगहों पर झुंड बनाकर रहता था। उसने अपनी आवश्यकताओं, सुरक्षा और भय जैसी समस्याओं के समाधान के लिए कुछ नियम बनाये। तब उसके विचार में ईश्वर, स्वर्ग, कर्मफल जैसी धारणाएँ विकसित रूप में नहीं थीं। इस वर्ग में जीववाद, मानववाद, प्राणवाद, टोटमवाद आदि धारणाओं वाले धर्मों को रखा गया है। दूसरा वर्ग प्राकृतिक धर्मों (Naturalistic Religion) का है। ये धर्म मनुष्य की सभ्यता के विकास के दूसरे चरण में विकसित हुये। इस युग में मनुष्य में तार्किकता का विकास अपेक्षाकृत अधिक हुआ। नतीजतन वह 'ईश्वर' आदि धारणाओं का प्रयोग करने लगा और उसने प्रकृति की शक्तियों को ईश्वर जैसा महत्त्व दे दिया। प्रकृति में एकाधिक तत्त्वों की भूमिका के कारण इस वर्ग में अनेकेश्वरवाद की प्रवृत्ति मुख्य तौर पर दिखाई देती है। इस वर्ग में ताओ धर्म, वैदिक धर्म, बेबीलोनिया का धर्म, मिस्र का धर्म, शिंतो धर्म, ग्रीक धर्म, रोमन धर्म और बीसवीं सदी के मानववादी और अन्य प्रकृतिवादी धर्मों को रखा गया है। तीसरे वर्ग में आध्यात्मिक धर्म (Spiritual Religion) आते हैं। ये धर्म अपनी उच्च विकास अवस्था को दर्शाते हैं। इनमें वे धर्म आते हैं जो जगत की व्याख्या परम आध्यात्मिक सत्ता या ईश्वर के आधार पर करते हैं। इन धर्मों में सामान्यतः एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति दिखती है। इनमें इस्लाम, यहूदी, सिख और ईसाई आदि धर्मों को रखा गया है। पारसी और हिन्दू धर्म में यही प्रवृत्ति दिखती है लेकिन इन धर्मों में एक ईश्वर को उतना महत्त्व नहीं दिया गया है जितना इस्लाम, यहूदी, ईसाई आदि धर्मों में।

हमारे देश में कई प्रकार के धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं यानी भारत धार्मिक बहुलताओं का देश है। यहाँ हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, जैन, सिख, पारसी और यहूदी जैसे विकसित धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। इसके अलावा देश में आदिवासियों के धर्म 'सरना' को मानने वालों की बड़ी संख्या है। देश में ऐसे लोग भी बहुतायत में हैं जो किसी धर्म में विश्वास नहीं रखते और स्वयं को धार्मिक व्यवस्था से अलग रखते हैं। देश में प्रचलित मुख्य धर्मों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है:

हिन्दू धर्म *(Hindu Religion)*

इस धर्म का कोई प्रवर्तक नहीं है। यह धर्म सदियों से चली आ रही पद्धतियों की एक व्यवस्था की तरह विकसित हुआ है। इसलिए इसकी शुरुआत के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू धर्म को उसके विश्वासों, धर्मग्रंथों, पूजा के तरीकों आदि विशेषताओं से पहचाना जाता है। हिन्दू धर्म को मानने वाले लोग जाति, वर्ण व्यवस्था, चार आश्रमों, 16 संस्कारों जैसे

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

सामाजिक विश्वासों, वेद एवं अन्य धार्मिक ग्रंथों, साकार ईश्वर एवं उसके अवतारों में विश्वास रखते हैं। इस धर्म के विश्वासों को पहली चुनौती बौद्ध और जैन धर्म एवं उनके समकालीन कुछ संप्रदायों जैसे आजीवक आदि से मिली। इस्लाम, सिख और ईसाई धर्म ने इसके अनुयायियों को अपनी सादगी और समानता के सिद्धांत से प्रभावित किया। उदार इस्लाम के समर्थक सूफी आदि के प्रयासों से हिन्दू धर्म का इस्लाम से ज्यादा संपर्क हुआ। अंग्रेजों के आगमन के बाद हिन्दू धर्म में एक नयी हलचल शुरू हुई। यह प्रक्रिया दो स्तरों पर देखी गयी। एक स्तर पर पुनरुत्थानवादी संगठन जैसे आर्यसमाज आदि सामने आये और दूसरे स्तर पर इसमें सुधारवादी आंदोलन जैसे ब्रह्म समाज आदि स्थापित हुये। अंग्रेजों के शासन एवं शिक्षा की नई व्यवस्था के चलते बीसवीं सदी में हिन्दू धर्म में सदियों से चली आ रही जाति व्यवस्था पर गहरा असंतोष उभरा और डॉ. भीमराव अम्बेडकर जैसे विद्वानों ने हिन्दू धर्म त्यागने और बौद्ध धर्म अपनाने की घोषणा की। दूसरी तरफ महात्मा गाँधी ने हिन्दू धर्म में व्यापक सुधारों की वकालत की।

हिन्दू धर्म में प्रचलित विश्वासों का संक्षिप्त रूप में बिंदुवार विवरण इस प्रकार है।

1. हिन्दू धर्म को मानने वाले लोग आश्रम व्यवस्था में विश्वास करते हैं। इसमें मनुष्य की आयु को 100 वर्ष मानते हुए 25-25 वर्ष के चार विभाजन किये गये हैं। पहला विभाजन 'ब्रह्मचर्य आश्रम' कहलाता है जो कि जन्म से 25 वर्ष तक चलता है। इस आयु तक व्यक्ति विद्यार्जन करता है। दूसरा विभाजन 'गृहस्थ आश्रम' कहलाता है जो आयु के 25वें वर्ष से शुरू होकर 50वें वर्ष तक चलता है। इसमें व्यक्ति सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करते हुए सांसारिक जीवन व्यतीत करता है। तीसरा विभाजन वानप्रस्थ या वैखानस आश्रम कहलाता है जो कि 50वें वर्ष से प्रारम्भ होकर 75 वर्ष की आयु तक माना जाता है। इस काल में व्यक्ति सामाजिक दायित्वों से मुक्त होकर वन में एकांत जीवन बिताते हुए आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास करता है। चौथा आश्रम 'संन्यास आश्रम' है जो 75वें वर्ष से शुरू होकर जीवन के अंतिम वर्षों तक चलता है। इसमें व्यक्ति का उद्देश्य मोक्ष यानी जन्म-मरण चक्र से मुक्ति प्राप्त करना होता है।
2. हिन्दू धर्म के लोग मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए चार प्रकार के पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में विश्वास रखते हैं। यहाँ धर्म का आशय नैतिक कर्तव्यों के समुच्चय से, अर्थ का आशय आर्थिक गतिविधियों, काम का आशय देह-संबंधी आवश्यकताओं और मोक्ष पुरुषार्थ का आशय जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने से है।
3. हिन्दू धर्म में व्यक्ति को सुसंस्कृत और अनुशासित बनाने के लिए 16 संस्कारों की कल्पना की गई है। पहला संस्कार 'गर्भाधान' है। इसमें व्यक्ति संतान की कामना से स्त्री से संबंध स्थापित करता है। दूसरा संस्कार 'पुंसवन' है। गर्भ के तीसरे महीने में संपन्न होने वाले इस संस्कार का उद्देश्य पुत्र प्राप्ति होता है। तीसरा संस्कार सीमांतोन्नयन है। गर्भ के चौथे महीने में होने वाले इस संस्कार में गर्भवती स्त्री की विघ्न बाधाओं से रक्षा के लिए उसके केशों को ऊपर उठाया जाता है। चौथा संस्कार जातकर्म है। पुत्र जन्म के समय नाल काटने के पहले यह संस्कार किया जाता है। पाँचवाँ संस्कार 'नामकरण' या 'नामधेय' है जिसमें बच्चे को एक नाम प्रदान किया जाता है। छठा संस्कार निष्क्रमण कहलाता है। इसमें संतान को पहली बार घर से बाहर निकाला जाता है। सातवाँ संस्कार 'अन्नप्राशन' है। इसमें बच्चे को पहली बार अन्न ग्रहण कराया जाता है। आठवाँ संस्कार 'चौल या चूड़ाकरण' है जो कि शिशु के बाल पहली बार काटने पर आयोजित होता है। नौवाँ संस्कार 'कर्णवेध' है जो कि जन्म के सातवें महीने में आयोजित होता है और उसमें बच्चे का कान छेदा जाता है। दसवाँ संस्कार 'विद्यारंभ' या शिक्षा के प्रारंभ का है, जो कि उम्र के पाँचवें वर्ष में संपन्न होता है। ग्यारहवाँ संस्कार 'उपनयन या यज्ञोपवीत' संस्कार है। यह बालक का आचार्य के पास अध्ययन के लिए जाने के पहले संपन्न किया जाता था। बारहवाँ संस्कार वेदारंभ है जो कि वेद अध्ययन शुरू करने पर होता है। तेरहवाँ संस्कार 'केशांत' यानी दाढ़ी-मूँछ को पहली बार कटवाने पर संपन्न होता था। चौदहवाँ संस्कार 'समावर्तन' शिक्षा समाप्ति के बाद ब्रह्मचारी छात्र के गृह की ओर प्रस्थान करने पर संपन्न होता था। पंद्रहवाँ संस्कार 'विवाह' और सोलहवाँ संस्कार 'अन्त्येष्टि' है जो मनुष्य के मरने पर उसकी अंतिम क्रिया के संपन्न होने पर होता है। ये संस्कार केवल द्विज पुरुषों से ही संबंधित हैं। स्त्री और दलितों को संस्कार व्यवस्था से दूर रखा गया है।
4. हिन्दू समाज वर्ण और जातिगत भेदों में विश्वास रखता है। ये चार वर्ण क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। एक विचार के अनुसार जातियाँ इन्हीं वर्णों का स्तरीकृत विभाजन हैं। ये चारों वर्ण और उनसे पहचान रखने वाली जातियाँ परस्पर विवाह, भोजन आदि से जुड़े निषेधों का पालन करती हैं। इस वंशानुगत व्यवस्था में वर्णों एवं जातियों की स्थायी प्रकृति के कार्य भी निर्धारित कर दिये गये हैं। जन्म पर आधारित होने के कारण इन्हें बदला नहीं जा सकता। मनुस्मृति और अन्य धार्मिक ग्रंथों के अनुसार ब्राह्मण का कार्य अध्ययन एवं अध्यापन, क्षत्रियों का कार्य सुरक्षा प्रदान करना, वैश्यों का कार्य व्यापार करना और शूद्र का कार्य उपर्युक्त तीन वर्णों की सेवा करना है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-10

धर्म *(Religion)*

धर्म का अर्थ *(Meaning of Religion)*

'धर्म' की अवधारणा व्यापक है। धर्म शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'धृ' धातु से मानी जाती है जिसका अर्थ है 'धारण करना'। जो कुछ भी धारण करने योग्य है, वही धर्म है। विस्तृत अर्थ में धर्म शब्द का आशय 'कर्तव्यपालन' या 'अभ्युदय' से है। हिन्दू धर्म के धार्मिक ग्रंथों में मनुष्य को उसके धर्म का पालन करने पर जोर दिया गया है। इन ग्रंथों में मनुष्य से यही अपेक्षा की गई है कि वह अपने धर्म यानी नैतिक कर्तव्यों का पालन करे। जैनों ने धर्म शब्द का अर्थ 'विशेषता' से लगाया है। जैन दार्शनिक ग्रंथों में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्म होते हैं यानी प्रत्येक वस्तु की असंख्य विशेषताएँ होती हैं। बौद्धों ने सत्ता की व्याख्या चेतन और अचेतन धर्मों के रूप में की है। धर्म शब्द को अंग्रेजी के 'रिलीजन' (Religion) के समानार्थी माना गया है। इसमें 'रि' (Re) शब्द का आशय 'दोबारा' और लीजन (Ligion) का 'बाँधने' से है। यानी रिलीजन का अर्थ हुआ 'दोबारा से बाँधना'। यह 'बाँधना' आत्मा का परमात्मा से जुड़ने के रूप में देखा गया है। इस प्रकार रिलीजन वह अभिवृत्ति है जो अलौकिक सत्ताओं को मनुष्य के साथ भावनाओं और क्रियाओं के स्तर पर जोड़ती है। कुछ समाजशास्त्रियों जैसे पार्सन्स और दुर्खीम आदि ने कहा कि विभिन्न समाजों में मनुष्य का जीवन व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए कुछ विश्वास, कर्मकांड और संस्थाएँ बनाई गयीं हैं, जिनको सम्मिलित रूप से धर्म कहा जा सकता है। उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में धर्म को इस प्रकार परिभाषित करने का प्रयास किया जा सकता है——

"धर्म एक व्यापक अभिवृत्ति है, जिसमें किसी अलौकिक शक्ति या अवस्था में विश्वास, मनुष्य की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति, कर्मकांड, नैतिक आचरण आदि पक्षों पर बल दिया जाता है तथा यह मनुष्य के जीवन पर गहरा प्रभाव डालता है।"

धर्म के प्रकार *(Types of Religion)*

विश्व के सभी धर्मों को अध्ययन की सुविधा के लिए प्राय: तीन वर्गों में बाँटा गया है। इनमें पहला प्रकार 'आदिम या प्रारंभिक' (Primitive Religion) धर्म का है। ये ऐसे धर्म होते हैं जिन्हें मानव ने इतिहास के उस कालखंड में निर्मित किया जब वह सभ्यता के प्रारंभिक चरणों से गुजर रहा था। तब मनुष्य जंगलों, पहाड़ों आदि जगहों पर झुंड बनाकर रहता था। उसने अपनी आवश्यकताओं, सुरक्षा और भय जैसी समस्याओं के समाधान के लिए कुछ नियम बनाये। तब उसके विचार में ईश्वर, स्वर्ग, कर्मफल जैसी धारणाएँ विकसित रूप में नहीं थीं। इस वर्ग में जीववाद, मानववाद, प्राणवाद, टोटमवाद आदि धारणाओं वाले धर्मों को रखा गया है। दूसरा वर्ग प्राकृतिक धर्मों (Naturalistic Religion) का है। ये धर्म मनुष्य की सभ्यता के विकास के दूसरे चरण में विकसित हुये। इस युग में मनुष्य में तार्किकता का विकास अपेक्षाकृत अधिक हुआ। नतीजतन वह 'ईश्वर' आदि धारणाओं का प्रयोग करने लगा और उसने प्रकृति की शक्तियों को ईश्वर जैसा महत्त्व दे दिया। प्रकृति में एकाधिक तत्वों की भूमिका के कारण इस वर्ग में अनेकेश्वरवाद की प्रवृत्ति मुख्य तौर पर दिखाई देती है। इस वर्ग में ताओ धर्म, वैदिक धर्म, बेबीलोनिया का धर्म, मिस्र का धर्म, शिंतो धर्म, ग्रीक धर्म, रोमन धर्म और बीसवीं सदी के मानववादी और अन्य प्रकृतिवादी धर्मों को रखा गया है। तीसरे वर्ग में आध्यात्मिक धर्म (Spiritual Religion) आते हैं। ये धर्म अपनी उच्च विकास अवस्था को दर्शाते हैं। इनमें वे धर्म आते हैं जो जगत की व्याख्या परम आध्यात्मिक सत्ता या ईश्वर के आधार पर करते हैं। इन धर्मों में सामान्यत: एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति दिखती है। इनमें इस्लाम, यहूदी, सिख और ईसाई आदि धर्मों को रखा गया है। पारसी और हिन्दू धर्म में यही प्रवृत्ति दिखती है लेकिन इन धर्मों में एक ईश्वर को उतना महत्त्व नहीं दिया गया है जितना इस्लाम, यहूदी, ईसाई आदि धर्मों में।

हमारे देश में कई प्रकार के धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं यानी भारत धार्मिक बहुलताओं का देश है। यहाँ हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, जैन, सिख, पारसी और यहूदी जैसे विकसित धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। इसके अलावा देश में आदिवासियों के धर्म 'सरना' को मानने वालों की बड़ी संख्या है। देश में ऐसे लोग भी बहुतायत में हैं जो किसी धर्म में विश्वास नहीं रखते और स्वयं को धार्मिक व्यवस्था से अलग रखते हैं। देश में प्रचलित मुख्य धर्मों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है:

हिन्दू धर्म *(Hindu Religion)*

इस धर्म का कोई प्रवर्तक नहीं है। यह धर्म सदियों से चली आ रही पद्धतियों की एक व्यवस्था की तरह विकसित हुआ है। इसलिए इसकी शुरुआत के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू धर्म को उसके विश्वासों, धर्मग्रंथों, पूजा के तरीकों आदि विशेषताओं से पहचाना जाता है। हिन्दू धर्म को मानने वाले लोग जाति, वर्ण व्यवस्था, चार आश्रमों, 16 संस्कारों जैसे

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

सामाजिक विश्वासों, वेद एवं अन्य धार्मिक ग्रंथों, साकार ईश्वर एवं उसके अवतारों में विश्वास रखते हैं। इस धर्म के विश्वासों को पहली चुनौती बौद्ध और जैन धर्म एवं उनके समकालीन कुछ संप्रदायों जैसे आजीवक आदि से मिली। इस्लाम, सिख और ईसाई धर्म ने इसके अनुयायियों को अपनी सादगी और समानता के सिद्धांत से प्रभावित किया। उदार इस्लाम के समर्थक सूफी आदि के प्रयासों से हिन्दू धर्म का इस्लाम से ज्यादा संपर्क हुआ। अंग्रेजों के आगमन के बाद हिन्दू धर्म में एक नयी हलचल शुरू हुई। यह प्रक्रिया दो स्तरों पर देखी गयी। एक स्तर पर पुनरुत्थानवादी संगठन जैसे आर्यसमाज आदि सामने आये और दूसरे स्तर पर इसमें सुधारवादी आंदोलन जैसे ब्रह्म समाज आदि स्थापित हुये। अंग्रेजों के शासन एवं शिक्षा की नई व्यवस्था के चलते बीसवीं सदी में हिन्दू धर्म में सदियों से चली आ रही जाति व्यवस्था पर गहरा असंतोष उभरा और डॉ. भीमराव अम्बेडकर जैसे विद्वानों ने हिन्दू धर्म त्यागने और बौद्ध धर्म अपनाने की घोषणा की। दूसरी तरफ महात्मा गाँधी ने हिन्दू धर्म में व्यापक सुधारों की वकालत की।

हिन्दू धर्म में प्रचलित विश्वासों का संक्षिप्त रूप में बिंदुवार विवरण इस प्रकार है।

1. हिन्दू धर्म को मानने वाले लोग आश्रम व्यवस्था में विश्वास करते हैं। इसमें मनुष्य की आयु को 100 वर्ष मानते हुए 25-25 वर्ष के चार विभाजन किये गये हैं। पहला विभाजन 'ब्रह्मचर्य आश्रम' कहलाता है जो कि जन्म से 25 वर्ष तक चलता है। इस आयु तक व्यक्ति विद्यार्जन करता है। दूसरा विभाजन 'गृहस्थ आश्रम' कहलाता है जो आयु के 25वें वर्ष से शुरू होकर 50वें वर्ष तक चलता है। इसमें व्यक्ति सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करते हुए सांसारिक जीवन व्यतीत करता है। तीसरा विभाजन वानप्रस्थ या वैखानस आश्रम कहलाता है जो कि 50वें वर्ष से प्रारम्भ होकर 75 वर्ष की आयु तक माना जाता है। इस काल में व्यक्ति सामाजिक दायित्वों से मुक्त होकर वन में एकांत जीवन बिताते हुए आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास करता है। चौथा आश्रम 'संन्यास आश्रम' है जो 75वें वर्ष से शुरू होकर जीवन के अंतिम वर्षों तक चलता है। इसमें व्यक्ति का उद्देश्य मोक्ष यानी जन्म-मरण चक्र से मुक्ति प्राप्त करना होता है।
2. हिन्दू धर्म के लोग मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए चार प्रकार के पुरुषार्थों— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में विश्वास रखते हैं। यहाँ धर्म का आशय नैतिक कर्तव्यों के समुच्चय से, अर्थ का आशय आर्थिक गतिविधियों, काम का आशय देह-संबंधी आवश्यकताओं और मोक्ष पुरुषार्थ का आशय जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने से है।
3. हिन्दू धर्म में व्यक्ति को सुसंस्कृत और अनुशासित बनाने के लिए 16 संस्कारों की कल्पना की गई है। पहला संस्कार 'गर्भाधान' है। इसमें व्यक्ति संतान की कामना से स्त्री से संबंध स्थापित करता है। दूसरा संस्कार 'पुंसवन' है। गर्भ के तीसरे महीने में संपन्न होने वाले इस संस्कार का उद्देश्य पुत्र प्राप्ति होता है। तीसरा संस्कार सीमांतोन्नयन है। गर्भ के चौथे महीने में होने वाले इस संस्कार में गर्भवती स्त्री की विघ्न बाधाओं से रक्षा के लिए उसके केशों को ऊपर उठाया जाता है। चौथा संस्कार जातकर्म है। पुत्र जन्म के समय नाल काटने के पहले यह संस्कार किया जाता है। पाँचवाँ संस्कार 'नामकरण' या 'नामधेय' है जिसमें बच्चे को एक नाम प्रदान किया जाता है। छठा संस्कार निष्क्रमण कहलाता है। इसमें संतान को पहली बार घर से बाहर निकाला जाता है। सातवाँ संस्कार 'अन्नप्राशन' है। इसमें बच्चे को पहली बार अन्न ग्रहण कराया जाता है। आठवाँ संस्कार 'चौल या चूड़ाकरण' है जो कि शिशु के बाल पहली बार काटने पर आयोजित होता है। नौवाँ संस्कार 'कर्णवेध' है जो कि जन्म के सातवें महीने में आयोजित होता है और उसमें बच्चे का कान छेदा जाता है। दसवाँ संस्कार 'विद्यारंभ' या शिक्षा के प्रारंभ का है, जो कि उम्र के पाँचवें वर्ष में संपन्न होता है। ग्यारहवाँ संस्कार 'उपनयन या यज्ञोपवीत' संस्कार है। यह बालक का आचार्य के पास अध्ययन के लिए जाने के पहले संपन्न किया जाता था। बारहवाँ संस्कार वेदारंभ है जो कि वेद अध्ययन शुरू करने पर होता है। तेरहवाँ संस्कार 'केशांत' यानी दाढ़ी-मूँछ को पहली बार कटवाने पर संपन्न होता था। चौदहवाँ संस्कार 'समावर्तन' शिक्षा समाप्ति के बाद ब्रह्मचारी छात्र के गृह की ओर प्रस्थान करने पर संपन्न होता था। पंद्रहवाँ संस्कार 'विवाह' और सोलहवाँ संस्कार 'अन्त्येष्टि' है जो मनुष्य के मरने पर उसकी अंतिम क्रिया के संपन्न होने पर होता है। ये संस्कार केवल द्विज पुरुषों से ही संबंधित हैं। स्त्री और दलितों को संस्कार व्यवस्था से दूर रखा गया है।
4. हिन्दू समाज वर्ण और जातिगत भेदों में विश्वास रखता है। ये चार वर्ण क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। एक विचार के अनुसार जातियाँ इन्हीं वर्णों का स्तरीकृत विभाजन हैं। ये चारों वर्ण और उनसे पहचान रखने वाली जातियाँ परस्पर विवाह, भोजन आदि से जुड़े निषेधों का पालन करती हैं। इस वंशानुगत व्यवस्था में वर्णों एवं जातियों की स्थायी प्रकृति के कार्य भी निर्धारित कर दिये गये हैं। जन्म पर आधारित होने के कारण इन्हें बदला नहीं जा सकता। मनुस्मृति और अन्य धार्मिक ग्रंथों के अनुसार ब्राह्मण का कार्य अध्ययन एवं अध्यापन, क्षत्रियों का कार्य सुरक्षा प्रदान करना, वैश्यों का कार्य व्यापार करना और शूद्र का कार्य उपर्युक्त तीन वर्णों की सेवा करना है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

5. हिन्दू धर्म के उपासक ईश्वर की सत्ता, कर्म नियम, आत्मा की अमरता, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, धार्मिक ग्रंथों जैसे वेद, पुराण, उपनिषदों, रामायण आदि में आस्था रखते हैं। कर्म नियम का आशय यह है कि मनुष्य को उसके कर्मों का फल अवश्य मिलता है। हिन्दू उपासक मानता है कि प्रत्येक शरीर में आत्मा है। शरीर नष्ट होता है लेकिन आत्मा नहीं। आत्मा अजर यानी वृद्धावस्था से परे और अमर यानी मर नहीं सकती है।
6. हिन्दू धर्मावलंबी समाज फाल्गुन महीने में होली और शिवरात्रि, कार्तिक महीने में करवा चौथ, दीपावली, अन्नकूट और भाईदूज, भाद्रपक्ष में जन्माष्टमी, श्रावण महीने में रक्षाबंधन, तीज एवं नाग पंचमी; आश्विन महीने में दशहरा, चैत्र महीने में रामनवमी, 14 जनवरी को मकर संक्रांति, माघ में वसंत पंचमी; वैशाख में अक्षय तृतीया या तीज आदि पर्व बहुत धूमधाम और हर्षोल्लास के साथ मनाता है।
7. हिन्दुओं में बहिर्गोत्रीय एवं अंतर्जातिय विवाह करने का प्रचलन है। हिन्दू धार्मिक ग्रंथों में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। पहले प्रकार का विवाह ब्रह्म विवाह कहलाता है। इसमें व्यक्ति विद्वता, सामर्थ्य एवं चरित्र की दृष्टि से योग्य वर के साथ कन्या का विवाह निश्चित करता है। दूसरे प्रकार का विवाह 'दैव विवाह' है। इसमें पुरोहित को वस्त्र एवं आभूषणों से युक्त कन्या प्रदान की जाती है। तीसरे प्रकार का विवाह आर्ष विवाह है। इसमें कन्या के पिता को गाय-बैल भेंट स्वरूप दिये जाते हैं। चौथे प्रकार का विवाह 'प्रजापत्य' है। इसमें वधु का पिता वर-वधु को आदेश देता है कि दोनों साथ-साथ रह कर संपूर्ण जीवन में धर्म का आचरण करें। पाँचवां प्रकार 'असुर विवाह' है। इसमें कन्या के पिता को मूल्य (आर्थिक रूप से) देकर या कन्या को खरीद कर विवाह किया जाता है। छठा प्रकार 'गंधर्व विवाह' है। इसमें वर-वधू की आपसी सहमति से विवाह होता है। सातवाँ विवाह 'राक्षस विवाह' है। इसमें बलात तरीके से किये जाने वाले विवाह को रखा गया है। आठवें एवं अंतिम प्रकार के विवाह को पैशाच विवाह कहा गया है। इसमें कन्या के साथ दुष्कर्म करने के बाद किये जाने वाले विवाह को रखा गया है। पहले चार प्रकारों को प्रशसनीय जबकि शेष चार को निकृष्ट माना गया है।–
8. हिन्दू समाज के धार्मिक ग्रंथों में चार वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद सहित ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, छह वेदांगों, पुराणों और स्मृतियों को रखा गया है। हिन्दू धर्म के प्रमुख सप्रदायों के नाम वैष्णव, शैव और शाक्त हैं। इन संप्रदायों में भी कई प्रकार के विभाजन हैं। जैसे शैव के प्रमुख उप-संप्रदाय पाशुपत, कापालिक, लिंगायत आदि हैं। शाक्त या शक्ति धर्म में इष्टदेवी को अराध्या माना जाता है।
9. हिन्दू समाज में संपत्ति और पद संबंधी उत्तराधिकार का निर्णय असम और बंगाल में जीमूतवाहन कृत 'दायभाग' और शेष भारत में विज्ञानेश्वर कृत 'मिताक्षरा' ग्रंथों में दिए गए विवरण के अनुसार होता है। दोनों ग्रंथों में एक प्रमुख अंतर यह है कि मिताक्षरा के अनुसार समस्त पैतृक सम्पत्तियों में पुत्र पिता का सहभागी होता है जबकि दायभाग के अनुसार पुत्र परिवार की पैतृक संपत्ति में सहभागी नहीं होता उसे पिता की मृत्यु पर ही स्वामित्व मिलता है।

भगवद्गीता (Bhagvad Gita)

मान्यता है कि वेदों का सार 'भगवद्गीता' नामक धार्मिक ग्रंथ के सात सौ श्लोकों में संग्रहीत है। इस ग्रंथ के चौथे अध्याय में कहा गया है कि सर्वप्रथम भगवान ने इसका उपदेश विवस्वान को दिया। विवस्वान ने मनु को और मनु ने ये उपदेश इक्ष्वाकु को दिये। वेदव्यास द्वारा रचित इस ग्रंथ की पृष्ठभूमि में महाभारत युद्ध है। इस ग्रंथ पर कई भाष्य लिखे गये हैं। भगवद्गीता पर लिखा पहला भाष्य शंकराचार्य द्वारा लिखित 'शांकर गीता भाष्य' है। उनके बाद यमुनाचार्य ने 'गीतार्थ संग्रह', वैष्णव आचार्य रामानुज ने 'गीता भाष्य', और मध्वाचार्य ने 'गीताभाष्य' लिखा, वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य आदि ने इस ग्रंथ पर भाष्य लिखे। भगवद्गीता पर भाष्य या टीका लिखने की परंपरा आधुनिक युग में भी जारी है। इनमें राष्ट्रवादी नेता लोकमान्य तिलक, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद, स्वामी भक्तिवेदांत, स्वामी शिवानंद, महात्मा गांधी, बी.आर. अम्बेडकर, महर्षि महेश योगी और आचार्य रजनीश आदि शामिल हैं। इसके अलावा कई धार्मिक संप्रदाय एवं व्यक्ति अपने तरीके से भगवद्गीता की व्याख्या करते हैं। हाल ही में स्लोवेनिया के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं विचारक स्लोवाज जिजेक (Slavoj Žižek) ने भगवद्गीता की नई व्याख्या करते हुए इसे उत्तर पूंजीवादी समाज के लिए सर्वथा उचित दर्शन करार दिया है।

माना जाता है कि गैर पश्चिमी धार्मिक साहित्य में इस्लाम के पवित्र धार्मिक ग्रंथ 'कुरान' के बाद सर्वाधिक चर्चा भगवद्गीता पर ही की गई है। तथापि 19वीं सदी से पहले यह ग्रंथ समाज के उच्च वर्ग तक ही सीमित थी। इस ग्रंथ को आम चर्चा और प्रकाश में लाने का श्रेय 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' को जाता है। इस संगठन से जुड़े श्री सुब्बा राव ने 1880 के आसपास इस दिशा में अनेक कार्य किया।

भगवद्गीता में योग विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है इसलिए इसे कई बार योगशास्त्र भी कहा गया है। 'योग' शब्द संबंध वाचक है। आत्मा-परमात्मा का संबंध, जीव और शिव का समन्वय ही योग कहलाता है। ईश्वर प्राप्ति के संबंध में इसमें मुख्यत: तीन साधन कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग बताये गये हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवद्गीता का यह योग दार्शनिक पतंजलि के योग

Copyright– Drishti The Vision Foundation

से भिन्न है। पतंजलि योग में योग शब्द समाधिवाचक है और यही समाधि चित्तवृत्तियों के निरोध में संभव है। भगवद्गीता का योग इससे भिन्न है। इसमें योग समाधि नहीं बल्कि सोपान है। यानी योग साध्य नहीं साधन है। भगवद्गीता में तीन मार्गों कर्म, भक्ति और ज्ञान का वर्णन मिलता है जिनके जरिए सांसारिक दु:खों से मुक्ति मिल सकती है। इसी बिंदु पर कई दार्शनिक गीता की अलग व्याख्या करते हैं।

अद्वैतवेदांती शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर से संबंध स्थापित करने का आध्यात्मिक मार्ग ज्ञानयोग है। वे कहते हैं कि निवृत्तिमूलक ज्ञानमार्ग के द्वारा कर्म का त्याग ही परम आदर्श है। अपने सभी कर्मों, इच्छाओं और अपने आपको परमात्मा में मिला देना ही भगवद्गीता का ज्ञानयोग है। इस ज्ञानयोग की सबसे बड़ी विशेषता समत्व योग है। इसके तीन रूप हैं–आत्मगतसमत्व, वस्तुगतसमत्व और गुणातीतसमत्व। आत्मगतसमत्व को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है। स्थितप्रज्ञ का आशय उस व्यक्ति से है जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है। इसके तीन लक्षण हैं–पहला वह मन की कामनाओं और वासनाओं को सब प्रकार से छोड़ देता है। दूसरा लक्षण यह है कि वह परमात्मा में ही संतुष्ट रहता है और तीसरा एवं सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि वह दु:ख से परेशान नहीं होता और सुख की लालसा नहीं करता। वस्तुगत समत्व से आशय अच्छे-बुरे, मित्र-शत्रु से समभाव रखना और गुणातीतसमत्व सुख-दु:ख से परे की अवस्था है।

विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिक रामानुजाचार्य ने भगवद्गीता की भक्तिपरक व्याख्या करते हुये बताया कि इस ग्रंथ में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शरणागति या भक्तियोग का उपदेश दिया है। दु:खों से मुक्ति के लिए भगवान के चरणों में शरणागति ही एकमात्र उपाय है। भक्ति योग के सहारे भक्त भगवान का सामीप्य प्राप्त करता है। भक्ति के नौ प्रकारों–भगवान के गुणों का श्रवण, स्मरण, गुण-गान, चरणों की सेवा, पूजा, वंदना, दास्य भाव रखना, ईश्वर को मित्र-सखा समझना और आत्मसमर्पण करने में से कोई एक गुण ही पर्याप्त होता है। भक्तियोग का मुख्य आशय 'अनन्यभाव' से है। परमपूज्य परमात्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा भाव मन में नहीं लाना ही अनन्यभाव है। अनन्यभाव को अनन्यचित्त भी कहा गया है।

स्वतंत्रता सेनानी बाल गंगाधर तिलक ने अपने ग्रंथ 'गीता रहस्य' में गीता को कर्मप्रधान ग्रंथ माना। गीता में कर्म की प्रधानता मानने वाले मीमांसकों आदि के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म करने का ही उपदेश दिया है। उनका मूल उद्देश्य कर्मपथ से डिगे अर्जुन को सही मार्ग पर लाना था। वास्तविक कर्मयोगी वही है जो कर्म करने का अभिमान नहीं करता हो और उसे स्वयं का कर्ता समझने का अहंकार नहीं हो। उसे अनासक्त होकर कर्म करने चाहिये। यही अनासक्त कर्म ही कर्मयोग है। वह निष्काम कर्म ही सर्वथा उचित है। तृष्णा से रहित होकर किया गया कर्म ही निष्काम कर्म है। व्यक्ति को कर्म करना चाहिये और उसे फल की इच्छा नहीं करनी चाहिये। महात्मा गांधी ने इस ग्रंथ से भी प्रेरणा ली थी।

संविधान निर्माता बाबा साहब डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर ने गीता की आलोचना करते हुए कहा कि यह एक अधार्मिक ग्रंथ है। उन्होंने गीता को राजनीतिक पुस्तक की संज्ञा देते हुए कहा कि इस पुस्तक में स्त्री और शूद्रों का अपमान किया गया है।

सरना धर्म *(Sarna Religion)*

देश में संथाल, हो, मुड़िया, मुंडा आदि कई आदिवासी समुदाय 'सरना' धर्म में विश्वास रखते हैं। सरना का आशय 'पवित्र उपवन' से है। सरना धर्म से जुड़े विशेष धर्मस्थल होते हैं जिन्हें सरना स्थल या जाहेर (Sarna Asthal/Jaher) कहते हैं और इन स्थलों पर जो धार्मिक झंडे लगे होते हैं उन्हें 'सरना झंडा' (Sarna Jhanda) कहा जाता है। इस धर्म की परंपराएं मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आ रही हैं। इस धर्म के उपासक मानते हैं कि यह विश्व सत्य है और इसका निर्माण ईश्वर ने किया है। ईश्वर महान, सर्वशक्तिशाली और सर्वज्ञ है। उनका मानना है कि ईश्वर एक है और उसका नाम धर्मेश (Dharmesh) है एवं संसार पर उसी का नियंत्रण है। सरना धर्म के उपासकों का विश्वास है कि 'साल' ईश्वर का प्रिय वृक्ष है और वे इसी वृक्ष पर रहते हैं। ईश्वर धर्मेश ही इस जगत का निर्माणकर्ता और संरक्षक हैं। ईश्वर धर्मेश को महादेव भी कहा गया है। वे अर्पित की गई श्वेत रंग की ही वस्तुएँ स्वीकारते हैं। जैसे श्वेत वस्त्र, पुष्प, चीनी, दूध आदि। विदित हो कि उराँव आदिवासी अपनी परंपराओं में श्वेत रंग को पवित्र रंग का दर्जा देते हैं। सरना धर्म की अन्य प्रमुख देवी सरना देवी या चाला-पाचो देवी (Chala-pacho Devi) हैं। उनका निवास भी साल वृक्ष को माना जाता है। गाँव के पुजारी को पाहान (Pahan) और उसके सहयोगी को पुजार (Pujaar) या पनभारा (Panbhara) कहा जाता है।

इस्लाम धर्म *(Islam Religion)*

इस्लाम का उदय अरब के तत्कालीन कबीलाई समाज की पृष्ठभूमि में हुआ। समाज की स्थिति में सुधार के लिए पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब (570-632) ने जिन नए जीवन मूल्यों को सामने रखा, इस्लाम उन्हीं नियमों की देन है। इस्लाम अपने आपको पैगम्बर मुहम्मद साहब का चलाया हुआ नहीं मान कर स्वयं को उनसे पहले चले आ रहे धर्मों की अंगली कड़ी के रूप में देखता है जिन्हें

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

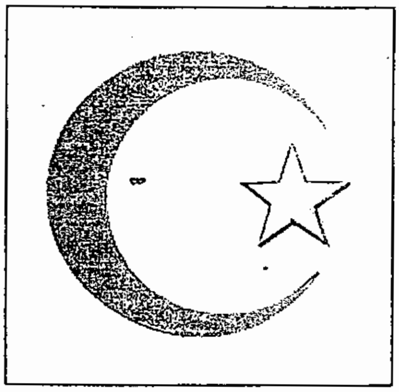

सर्वोच्च ईश्वर ने मूसा और ईसा मसीह सहित अन्य पैगम्बरों पर प्रकट किया था। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ है–ईश्वर की इच्छा के आगे पूर्ण समर्पण लेकिन इसमें भाग्यवाद का कोई स्थान नहीं है। इस धर्म में माना गया है कि सच्चा मुसलमान ईश्वर की इच्छा के आगे समर्पित रहता है। उसके आदेशों को मानता है तथा अपने साथियों के साथ शांति से रहता है। भारत में इस्लाम का आगमन अरब व्यापारियों के मजहब के रूप में केरल में हुआ। भारत में पहली मस्जिद केरल स्थित चेरामन पेरूमल जुमा मस्जिद को माना गया है। इस्लाम धर्म के संक्षिप्त स्वरूप को निम्नलिखित विशेषताओं से समझा जा सकता है–

1. प्रत्येक मुसलमान को ईश्वर, ईश्वर के फरिश्तों और पवित्र ग्रंथ कुरान में भरोसा रखना चाहिये। उसे कलमे का पाठ, पाँच वक्त की नमाज (फजर, जोह, असर, मगरिब, इशा), जकात (धार्मिक दान), रोजा और हज जैसे कर्तव्यों का पालन करना चाहिये। प्रत्येक शुक्रवार को विशेष सामूहिक नमाज और प्रवचन सुनना भी अनिवार्य किया गया है। विभिन्न ईदों और जनाजे की नमाज को विशिष्ट माना गया है। उसे न्याय के दिन या कयामत के दिन पर भरोसा रखना चाहिये। इसका आशय यह है कि इस दिन ईश्वर सभी मानवों के साथ न्याय करेगा। उनके कर्मों के आधार पर उन्हें सशरीर जन्नत (Heaven) या दोजख (Hell) भेजा जायेगा।
2. इस्लाम दैवीय प्रकाशन (Revelation) पर आधारित धर्म है जिसमें एकेश्वरवाद (Monotheism) का समर्थन, अनेकेश्वरवाद (Polytheism) एवं मूर्तिपूजा का स्पष्ट तौर पर विरोध किया गया है।
3. इस्लाम के अनुयायी पवित्र ग्रंथ कुरान की आयतें पृथ्वी पर उतरने के रमजान महीने की समाप्ति के बाद पहली बार चाँद दिखाई देने के दूसरे दिन ईद-उल-फितर (मीठी ईद), दूह-अल-हिज्जा महीने की दसवीं तारीख को कुर्बानी का पर्व ईद-उल-जुहा (बकरीद), शाबान महीने के 14वें दिन पिछले साल के कर्मों का लेखा-जोखा और आने वाले साल की तकदीर तय करने वाला पर्व शब-ए-बारात, कर्बला के शहीदों की याद में मातमी पर्व मुहर्रम एवं हजरत इमाम हुसैन की शहादत के 40वें दिन चेहल्लुम मनाया जाता है।
4. इस्लाम धर्म में शिया और सुन्नी दो प्रमुख संप्रदाय हैं। शिया और सुन्नी में विभाजन पैगम्बर साहब के बाद संगठित हो चुके मुसलमानों के नेतृत्व पर बनी राय को लेकर शुरू हुआ। सुन्नी शाखा के अनुसार पैगम्बर साहब के बाद चार खलीफाओं सर्वश्री अबू बक्र, उमर, उस्मान और पैगम्बर साहब के दामाद हजरत अली ने मुसलमानों की कमान संभाली। इन चारों को राशीदुन खलीफा यानी सही मार्ग दिखाने वाला भी कहा जाता है। शिया शाखा इनमें से शुरुआती तीन को ज्यादा मान्यता नहीं देकर चौथे खलीफा यानी हजरत अली को ही पैगम्बर साहब का असली वारिस और पहला खलीफा समझती है। हजरत अली के बाद उनके बेटे यानी पैगम्बर साहब के नाती हजरत इमाम हुसैन ने इस पद पर दावा जताया लेकिन उनके विरोधी और खलीफा बन बैठे उम्मद वंश के यजीद ने हजरत इमाम हुसैन और उनके 72 साथियों की कर्बला नामक जगह पर बहुत बेदर्दी से हत्या कर दी। शिया समुदाय मुहर्रम के अवसर पर इस घटना के प्रति शोक जाहिर करता है। उम्मद वंश के बाद अब्बासी वंश (750-1258) सत्ता में आया। यह युग इस्लाम का स्वर्ण युग कहलाता है। इस युग में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अतिशय उन्नति हुई और इब्ने सीना (चिकित्साशास्त्र का पिता), अल खवारिज्म (बीजगणित का पिता), रसायनशास्त्र का ज्ञाता अबू मूसा जबीर जैसे ज्ञानवान लोग हुये। इसके बाद खलीफाओं की शक्ति में गिरावट आने लगी और स्वतंत्र इस्लामिक राज्यों का उदय होने लगा। प्रथम विश्व युद्ध में उस्मान या ऑटोमन साम्राज्य (1299-1924) की पराजय और नवीन तुर्की के उदय के साथ खलीफा पद का प्रभाव समाप्त हो गया।
5. भारत में करीब दो-तिहाई मुसलमान सुन्नी शाखा को मानते हैं। सुन्नी शाखा में कई विभाजन जैसे हनफी, शफीह, हमबलि, मालिकी आदि हैं। इनमें से भारत के मुसलमानों का संबंध हनफी, जाहिरी और शफीह उपशाखा से अधिक है। सुन्नी शाखा के दो प्रकार के व्याख्याकार या स्कूल बरेलवी और देवबंदी हैं। ये स्कूल हनफी से जुड़े धार्मिक ग्रंथों आदि की भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं। उत्तर प्रदेश के जिला बरेली से शुरू हुए बरेलवी आंदोलन में सबसे बड़ा व्यक्तित्व आला हजरत या अहमद रजा खाँ (1856-1921) का है। देवबंद आंदोलन भी उत्तरप्रदेश के देवबंद (जिला सहारनपुर) में बने दारूल उलूम देवबंद (1866) संस्था से निकला है। इससे जुड़े बड़े व्यक्तियों में रशीद अहमद गंगोही, मुहम्मद याकूब ननौत्वी आदि लोग शामिल हैं। बरेलवी और देवबंदी में एक प्रमुख अंतर यह है कि बरेलवी मसलक पीर, फकीरों की मजारों पर जाने और उनसे जुड़े तौर तरीकों को अपनाने में नरमी बरतता है। बरेलवी स्कूल को विद्वान ज्यादा उदार समझते हैं जबकि देवबंदी स्कूल कठोर मान्यताओं पर बल देता है। भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में माने जाने वाले इन दोनों स्कूलों में से अधिकांश मुसलमान बरेलवी मसलक को ज्यादा मानते हैं। माना जाता है कि भारत के दो-तिहाई मुसलमान बरेलवी मसलक को मानने वाले हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इस्लाम में इन दोनों के अलावा एक तीसरा आंदोलन सलाफी या वहाबी आंदोलन भी चला है। इसके संस्थापक मुहम्मद इब्न अब्द अल-वहाब (1703-1792) थे। इन्होंने इस्लाम की शिक्षाओं की कठोरता पर बल दिया। इसी तरह इस्लाम की शिया शाखा में इस्माइली, जाफरी और जायदीया उपशाखाएँ हैं। इनके कई और उपविभाजन बोहरा, तैय्यबी, अकबरी, अलावी, मुस्ताली आदि हैं।

6. इस्लाम के उदार एवं रहस्यवादी स्वरूप को सूफी मत से समझा जा सकता है। सूफी मत या तसव्वुफ की शुरुआत के बीज पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब के युग और पवित्र पुस्तक कुरान में देखे जा सकते हैं। इसके शुरुआती विचारकों में ओवैस अल-कारनी (Uwais al-Qarni), हर्रम बिन हियान (Harrm Bin Hian) आदि हैं जबकि रूवायम, राबिया, हरीथ अल मुहासिबी आदि दूसरी पीढ़ी के सूफी हुये। इनमें सबसे ज्यादा योगदान अबू याजिद बस्तामी या बायजिद बस्तामी (Bayazid Bastami), मंसूर हल्लाज और अल-गजाली (1058-1111) का है। भारत में सूफियों की लंबी परंपरा रही है जिन्हें सिलसिला के नाम से भी जाना जाता है। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, कादरी, नक्शबंदी, शत्तारी और कलंदरी सिलसिला आदि प्रमुख हैं। सूफी मानते है कि परमात्मा को इश्क या प्रेम से पाया जा सकता है अक्ल से नहीं। जिक्र (स्मरण) और मुराकबत (ध्यान) से इश्क की आग बढ़ती है। इस आग से जीव और परमात्मा के मध्य पड़ा नफ्स (अहंकार का पर्दा) नष्ट हो जाता है तथा जीव परमात्मा में फना (विलीन) हो जाता है।

7. इस्लाम में विवाह एक संविदा (Contract) है यानी विवाह एक समझौते के रूप में होता है। जिसमे अगर पुरुष अपनी स्त्री के साथ विवाह संबंध विच्छेद (तलाक) करता है तो उसे महिला को विवाह (निकाह) के समय लिखे गये निकाहनामे के अनुसार एक निश्चित राशि (मेहर) अदा करनी होती है। इस्लाम में पुनर्विवाह (Remarriage) और अधिमान्य विवाह (Preferential Marriage) (चचेरे या मौसेरा भाई-बहन आदि) का प्रचलन है।

8. भारत में मुसलमान आबादी को सामाजिक तौर पर तीन स्तरों अशरफ, अजलाफ और अरजाल में विभक्त किया जा सकता है। अशरफ सामाजिक पदानुक्रम में सबसे ऊपर, अजलाफ उनके बाद और तीसरे एवं अंतिम पायदान पर अरजाल समुदाय को रखा गया है। अशरफ मुसलमानों में सैय्यद, शेख, पठान और मुगल जातियाँ आती है। सैय्यदों में अनेक उपजातियाँ, हुसैनी, काजमी, रिजवी, अल्वी और हाशमी आदि शामिल हैं। शेख में उस्मानी, सिद्दीकी, फारुखी, मलिकी और किदवई आदि जातियाँ आती हैं। मुगल में उजबेग, तुर्कमान और ताजिक जाति के लोग आते हैं। ये लोग अपने नाम के आगे 'मिर्जा' शब्द का प्रयोग करते हैं। पठानों में आफरीदी, रोहिल्ला और युसुफजाई आदि जातियाँ आती हैं। पठानों के पूर्वज अफगानिस्तान से आये थे। ये लोग अपने नाम के पीछे 'खाँ' शब्द का प्रयोग करते हैं। मुसलमानों में अजलाफ जातियाँ व्यवसाय के आधार पर बनी हैं जैसे नाई (सलमानी), दर्जी (इदरीसी), और कुम्हार आदि। मुसलमानों में अस्पृश्य जातियाँ यानी अरजालों का सामाजिक पदानुक्रम हिन्दुओं जैसा कठोर तो नहीं है फिर भी अशरफ और अजलाफ जातियों ने इनसे दूरी बनाये रखी। अरजालों में गाजीपुरी, रावत, लालबेगी, पत्थर फोड, महतर, बाँस फोड और वाल्मीकि आदि शामिल हैं। पिछडे (अजलाफ) और दलित (अरजाल) मुसलमान को संयुक्त रूप से 'पसमांदा मुसलमान' कहा जाता है। पसमांदा शब्द का आशय है 'जो पीछे छूट गया' या 'दबा कुचला'। जानकारी के अनुसार यह वर्ग भारतीय मुसलमानों की कुल आबादी का कम-से-कम 85 प्रतिशत है। 'पसमांदा आंदोलन' इन्हीं दो तबकों का प्रतिनिधित्व करता है और उनके मुद्दों को उठाता है। पसमांदा आंदोलन भारत के मुसलमानों की राजनीति को अशराफिया राजनीति यानी उच्च वर्गों की राजनीति मानता है और उसे चुनौती देता है। इनका मानना है कि अशराफिया राजनीति मुसलमानों की उच्च जातियों की राजनीति है जो सिर्फ कुछ सांकेतिक और भावनात्मक मुद्दों जैसे बाबरी मस्जिद, उर्दू, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, पर्सनल लॉ आदि को ही उठाती रही है। वे अपने पक्ष में तर्क देते हैं कि पहली से लेकर चौदहवीं लोकसभा में 400 मुसलमान चुन कर आये जिनमें से 340 अशरफ और केवल 60 पसमांदा तबके से थे। जबकि भारत में मुसलमानों की जनसंख्या कुल आबादी का 13.4 प्रतिशत (जनगणना, 2001) है और इनमें उच्च कुल वाली अशराफिया मुसलमान जनसंख्या महज 15 प्रतिशत और शेष 85 प्रतिशत पसमांदा है।

यहूदी धर्म *(Judaism)*

यहूदी धर्म प्राचीनतम सामी धर्म है जिसका प्रवर्तन पैगम्बर मूसा (Prophet Moses) ने इस्रायल में किया था। इस धर्म की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) यह एकेश्वरवादी धर्म है जिसमें एक ही ईश्वर 'जाहवे' (Jahve) या 'यहोवा' को स्वीकार किया गया है।

(2) इसमें ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है अर्थात् उसकी व्याख्या तत्वमीमांसीय तथा नैतिक गुणों से की गई है। जाहवे के नैतिक गुणों में 'न्यायप्रियता' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वह क्रोधी स्वभाव का है तथा मनुष्य के पाप को सरलतापूर्वक माफ नहीं करता। वह पाप करने पर दण्ड अवश्य देता है। 'आँख के बदले आँख तथा दाँत के बदले दाँत का सिद्धांत' (An eye for an eye and a tooth for a tooth) यहूदी धर्म से ही प्रभावित है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

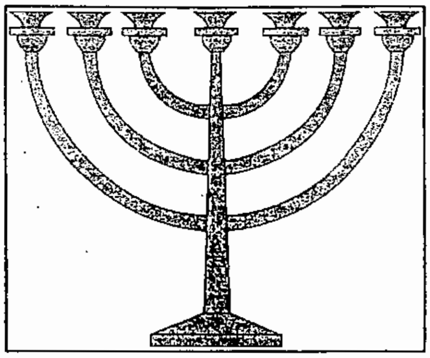

(3) यहूदियों का धर्मग्रंथ ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) है जो बाइबिल का शुरुआती अंश है।

(4) यहूदी धर्म अन्य सामी धर्मों की तरह दैवी-प्रकाशना (Revealation) पर आधारित है। माना गया है कि हजरत मूसा को ईश्वर का साक्षात् अनुभव हुआ और उसी से प्राप्त ज्ञान की अभिव्यक्ति ओल्ड टेस्टामेंट में हुई।

(5) यहूदी धर्म में संन्यासवादी मानसिकता (Ascetism) का निषेध किया गया है। यह धर्म मनुष्य को जीवन से पलायन करने की नहीं बल्कि संघर्षों से जूझने तथा जीवन को भरपूर जीने की प्रेरणा देता है।

(6) इस धर्म में पशु-बलि का जोरदार समर्थन किया गया है। ऐसा माना गया है कि पशु बलि से जाहवे के क्रोध को शांत किया जा सकता है। हालाँकि आगे चलकर, पाँचवी-छठी शताब्दी ईसा पूर्व में यह धारणा कुछ कमजोर पड़ने लगी।

(7) यहूदियों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् तीन दिनों तक आत्मा मृत्यु के स्थान के आसपास घूमती है। तीसरे दिन उसके कर्मों के आधार पर स्वर्ग या नर्क जाने का निर्णय हो जाता है। यही विश्वास पारसी धर्म में भी दिखाई पड़ता है।

(8) 'ओल्ड टेस्टामेंट' में दस नैतिक उपदेश संकलित किए गए हैं जिन्हें दस आदेश (Ten Commandments) कहते हैं। ये यहूदी धर्म के प्रमुख उपदेश हैं।

(9) यहूदी समुदाय में नव वर्ष के रूप में 'रोश-हाशना' पर्व (Rosh Hashanah) सितम्बर/अक्टूबर में मनाया जाता है। यह दिन यहूदी समुदाय में सृजन और न्याय के प्रतीक के रूप में मनाया जाता है। इस पर्व के अगले दस दिनों तक यहूदी आत्मपरीक्षण करते हैं और शहद डाला हुआ सेब खाते हैं। यहूदियों में 'योम-किपूर' पर्व (Yom Kippur or Day of Atonement) प्रायश्चित का दिन होता है। यह नव वर्ष के प्रारंभ का दिन होता है। बुरे कार्यों का प्रायश्चित करने के लिए यहूदी समुदाय में इस दिन व्रत रखा जाता है और वे श्वेत वस्त्र धारण करके पूरा दिन सिनेगॉग (पूजा-स्थल) में बिताते हैं। इस दिन के बाद यहूदी उपासक स्वयं को पवित्र महसूस करते हैं। यहूदियों में सुकॉट पर्व भी धूमधाम से मनाया जाता है। यह ईसाइयों के क्रिसमस की तरह होता है। इस दिन उपासक घर के आँगन या बगीचे में भोज का आयोजन करते हैं। यहूदियों में हानुक्काह यानी प्रकाश पर्व भी लगातार आठ दिनों तक मनाया जाता है। यहूदियों के अन्य प्रसिद्ध पर्व पूरिम, पासओवर, तिशा बाआव (Tisha B'av,) तुबाशेवात, (Tu B'Shevat) योम होशाह (Yom Hashoah) आदि है। योम हाशोआह नाजी नरसंहार होलोकॉस्ट की याद में मनाया जाता है।

ईसाई धर्म *(Christianity)*

ईसाई धर्म, यहूदी धर्म से ही निकला हुआ सामी (Semitic) धर्म है जिसके प्रवर्तन का श्रेय ईसा मसीह (Jesus Christ) को है। ईसा मसीह का जन्म बेथलहम में हुआ था। उनकी माँ का नाम मरियम था। ऐसी मान्यता है कि ईसा मसीह ईश्वर के पुत्र थे, इसलिए उनका जन्म कुँवारी मरियम के गर्भ से हुआ था। मरियम का पति जोसफ था जिसने ईसा मसीह का पालन-पोषण किया किन्तु वह उनका जैविक पिता नहीं था। ईसा ने यहूदी धर्म की कुछ मान्यताओं में संशोधन किया जिसके कारण यहूदियों ने नाराज होकर उन्हें मृत्युदण्ड दिया। ईसाईयों के अनुसार ईसा मसीह अपना बलिदान (Atonement) देकर सम्पूर्ण मानव जाति को पापों से मुक्ति दिलाना चाहते थे। ईसाई धर्म में आज भी यह माना जाता है कि मानवों को मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर पुन: ईसा मसीह के रूप में प्रकट हो सकते हैं। ईसाई धर्म की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) यह धर्म एकेश्वरवादी है तथा गॉड (God) को एकमात्र ईश्वर और ईसा-मसीह को 'ईश्वर पुत्र' मानता है। आगे चलकर इसमें ईश्वर के तीन रूप माने गए God-the father, God-the son तथा God-the holy spirit।

(2) ईसाइयों का ईश्वर भी व्यक्तित्वपूर्ण है किन्तु उसका स्वरूप यहूदियों के ईश्वर से भिन्न है। 'जाहवे' जहाँ अत्यंत क्रोधी प्रवृत्ति का है, वहीं 'गॉड' अत्यंत दयालु तथा पिता के समान है। वह बदला नहीं लेता बल्कि पिता की तरह क्षमाशील है। वह प्रतीक्षा करता है कि यदि कोई मानव अपनी भूल के लिए क्षमा माँग ले तो वह उसे क्षमा कर दें। इसी कारण ईसाई चर्च में क्षमा याचना (Confession) की परम्परा काफी महत्त्वपूर्ण है। 'New Testament' में 'पिता' शब्द का उल्लेख लगभग 300 बार हुआ है जबकि 'Old Testament' में एक भी स्थान पर ईश्वर को पिता नहीं कहा गया है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

(3) ...धर्म का धर्मग्रंथ 'न्यू टेस्टामेंट' है जो बाइबिल का ही अंतिम खंड है। यह ईसा मसीह ...ते है जिसमें उन्होंने ईश्वर से प्राप्त ज्ञान को व्यक्त किया है। न्यू टेस्टामेंट ओल्ड टेस्टामेंट ...द्ध नहीं है। ईसा मसीह ने स्पष्ट कहा है कि वे 'Old Testament' का बहिष्कार नहीं, ... परिष्कार कर रहे हैं।

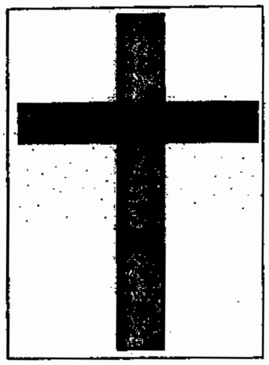

(4) ...में 'आदिम पाप' (Original Sin) की संकल्पना अत्यंत प्रसिद्ध है। ईश्वर ने आदम ...am) तथा हव्वा (Eve) को स्वर्ग के उद्यान (Garden of Eden) में रखा था। आदम तथा ... ने ईश्वर के आदेश का उल्लंघन किया तथा वर्जित फल को चख लिया। यही आदिम ...। इसी के परिणाम स्वरूप ईश्वर ने आदम व हव्वा को पृथ्वी पर भेजा। पृथ्वी पर मनुष्यों ...वास वस्तुतः मूल पाप का दण्ड ही है।

(5) ...धर्म में आदर्श नारीत्व (Ideal Womanhood) की धारणा को महत्त्व दिया गया है। जो गुण आदर्श नारी में माने गए ... त्याग, सहिष्णुता, प्रेम इत्यादि; उनका विकास प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए।

(6) ...' ईसाइयत का प्रमुख तत्त्व है। न्यू टेस्टामेंट में ईसा मसीह यहूदी धर्म की आक्रामकता के विरुद्ध कहते हैं-"तुमने सुना ... कि आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत का नियम उचित है। पर मेरा कहना है कि बुरे का सामना बुराई से न ... यदि कोई तुम्हारे दायें गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम अपने बाएँ गाल को आगे कर दो।"

(7) ...धर्म आगे चलकर दो हिस्सों में बँट गया- कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट। यह विभाजन 15वीं-16वीं शताब्दी में हुए धर्म सुधार (Reformation) आंदोलन के समय हुआ। इन दोनों की मान्यताओं में प्रमुख अंतर निम्नलिखित हैं-

(i) कैथोलिक धर्म चर्च को अधिक महत्त्व देता है जबकि प्रोटेस्टेन्ट धर्म कम।

(ii) कैथोलिक धर्म पोप तथा पादरी को 'फादर' (Father) की संज्ञा देता है जबकि प्रोटेस्टेन्ट धर्म में 'फादर' सिर्फ ईश्वर को कहा जा सकता है।

(iii) कैथोलिक धर्म में पोप को बाइबिल की व्याख्या व क्षमादान का अधिकार है। इसके विपरीत प्रोटेस्टेंट मत में धर्म की व्याख्या का अधिकार सब को है जबकि क्षमा का अधिकार सिर्फ ईश्वर को है।

(iv) कैथोलिक मत में मूर्तिपूजा (Idol Worship) स्वीकार की जाती है। ईसा मसीह, मरियम तथा कुछ फ़रिश्तों की पूजा इसमें होती है। प्रोटेस्टेंट धर्म के समर्थक मूर्तिपूजा को स्वीकार नहीं करते।

(v) ईसाई धर्म के उपासक 25 दिसम्बर को क्रिसमस मनाते हैं। यह पर्व ईसा मसीह के जन्मदिन की खुशी में मनाया जाता है। इस दिन लोग सेंटाक्लाज का रूप धारण करके बच्चों को उपहार बाँटते हैं। ईसाई पर्व गुड फ्राइडे या ब्लैक फ्राइडे या ग्रेट फ्राइडे एक शोकपर्व है। इस दिन ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाया गया था। ईस्टर रविवार से पहले आने वाले शुक्रवार को इसे शहीदी दिवस के रूप में मनाया जाता है। ईस्टर पर्व खुशी का पर्व है। माना जाता है कि ईसा मसीह सूली पर चढ़ाये जाने के बाद रविवार को दोबारा जीवित हो गये थे और अपने साथियों के साथ 40 दिन रहने के बाद स्वर्ग चले गए। ईसा का पुनर्जन्म दिवस ही ईस्टर के रूप में मनाया जाता है। ईस्टर के 40 दिनों बाद स्वर्गारोहण दिवस मनाया जाता है। ईस्टर के पहले रविवार को पाम संडे (Palm Sunday) या खजूर रविवार मनाया जाता है। इस दिन ईसा मसीह ने इस्रायल में प्रवेश किया था और लोगों ने उनके स्वागत में खजूर की पत्तियां, डालियां इस्तेमाल की थीं।

(8) भारत में ईसाई धर्म की शुरुआत जिस स्वरूप से हुई उसे साफ तौर पर दो वर्गों में बँटा हुआ देखा जा सकता है। एक तरफ संपन्न वर्ग है जो उच्च जाति से आया है और उनका अधिकांश उच्च पदों और संसाधनों पर आधिपत्य है। दूसरी ओर दलित वर्ग से धर्मांतरण कर ईसाई बने लोगों का तबका है। वे ईसाई बनने के बाद भी गैर बराबरी के शिकार बने रहे और जाति ने यहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। मान्यता है कि सन् 52 ईस्वी में पहले ईसाई धर्म प्रचारक सेंट थॉमस का प्रवेश केरल के मालाबार में हुआ। उन्होंने मालाबार के तटीय-इलाकों में धर्म प्रचार का काम शुरू किया तथा सात चर्च बनाए। समुद्रतटीय इलाकों में धर्मप्रचार होने से सबसे पहले मछुआरों ने ईसाई धर्म अपनाया। इसके बाद सन् 1600 से ईसाई बनाने की गति तेज हुई और सन् 1900 तक प्रभावशाली ढंग से आगे बढ़ी। गोवा में 500 साल के पुर्तगाली एवं अंग्रेजी शासन के फलस्वरूप ग्रामीण आबादी ने भी बड़ी तेजी से ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। लेकिन गाँवों की जो सामाजिक संरचना थी वह ज्यों की त्यों बनी रही। संभवतया इसका एक कारण यह था कि उस समय ईसाई धर्मप्रचारकों को इससे कोई खास सरोकार नहीं था कि वे सामाजिक स्तर पर फैले भेदभाव को दूर करते। उन्हें तो सिर्फ ईसाई धर्म का प्रसार और लोगों को इस धर्म में दीक्षित

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

करना था। केरल में ईसाई समाज विभिन्न जातीय समूहों में विभाजित है। एक तरफ उच्च जाति का सीरियन ईसाई समुदाय है तो दूसरी ओर लैटिन अथवा न्यू राइट ईसाई है। सीरियन ईसाई दूसरे ईसाई समुदायों में शादी नहीं करते। इसी तरह आंध्र प्रदेश के कैथोलिक रेड्डी अपनी ही जाति के ईसाइयों से शादी करने को प्राथमिकता देते हैं और निम्न जाति के ईसाइयों में शादी करने से हमेशा कतराते हैं। गोवा में भी हिन्दू समाज के जैसा ही सामाजिक पदानुक्रम देखने को मिलता है।

एक अनुमान के अनुसार भारत में 70 प्रतिशत ईसाई दलित जाति से आते हैं। लेकिन 156 कैथोलिक बिशपों में से 150 उच्च जाति के ईसाई हैं। मात्र 6 बिशप दलित जाति के हैं। जहाँ तक पादरी की बात है तो 12500 पादरियों में से केवल 600 पादरी ही दलित जाति से हैं। चर्च में दलित ईसाइयों से गैर-बराबरी की स्थिति यह है कि दलितों के लिए बैठने, पानी पीने के लिए अलग व्यवस्था और शवों को दफनाने के लिए अलग कब्रिस्तान होता है। इतना ही नहीं दलित समुदाय से आयी ननों के शोषण की घटनाएँ भी प्रकाश में आई हैं।

पारसी धर्म *(Persian Religion)*

पारसी धर्म की शुरुआत ईरान से हुई। इस्लाम के आगमन के बाद इसके कई अनुयायी ईरान से भारत आ गए। इस धर्म के प्रवर्तक का नाम 'जरथुस्त्र' (Zarathustra) या 'जोरोस्टर' (Zoroaster) है, इसलिए इसे 'जोरास्टरवाद' (Zoroastrianism) भी कहा जाता है। मान्यता है कि जरथुस्त्र को ईश्वर का दर्शन हुआ था। इसी दैवी प्रकाशना के आधार पर जरथुस्त्र ने इस धर्म का प्रवर्तन किया। इस धर्म की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) यह विश्व का सबसे महत्त्वपूर्ण द्वीश्वरवादी (Di-theistic) धर्म है यानी इसमें दो परम शक्तियों अहुर मज्दा (Ahura Mazda) और अहरिमन (Ahriman) को स्वीकार किया गया है। अहुर मज्दा शुभ शक्ति है जबकि अहरिमन अशुभ। इन दोनों के संघर्ष के कारण ही जगत में कभी शुभ होता है, कभी अशुभ। एक दिन ऐसा आएगा जब अहुर मज्दा अंततः अहरिमन को पराजित कर देगा। तब यह धर्म एकेश्वरवादी हो जाएगा।

(2) पारसी धर्म में अनेकेश्वरवाद का खंडन किया गया है।

(3) इस धर्म में मनुष्य के शव की अंत्येष्टि एक विशेष प्रकार से की जाती है। शव को खुले आसमान में काफी ऊँचाई पर (दाख्मा) रख दिया जाता है ताकि चील-गिद्ध उसे खा जाएं। मान्यता है कि ऐसा करने से पृथ्वी, जल व अग्नि की शुद्धता बची रहती है।

(4) पारसी धर्म का मूल आधार जेंद (Zend) भाषा में लिखा ग्रंथ 'अवेस्ता' (Avesta) है। इसलिए इसे 'जेंदावस्ता' (Zend Avesta) भी कहा गया है।

(5) पारसियों में अग्नि (Fire) का विशेष महत्त्व है और इसकी खास पूजा की जाती है। अग्नि को पवित्र मानने के कारण पारसी पूजाघरों में अग्नि निरंतर प्रज्जवलित रखी जाती है। अग्नि को एक विशेष कमरे में रखा जाता है और उसे इस प्रकार ढंका जाता है जिससे उसे किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचे। इस कमरे में पूर्व एवं पश्चिम दिशा में खिड़की तथा दक्षिण में दीवार होती है। इन अग्नि मंदिरों को 'आताशगाह' (Atashgah) कहा गया है। पारसी समुदाय की एक महत्त्वपूर्ण रस्म 'नवजोत' को अग्नि की उपस्थिति में संपन्न किया जाता है। इस रस्म के बिना पारसी कुल में उत्पन्न व्यक्ति पारसी नहीं बनता। पारसियों के अनुसार नवजोत का आशय 'नए भक्त' अथवा 'नए सेवक' से है। अग्निपूजा के इस खास मौके पर पारसी श्वेत वस्त्र 'सुदेरह' (Sudreh) और 'कश्ती' (Kashti) नामक धागा पहनते हैं। यह कश्ती उन्हें आजीवन पहनना होता है।

(6) पारसियों में नव वर्ष के आगमन के उपलक्ष्य में नवरोज (Nowruz) पर्व मनाया जाता है। भारत में इसे जमशेद-ए-नवरोज भी कहते है। पारसियों के फसली/बस्तानी कैलेण्डर के अनुसार यह पर्व 21 मार्च को मनाया जाता है जबकि भारत में प्रचलित शहंशाही और कदमी कैलेण्डर के अनुसार नवरोज पर्व जुलाई/अगस्त में मनाया जाता है। इस अंतर का मुख्य कारण भारत में प्रचलित कैलेण्डरों में लीप वर्ष की गणना नहीं होना है। इससे एक दिन पहले पटेटी (Pateti) पर्व मनाया जाता है। इस पर्व में साल भर में किये गए कर्मों पर विचार किया जाता है। इसके अलावा पारसियों में खोरदाद साल (Khordad Sal) पर्व मनाने का प्रचलन है। यह पर्व पारसी धर्म संस्थापक जरथुस्त्र (Zoroaster) की वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में हर साल 26 मार्च को मनाया जाता है। इसी तरह 26 दिसम्बर को उनकी पुण्यतिथि मनाई जाती है जिसे जरथुस्त्र नो-दिसो (Zartosht No-Diso) कहा जाता है। पारसियों में नव वर्ष के आगमन से पहले सादेह (Sadeh) पर्व मनाया जाता है। इस धर्म के अनुयायी छह ऋतुओं का प्रतीक पर्व गाहामबर्स (Gahambars) भी परंपरागत हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

सिख धर्म *(Sikh Religion)*

सिख धर्म का उदय और सर्वाधिक प्रसार भारत में हुआ। यह भारत के नवीनतम सुगठित धर्मों में सर्वप्रमुख है। यह कर्म, संसारचक्र, ज्ञान और मोक्ष की चतुष्पदी में विश्वास रखता है। इसमें हिन्दू धर्म की कई परंपराओं और इस्लाम की सूफी शाखा की कई मान्यताओं को स्वीकार किया गया है। यह एकेश्वरवादी (Monotheism) और दैवी प्रकाशना (Revealation) पर आधारित धर्म है। इसमें ईश्वर को निर्गुण रूप में स्वीकारा गया है और उसे 'वाहेगुरु', निरंकार, ओंकार, अलख और 'अकाल' की संज्ञा देते हुये 'अकाल पुरुष' बताया गया है। सिख धर्म में शबद, कीर्तन, नाम स्मरण आदि को महत्त्व दिया गया है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) सिख धर्म गुरुओं की परंपरा से विकसित हुआ है। इसके पहले गुरु गुरुनानक देव (1469-1539) थे जिनका जन्म तलवंडी (पाकिस्तान) में हुआ था। उन्हें इस धर्म का आदि प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने इस परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए अपने पुत्रों के स्थान पर गुरु अंगद (1504-1552) को चुना। गुरु अंगद को गुरुमुखी लिपि के मानकीकरण का श्रेय है। तीसरे गुरु अमरदास (1479-1574) हुये। इन्होंने सामाजिक बुराईयों जैसे पर्दा, सती आदि का विरोध किया। उन्हें सिख धर्म के प्रचार के लिए 22 केंद्रो (मांझी) और लंगर प्रथा शुरू करने का भी श्रेय प्राप्त है। गुरु अमरदास के मार्गदर्शन में गोइंदवाल शहर सिख अध्ययन का केंद्र बना। मुगल बादशाह अकबर से भी उनका संबंध जोड़ा जाता है। उनके दामाद एवं उत्तराधिकारी तथा चौथे गुरु रामदास (1534-1581) थे। उन्होंने पवित्र शहर अमृतसर की स्थापना की। गुरु रामदास के पुत्र एवं पाँचवे गुरु अर्जुनदेव (1563-1606) ने अमृतसर में 'हरमंदिर साहिब' या स्वर्ण मंदिर बनाया। उन्होंने सिख गुरुओं के उपदेशों का संकलन किया जो आगे चलकर 'गुरुग्रंथ साहिब' कहलाया। गुरु अर्जुन देव ने ही सिख धर्म के प्रचार की 'मसद' पद्धति और दसवद यानी 'आय का कुछ हिस्सा' अर्पित करने की परंपरा शुरू की। मुगल बादशाह जहाँगीर ने इन्हें बंदी बनाया और यातनाएँ देकर मार दिया। इस घटना के बाद सिख धर्म के अनुयायियों में एक राजनीतिक और सैन्य शक्ति के रूप में विकसित होने की भावना विकसित हुई। छठे गुरु हरगोबिंद सिंह (1595-1644) ने सिखों में युद्ध कौशल के विकास को प्राथमिकता दी। उन्होंने 'अकाल तख्त' की स्थापना की और लौहगढ़ का किला बनवाया। उनकी सेना ने मुगल बादशाह शाहजहाँ की सेना को परास्त किया। सातवें गुरु हरराय (1630-1661) ने कीरतपुर साहिब में एक चिकित्सालय खोला और मुगल शहजादे दाराशिकोह का इलाज किया। उनके पुत्र और आठवें गुरु हरिकिशन (1656-1664) बहुत कम उम्र में गुरु बने और चेचक के कारण उनका शीघ्र निधन हो गया। गुरु हरगोबिन्द के पुत्र गुरु तेगबहादुर (1621-1675) सिखों के नौवें गुरु बने। उन्होंने आनंदपुर साहिब की स्थापना की। जब वे असम और बंगाल की यात्रा पर थे तब पटना में उनकी पत्नी गूजरी देवी ने गुरु गोबिंद सिंह को जन्म दिया जो गुरु तेगबहादुर की शहादत के बाद सिखों के दसवें गुरु बने। गुरु तेगबहादुर के दिल्ली स्थित शहादत स्थल पर गुरुद्वारा शीशगंज बनाया गया और रायसीना पहाड़ी पर जहाँ उनका अंतिम संस्कार हुआ, वह जगह गुरुद्वारा रकाबगंज कहलाती है। गुरु गोबिंद सिंह (1666-1708) बहुत योग्य व्यक्ति थे। उन्होंने एक 'दशम ग्रंथ' लिखा और पहले से चले आ रहे गुरु ग्रंथ साहिब में पिता गुरु तेग बहादुर सहित कुछ अन्य संतों की वाणी जोड़ी। उन्होंने स्पष्ट किया कि अब यही ग्रंथ सिख समुदाय को आगे की राह दिखायेगा और उनके बाद कोई गुरु नहीं होगा। उनकी महाराष्ट्र के नांदेड़ में हत्या कर दी गई। उन्होंने केशगढ़ में 1699 में 'खालसा' (शुद्ध) परंपरा की स्थापना की और खालसाओं के पाँच अनिवार्य लक्षण निर्धारित किये गये, जिन्हें 'पाँच कक्के' या 'पाँच ककार' कहते हैं, क्योंकि ये पाँचों लक्षण 'क' से शुरू होते हैं– केश, कंघा, कड़ा, कच्छा और कृपाण। ये पाँचों लक्षण एक सिख को विशिष्ट पहचान प्रदान करते हैं। गुरु गोबिन्द ने पुरुष खालसाओं को 'सिंह' की तथा महिलाओं को 'कौर' की उपाधि दी। उन्होंने अपने शिष्यों में धर्मरक्षा हेतु सदैव मर मिटने को तैयार रहने वाले पाँच शिष्यों को चुनकर उन्हें 'पंच प्यारे' की संज्ञा दी और उन्हें अमृत चखा कर धर्म रक्षकों के रूप में विशिष्टता प्रदान की। गुरु गोबिन्द सिंह ने मुगल बादशाह मुअज्जम को सहयोग दिया था।

(2) गुरुओं की परंपरा में नया मोड़ आने के बाद सिखों की कमान एक संन्यासी और बाद में बहादुर योद्धा बन कर उभरे बंदा बहादुर के हाथ में आ गई। उनके बाद सिखों का नेतृत्व 'सरबत खालसा' नाम की दो सलाना सभाओं ने किया। ये सरबत खालसा ही जत्थेदारों को नियुक्त करते और सिखों की समस्याओं का हल निकालते। सरबत खालसा की एक सभा में यह तय हुआ कि अलग-अलग जत्थों की सेनाओं को मिला कर 'दल खालसा' बनाया जाये। दल खालसा का प्रधान सेनापति जस्सा सिंह अहलूवालिया को बनाया गया और सिख साम्राज्य को 12 मिस्लों में बाँट दिया गया। इसमें से एक सुकेरचकिया मिस्ल के प्रमुख एवं तेजस्वी पुरुष महाराजा रणजीत सिंह ने आगे चलकर सिखों को नेतृत्व प्रदान किया। बाद में सिख साम्राज्य की कमान ब्रिटिश सरकार के हाथ में आ गई। सिखधर्म में पेशावर के दयालदास द्वारा बनाया गया निरंकारी पंथ, बाबा बालक

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

ह का नामधारी (कूका) और शिवदयाल के राधास्वामी संप्रदाय से जुड़े जयमल द्वारा स्थापित व्यास केंद्र भी उभरे। इनके ावा 'सिंह सभा' ने सुधार आंदोलन भी शुरू किया। इसी सिंह सभा की राजनीतिक शाखा ने 1920 में अकाली आंदोलन किया।

ारी पंथ के प्रवर्तक बाबा दयालदास (1783-1855) ने सिख धर्म की मूल शिक्षाओं पर लौटने, ईश्वर के निरंकार स्वरूप ही पूजने पर बल दिया। उन्होंने पूजा से जुड़े कई अनुष्ठानों को अस्वीकार किया और गुरु नानक एवं आदि ग्रंथ की ाओं को अपनाने पर जोर दिया। इस पंथ का केंद्र पाकिस्तान के रावलपिंडी में था। इस पंथ के पाँचवें गुरु साहिब हरा के समय में इसका केन्द्र चंडीगढ़ हो गया। सन 1929 में पेशावर में बाबा बूटा सिंह (1873-1943) ने इसी नाम से ते जुलते पंथ 'संत निरंकारी मिशन' की स्थापना की। उनके बाद इसकी कमान बाबा अवतार सिंह जी (1899-1969) ाथ में आ गई। उन्होंने तथा उनकी पत्नी ने ग्रंथ 'अवतार वाणी' लिखा। इस ग्रंथ को संत निरंकारी मिशन में प्रतिष्ठित प्राप्त है। बाद में उनके पुत्र गुरुबचन सिंह जी (1930-1980) मिशन के प्रमुख बने। बाबा गुरुबचन सिंह जी के समय उनके पंथ और सिख धर्म के उपासकों में विरोध गहरा हो गया। पंजाब में नब्बे के दशक में हिंसा और वैमनस्य की ाओं के चलते बाबा गुरुबचन सिंह जी की नई दिल्ली में हत्या कर दी गई। उनके बाद मिशन का दायित्व उनके पुत्र हरदेव सिंह (1954) ने संभाला और शांति कायम करने को प्राथमिकता दी। संत निरंकारी मिशन का कार्यालय दिल्ली ुखर्जी नगर के पास निरंकारी कालोनी में स्थित है। सिख धर्म और निरंकारियों में एक प्रमुख अंतर गुरु संबंधी मान्यता ेकर है। निरंकारी सिख गुरुओं के अलावा अन्य गुरुओं की भी स्तुति करते हैं जो सिख धर्म के उपासकों को स्वीकार है।

ख धर्म के पवित्र प्रतीक में दो ओर वक्राकार तलवारों के एक वृत्त तथा वृत्त के बीच एक सीधा खंडा होता है। ारें धर्म रक्षा के लिए समर्पण का, वृत्त 'एक ओंकार' का खंडा पवित्रता का प्रतीक है। गुरुद्वारों में प्रतिदिन तथा ेष अवसरों पर, भक्तजनों के लिए भोजन 'कड़ा प्रसाद' जाता है। सिखों में तीन पंक्तियाँ दोहराने का प्रचलन है। पहली पंक्ति 'वाहे गुरु' है जिसका अर्थ है 'ईश्वर'। ी प्रचलित पंक्ति 'सत श्री अकाल, जो बोले सो निहाल' जिसका अर्थ है ईश्वर सत्य, कल्याणकारी और कालातीत जिसके नाम के स्मरण से मुक्ति मिलती है। तीसरी पंक्ति वाहे गुरु दा खालसा, वाहे गुरु दी फतह' अर्थात खालसा गुरु (ईश्वर) का पंथ है और उसी की विजय होती है। ख धर्म के पाँच प्रमुख धर्मकेन्द्र (तख्त) हैं–दमदमा साहिब (तलवंडी साबो) बठिंडा, अकाल तख्त (हरमंदिर साहब) अमृतसर, पटना साहब, केशगढ़ साहिब (आनन्दपुर) और हुजूर हिब (नांदेड़)। धर्म संबंधी किसी भी विवाद पर इन तख्तों के पीठासीन अधिकारियों का निर्णय अंतिम माना जाता है। गुरुद्वारे प्रतिदिन या विशेष अवसरों पर स्वेच्छा से किया श्रम (कारसेवा) जैसे गुरुद्वारे की सफाई, कड़ा प्रसाद बनाना, भक्तजनों जूते संभालना व साफ़ करना आदि कार्य प्रशंसनीय माने जाते हैं। कभी-कभी धर्म विरोधी कार्य करने पर सजा के रूप व्यक्ति को यही श्रम कार्य करने का आदेश दिया जाता है। सजा पाये व्यक्ति को 'तनखैय्या' (Tankhaya) कहा जाता है।

> **शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी**- अकाली आंदोलन का मकसद गुरुद्वारों को कुप्रबंधन से मुक्ति दिलाना था। इसके कारण ब्रिटिश सरकार ने 1925 में गुरुद्वारा अधिनियम पारित किया और देशभर के गुरुद्वारों का प्रबंधन 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी' (Shiromani Gurudwara Parbandhak Committee-SGPC) के पास आ गया। इसके सदस्यों को मतों के जरिए चुना जाता है। इस एसजीपीसी को सिखों की संसद भी कहा जाता है। यह संस्था गुरुद्वारों की देखभाल के अलावा सिख गुरुओं की पवित्र वस्तुओं और लेखन के संरक्षण के अतिरिक्त कई शैक्षिक संस्थानों, अस्पतालों और धर्मादा संस्थाओं का भी संचालन करती है। दिल्ली के गुरुद्वारों का प्रबंधन दिल्ली सिख गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी करती है।

ेक सिख का यह कर्तव्य है कि वह 'एक ओंकार' यानी एक ईश्वर में विश्वास रखे। यह ईश्वर विश्व का निर्माता, पालक संहारक है। ईश्वर हमारे भीतर और बाह्य जगत में मौजूद है। गुरुओं की वाणी के माध्यम से व्यक्ति स्वयं को ईश्वर से ड़ सकता है। सिख धर्म की तीन आधारभूत बातों में पहला है 'नाम जपना' (Naam Japna), यानी गुरुवाणी को रोजाना ना, समझना और उन्हें प्रयोग में लाना। दूसरी आधारभूत बात 'कीरत करणी' (Kirat Karni) है। कीरत करणी का आशय ानदारी और मेहनत करके कमाने से है। तीसरी बात 'वंड चखना' (Vand Chakna) है। इसका आशय यह है जो कुछ ारे पास है उसका दूसरों के साथ साझा करो, दान करो और लंगर करो। इसी से दसवंद (Dasvandh) यानि आय का छ हिस्सा या दस प्रतिशत धर्मार्थ करने की बात निकली है। सिख का कर्तव्य यह भी है कि वह प्रत्येक दिन 'नाम सुमिरन' े और जरुरतमंदों, गुरुद्वारों, बेसहारा लोगों आदि की 'सेवा (Sewa)' करे। सिख धर्म में इन दोनों नाम सुमिरन और सेवा ा आधार शिला माना गया है। सिख धर्म के अनुसार पाँच वृत्तियों काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से दूर रहना चाहिये। न्हें पाँच चोरों की संज्ञा देते हुये कहा गया है कि इनके प्रति हमेशा सतर्कता बरतनी चाहिये। सिख गुरुओं ने प्रत्येक उपासक सत, दया, संतोष, नम्रता और प्रेम जैसे पाँच सद्गुण विकसित करने का उपदेश दिया है। सिख धर्म में चार संस्कारों

Copyright-- Drishti The Vision Foundation

नामकरण (Naam Karan), अमृत संस्कार (Amrit Sanskar), आनंद कारज (Anand Karaj) और अंतम संस्कार (Antam Sanskar) का वर्णन मिलता है। नामकरण से आशय बच्चे का नाम रखने से है। इसे लेकर उम्र की कोई बाध्यता नहीं है। उपासक अपनी सुविधा के अनुसार यह संस्कार संपन्न कर सकता है। अमृत संस्कार बच्चे को सिख धर्म में दीक्षित करने से है। इसे चरण अमृत, चरण पाहुल या पग पाहुल भी कहा गया है। जिन सिखों ने अमृत नहीं चखा या जो सिख धर्म के पाँच चिह्नों में विश्वास नहीं रखते लेकिन वे सिख धर्म की मान्यताओं का पालन करते हैं, उन्हें सहजधारी सिख कहा गया है। आनंद कारज का आशय विवाह से है। इसे गुरु अमरदास ने शुरु किया था। बाद में 1909 में आनंद कारज अधिनियम (Anand Marriage Act, 1909) के जरिए इसे वैधानिक स्वरूप भी दिया गया। अंतम संस्कार से आशय मृत्यु के बाद होने वाले संस्कार से है। सिख धर्म में अपने उपासकों के लिए एक आचार संहिता 'सिख रेहत मर्यादा' (Sikh Reht Maryada) भी बनाई गयी है। इसमें सिख होने का आशय, सिख के कर्तव्य और संस्कारों, गुरुद्वारों से जुड़े मर्यादित व्यवहार आदि का वर्णन है। सिख धर्म के उपासक अपनी पूजा (अरदास) में 'नानक नाम चढ़दीं कलां तेरे बाने सरबत दा भला' दोहराते हैं। इसका आशय 'खुश रहने, सकारात्मक सोच रखने और जीवन में हमेशा तरक्की करने से है। प्रत्येक सिख उपासक के लिए निर्देश है कि वह बाल नहीं कटवायेगा, मादक पदार्थों और तंबाकू का सेवन नहीं करेगा, व्यभिचार से दूर रहेगा, हलाल मांस नहीं खायेगा, विवाहेत्तर संबंध नहीं रखेगा आदि। बाल कटवाने पर कठोर प्रतिबंध सिख धर्म की उदासी शाखा में नहीं है। उदासी संप्रदाय की स्थापना प्रथम गुरु गुरुनानक देव जी के पुत्र श्रीचांद ने की थी।

(6) सिखों की गुरु परंपरा में भी यह बात दोहराई गयी कि जाति मनुष्य विरोधी है इसलिए प्रत्येक सिख को अपने नाम के आगे 'सिंह' और स्त्री को 'कौर' उपनाम प्रयोग करने का उपदेश दिया गया। सिख धर्म में गुरुद्वारा आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के भोजन देने की परंपरा शुरू की गई। समय बदलने के साथ सिखों में भी जाति व्यवस्था का प्रवेश हो गया। भूमि, संख्यात्मक बहुलता और परंपरागत रौबदाब के चलते जाति की चेतना गहरी हो गई। सिखों में विकसित हुई जातियों के पैटर्न को हिन्दू समाज की पदानुक्रम आधारित जाति व्यवस्था के अनुरूप समझा जा सकता है। इस पदानुक्रम में निचले स्थान पर माने जाने वालों को 'मजहबी' कहा गया है। इन 'मजहबी' सिखों का वंचन उसी प्रकार है जिस प्रकार हिन्दू समाज में 'दलितों' का। पंजाब के कई इलाकों में अक्सर दो गुरुद्वारे पाये जाते हैं इनमें से एक उच्च जाति या जाट सिखों का और दूसरा निचली समझी जाने वाली जातियों का गुरुद्वारा होता है। इस व्यवस्था के कारण पंजाब में डेरों की परंपरा का विकास भी हुआ। डेरों की परंपरा सिख धर्म के स्थापित होने के साथ शुरु हुई है। इसका आशय हुआ कि डेरा परंपरा कम से कम चार सौ साल पुरानी है। एक आँकड़े के अनुसार पंजाब में करीब नौ हजार सिख व गैर सिख डेरे हैं। गैर सिख डेरों के ज्यादातर अनुयायी दलित हैं। 'डेरा सच्चा सौदा' और 'डेरा सचखंड बल्लां' लोकप्रिय डेरों में से हैं। जानकारों के अनुसार डेरों की ओर निम्न जातियों के झुकाव को जाट सिखों के दबदबे से अलग एक 'वैकल्पिक आध्यात्मिक-धार्मिक स्थान' की तलाश के रूप में देखा जाता है। डेरों की संरचना मिश्रित होती है। इनका हिंदू या सिख धर्म से ऐसा संबंध भी नहीं कि स्पष्ट तौर पर यह कहा जाए कि यह दोनों में से किस धर्म का विस्तार है। डेरा सचखंड के समर्थक इसे अलग धर्म मानते हैं और इसे रविदास धर्म भी कहते हैं। इसके अनुयायी रविदासिए या आदधर्मी भी कहलाते हैं। इस डेरे के अधिकतर समर्थक दलित समाज का हिस्सा हैं। रविदास डेरे को रविदास मंदिर या रविदास गुरुद्वारा भी कहा जाता है। वे रविदास को भक्त नहीं गुरु मानते हैं। वे कहते हैं कि जब गुरु रविदास की वाणी यानी उनके श्लोक, शब्द श्री गुरु ग्रंथ साहिब में शामिल हैं तो उसकी भी चर्चा हो। इनके डेरों में श्री गुरु ग्रंथ साहिब का प्रकाश होता है और गान होता है। लेकिन साथ-साथ डेरे के संत को गुरु माना जाता है और इस तरह से ये सिख धर्म से अलग हो जाते हैं जबकि सिखों के दसवें गुरु 'गुरु गोबिंद सिंह' का आदेश था ''गुरु मान्यौ ग्रंथ'' यानी आगे से 'गुरु ग्रंथ साहिब', ग्रंथ ही गुरु होगा। डेरा परंपरा भारत की पुरानी परंपरा की तरह है जिसे 'सिंक्रेटिक' (Syncretism) धर्म कहते हैं। इसका आशय है कि इन जगहों पर अन्य सभी धर्मों के लोग आते हैं और समर्थक होने के लिए जरूरी नहीं कि व्यक्तिगत धर्म छोड़ना पड़े।

> **आनंदपुर साहिब प्रस्ताव-** अकाली आंदोलन से जुड़े लोगों ने 1973 में 'आनंदपुर साहिब प्रस्ताव' पारित करके धार्मिक एवं राजनीतिक लक्ष्यों को हासिल करने की बात कही इस प्रस्ताव के पहले भाग में कहा गया था कि शिरोमणि अकाली दल सिखों में धार्मिकता की भावना पैदा करने के लिए कुछ कार्यक्रम चलाए इसके दूसरे एवं अंतिम भाग का स्वरूप राजनीतिक था। इसमें एक बिंदु यह भी था कि भारतीय संविधान को सही अर्थों में संघीय बनाया जाये और केंद्र सरकार केवल रक्षा, विदेश, संचार एवं मुद्रा के विषयों पर ही ध्यान दे तथा शेष विषयों को राज्यों को सौंप दे। इस प्रस्ताव के बाद से सिख राजनीति में एक नया मोड़ आ गया और कुछ अतिवादियों ने एक अलग राष्ट्र 'खालिस्तान' की माँग सामने रखी। अतिवादियों ने हिंसा का रास्ता भी अपनाया जिसकी परिणति स्वर्णमंदिर को आतंकवादियों से खाली करने संबंधी आपरेशन 'ब्लू स्टार' एवं प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी सहित अन्य महत्त्वपूर्ण लोगों की हत्या और सिख विरोधी दंगों में हुई।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म उन पारंपरिक अर्थों में 'धर्म' की व्याख्या से भिन्न है जिसमें उपासक को ईश्वर, अवतार, मृत्यु के बाद स्वर्ग-नरक, अमर आत्मा आदि मान्यताओं में विश्वास रखना होता है। वास्तव में यह एक आध्यात्मिक रास्ता है जिस पर चलकर साधक को उसके दु:खों से मुक्ति मिल सकती है। फिर भी इसे अध्ययन की सुविधा के लिए धर्म कहा जाता है। बौद्ध धर्म के संस्थापक सिद्धार्थ गौतम या महात्मा बुद्ध (संभावित तिथि 563 ई.पू.-483 ई.पू.) ने न तो ईश्वर होने का दावा किया और न ही ईश्वर से किसी प्रकार के संबंध रखने की बात कही। बौद्ध धर्म में सांसारिक बंधनों से मुक्ति को स्वयं के प्रयासों से प्राप्त किया जाता है। यह धर्म आत्मनिर्भरता, आत्म अनुशासन और व्यक्तिगत प्रयासों पर ही जोर देकर ''आत्म दीपो भव:'' यानी अपना प्रकाश स्वयं बनने की बात कहता है। इस धर्म की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

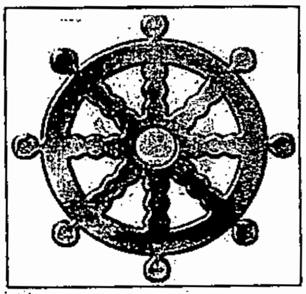

1. महात्मा बुद्ध ने 29 वर्ष की अवस्था में गृह-त्याग (महाभिनिष्क्रमण), 40 वर्ष में उपदेश देना प्रारंभ किया और 80 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु (महापरिनिर्वाण) हो गई। उन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा और न ही ऐसा करने का आदेश दिया। यहाँ तक कि वे अपने शिष्यों के ईश्वर, आत्मा आदि पराभौतिक जगत से जुड़े प्रश्नों पर मौन धारण कर लेते थे क्योंकि वह इन बातों को निरर्थक समझते थे लेकिन उनके निधन के बाद राजगृह में हुये पहले बौद्ध सम्मेलन या संगीति में उनके उपदेशों का संकलन किया गया ताकि भविष्य के साधकों को उनके वचनों से अवगत कराया जा सके। इस सम्मेलन में महात्मा बुद्ध के उपदेशों को तीन पिटकों या भागों 'सुत्त पिटक', 'विनय पिटक' और 'अभिधम्म पिटक' में विभक्त किया गया। सुत्त पिटक में आम जनता के लिए उपदेशों का संकलन है। इसमें समकालीन समाज के बारे में भी ऐतिहासिक जानकारियाँ मिलती हैं। सुत्त पिटक को पाँच निकायों या भागों में बाँटा गया है– दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय। सुत्त पिटक का प्रत्येक सूत्र 'एवं मे सुत्तं' (ऐसा मैंने सुना) से प्रारंभ होता है। विनय पिटक आचार संबंधी ग्रंथ है। इसका प्रत्येक सूत्र 'तेन समयेन' (उस समय से) से प्रारंभ होता है। इसमें भिक्षुकों के चरित्र संबंधी नियमों का वर्णन है। इसके तीन भाग सुत्तविभंग, खंधक और परिवार हैं। इसमें सुत्तविभंग के दो भाग भिक्खु विभंग और भिक्खुनी विभंग हैं। इसी तरह खंधक के भी दो भाग हैं– महावग्ग और चुल्लवग्ग। अभिधम्म पिटक बौद्ध भिक्षुकों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका प्रत्येक सूत्र 'तस्मिं खो पन समये' (उस समय में) कहा गया है। इसमें सर्वाधिक वर्णन 'द्वादश निदान' का मिलता है। इसके सात भाग–धम्म संगणी, विभंग, धातुकथा, पुग्गल पंजति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान हैं। इन तीनों पिटकों की मूल भाषा तो पालि है लेकिन कनिष्क (73ई.-103ई.) के समय में हुई चौथे बौद्ध सम्मेलन में इनका संस्कृत में अनुवाद किया गया। ये त्रिपिटक ही उस समय देश-विदेश में प्रचार के लिए बौद्ध धर्म के संरक्षकों द्वारा भेजे जाते थे।

2. हीनयान, वज्रयान और महायान बौद्ध धर्म के तीन प्रमुख संप्रदाय हैं। कुछ विद्वान वज्रयान को महायान की ही शाखा मानते हैं। हीनयान संप्रदाय श्रीलंका, वियतनाम, लाओस आदि पूर्वी देशों में जबकि महायान चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में प्रसारित हुआ। हीनयान संप्रदाय बुद्ध की मूलभूत शिक्षाओं पर अधिक बल देता है जबकि महायान बुद्ध की शिक्षाओं की व्याख्या पर जोर देता है। इन दोनों संप्रदायों में एक प्रमुख अंतर व्यक्ति और समष्टि का है। हीनयान के अनुसार व्यक्ति को खुद के मोक्ष के लिए प्रयास करना चाहिये। हीनयान का चरम आदर्श 'अर्हत' पद की प्राप्ति है। व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करने वाला साधक अर्हत कहलाता है। महायान के अनुसार मोक्ष की यह अवधारणा संकुचित है। व्यक्ति को स्वयं की नहीं बल्कि सभी की मुक्ति का प्रयास करना चाहिये। महायानी का चरम आदर्श 'बोधिसत्व' है। बोधिसत्व वह प्राणी है जो व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करके भी उसे तब तक स्वीकार नहीं करता जब तक विश्व के सभी प्राणी मुक्त नहीं हो जाएँ। महायानी कुछ बोधिसत्वों जैसे अवलोकितेश्वर, अभिताभ, मंजूनाथ और मैत्रेय आदि के नाम भी बताता है। महायानियों की समष्टि की इस भावना के कारण उनमें सामाजिकता और लोक-कल्याण का भाव अधिक है। महायान में बोधिसत्व के लिए दस प्रकार की पारमिताएँ या पूर्णताएँ स्वीकार की गई हैं जबकि हीनयान में ऐसा वर्णन नहीं है। हीनयानी संप्रदाय की मूल शिक्षाओं पर ध्यान केंद्रित करने के कारण वह महात्मा बुद्ध को ईश्वर के रूप में नहीं देखता और इसलिए वह उनकी पूजा नहीं करता लेकिन महायानी बुद्ध को ईश्वर मानते हैं और उनकी पूजा एवं अवतारों में विश्वास रखते हैं। इसी कारण से बुद्ध की प्रतिमाएँ बनीं और कला जगत में उन्हें अग्रणी स्थान मिला। संभवत: इसलिए कहा जाता है कि महायान भक्तिप्रधान धर्म है। इसी तरह महायान त्रिकायवाद यानी महात्मा बुद्ध की तीन प्रकार की काया में विश्वास रखता है लेकिन, हीनयानी यह विश्वास व्यक्त नहीं करते। बौद्ध दर्शन के अनुसार देखें तो हीनयान के दो उपसंप्रदाय सौत्रान्तिक और वैभाषिक हैं, जिन्हें सम्मिलित रूप से सर्वास्तिवाद भी कहा गया है। हीनयान से थेरवाद या स्थाविरवाद भी जुड़ा हुआ है। इसी तरह महायान के दो संप्रदाय

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

विज्ञानवाद और शून्यवाद हैं। हिन्दू दार्शनिक शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धांत इसी शून्यवाद से मिलते-जुलते हैं इसलिए उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा जाता है। महायानियों के अन्य उपसंप्रदाय जेन, नेचिरेन, तेंदाई, शिंगोन आदि हैं।

4. बुद्ध जयंती या बुद्ध पूर्णिमा बौद्ध धर्म की थेरवाद शाखा के उपासकों के लिए एक प्रमुख त्यौहार है। बुद्ध जयंती बैशाख पूर्णिमा को मनाया जाता है। इस दिन भगवान बुद्ध का जन्म, ज्ञान प्राप्ति और महापरिनिर्वाण हुआ था। इसे वेसाक (Wesak or Vesak) भी कहा जाता है। महायानी बौद्ध इस पर्व को 'लोसर' (Losar) कहते हैं। लोसर का चलन देश के सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश में ज्यादा है। जापान के बौद्ध इस पर्व को हाना मसूरी (Hana Matsuri) या पुष्पोत्सव के रूप में मनाते हैं। इसके अलावा थेरवाद शाखा में पोसोन (Poson) पर्व श्रीलंका के बौद्ध अनुयायियों द्वारा जून/जुलाई में मनाया जाता है। यह पर्व श्रीलंका में पहली बार बौद्धधर्म प्रचारित करने वाले सम्राट अशोक के पुत्र महेंद्र के आगमन की खुशी में मनाया जाता है। श्रीलंका में ही असाला दिवस (Asala Day) पर्व मनाया जाता है। यह पर्व भगवान बुद्ध के पहली बार धर्मचक्र प्रवर्तन के बारे में शिष्यों को बताने की खुशी में मनाया जाता है। इसे धम्म दिवस (Dhamma Day) भी कहते हैं। थाईलैण्ड के थेरवादी बौद्ध वर्षा ऋतु के बाद काथिना पर्व मनाते हैं। एक महीने तक चलने वाले इस पर्व में मठों में भिक्षुओं को उनकी सेवाओं और त्याग के कारण उपहार दिये जाते हैं। थेरवादी उपोस्थ (Uposatha) पर्व भी मनाते हैं। यह पर्व चंद्रमा की अर्द्धकला और पूर्णकला वाले दिनों यानी चंद्रमास में एक सप्ताह के अंतराल में चार/पाँच बार मनाया जाता है। इस दिन बौद्ध भिक्षुक 'पतिमोक्ख' या 'प्रतिमोक्ष' जो कि विनय पिटक का एक भाग है, का पाठ करते हैं और मठ से जुड़े अन्य साफ-सफाई एवं धार्मिक कार्य संपन्न करते हैं। एक सामान्य उपासक इस दिन बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को दोहराता है। श्रीलंका के कैंडी के स्तूप परिसर, जहाँ महात्मा बुद्ध का दाँत रखा है, में दंतोत्सव (Festival of Tooth) मनाया जाता है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा में लोसर या तिब्बती नववर्ष (Losar -Tibetan New Year) हाना मसूरी, ओबन और गुरु रिनपोछे जन्मदिवस मनाने का प्रचलन है। ओबन भी जुलाई महीने में जापान में मनाया जाता है। इस दिन अपने पूर्वजों को याद किया जाता है। इस पर्व को उलामबाना (Ulambana or Ancestor Day) भी कहते हैं। माना जाता है कि इस पर्व में मृत परिजनों को भोजन आदि अर्पित किया जाता है। इनके अलावा बौद्ध की तिब्बती शाखा गुरु रिनपोछे या पद्मसंभव पर्व मनाती है। जुलाई महीने में आने वाले इस पर्व में ओस्क (Tosk) नामक परंपरा का निर्वहन होता है। थेरवादी मार्च महीने में माघ पूजा दिवस या संघ दिवस [Magha Puja Day (Fourfold Assembly or Sangha Day] मनाते हैं। बर्मा में अभिधम्म दिवस (Abhidhamma Day) अप्रैल में मनाया जाता है। माना जाता है कि इस दिन भगवान बुद्ध अपनी माँ को बौद्ध धर्म के बारे में बताने स्वर्ग की यात्रा पर गये थे।

5. बौद्ध धर्म का प्रतीक चिह्न धम्मचक्र या समयचक्र कहलाता है। चक्र का गोल घेरा दर्शाता है कि बौद्ध धर्म की शिक्षा ही सम्पूर्ण है और समय ही ऐसा है जिसका कोई आदि- अंत नहीं है। चक्र की आठ तीलियाँ अष्टांगिक मार्ग दर्शाती हैं। बौद्ध धर्म की आठ तीलियों वाले चक्र को बौद्ध धर्म के प्रतीक के रूप में देखा जाता है। यदि चक्र में बारह तीलियाँ हों तो वे प्रतीत्यसमुत्पाद के आरंभ के 12 सिद्धांतों को दर्शाती हैं। इसी प्रकार चौबीस तीलियों वाला चक्र प्रतीत्यसमुत्पाद के आरंभ के 12 और समाप्ति के 12 सिद्धांतों को दर्शाता है। चक्र का केंद्र अनुशासन और ध्यान केन्द्रित करने को दर्शाता है।

बहाई धर्म *(Bahai Religion)*

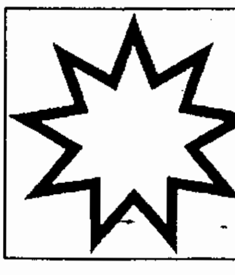

प्रेम और एकता के दर्शन वाले बहाई धर्म की स्थापना ईरानी संत पुरुष 'बहाउल्लाह' 1817-1892) ने ईरान में की थी। उन्होंने सन् 1873 में इस धर्म के सिद्धांतों का वर्णन किताब-ए-अकदस' में किया। इस धर्म को स्वीकारने वाले 'बहाई' कहलाते हैं और वे 'बहाउल्लाह' को ईश्वर का भेजा हुआ पैगम्बर या दूत मानते हैं। बहाउल्लाह का मत था कि दुनिया के सभी धर्म एक ही स्रोत से विकसित हुये हैं और ईश्वर ने ईसा मसीह, हजरत पैगम्बर मुहम्मद, भगवान कृष्ण और महात्मा बुद्ध को विभिन्न समयों पर मानव कल्याण के लिए पृथ्वी पर भेजा। बहाई धर्म में धर्मगुरु, पुजारी, मौलवी या पादरी जैसा कोई पद नहीं होता। इसके अनुयायी जाति, धर्म, भाषा, वर्ण, वर्ग आदि किसी भी पूर्वाग्रह को अस्वीकार करके एकेश्वरवाद और विश्वभर के विभिन्न धर्मों और पंथों की एकता पर बल देते हैं। वे मानते हैं कि जगत में जिन चीजों का भी अस्तित्व है, उनमें एक तरह की एकता और समानता है। दैवी तत्त्व या सत्य को समझ पाना मनुष्य की क्षमता से परे है लेकिन मनुष्य सहित सभी प्राणियों में वही दैवी तत्त्व विद्यमान है और उसी से एकाकार हो जाना हमारे अस्तित्व का परम लक्ष्य है। सभी धर्मों का सत्य और लक्ष्य एक ही है, समस्त दैवी अवतार और पैगंबर एक ही होते हैं लेकिन मानव सभ्यता के विकास के ऐतिहासिक और सामाजिक जरूरतों के मुताबिक वे अपने आप को विभिन्न रूपों में प्रकट करते हैं।

बहाई धर्म के अनुयायियों के अनुसार भारत में बहाई धर्म की जड़ें 1844 से ही देखी जा सकती हैं। यह वह वर्ष है जब 18 पवित्र आत्माओं ने 'बहाउल्लाह' के ईश्वर प्रदत्त गुणों की पहचान की थी। इनमें से एक व्यक्ति भारतीय था। बहाई मतावलंबियों

Copyright– Drishti The Vision Foundation

का दावा है कि भारत में बहाई उपासकों की संख्या 20 लाख है। भारत में बहाई अनुयायियों का मंदिर नई दिल्ली स्थित 'कमल मंदिर' या लोटस टेम्पल के नाम से प्रसिद्ध है। इस धर्म की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. इस धर्म के उपासक एक विशिष्ट कैलेण्डर प्रयोग करते हैं। एक बहाई कैलेण्डर में 19 दिनों के 19 महीने होते हैं। अठारहवें और 19वें महीने के बीच के 4-5 दिन लौंध के दिन; उपहारों के आदान-प्रदान और अतिथि-सत्कार के दिन होते हैं। 19वाँ महीना यानी 2 मार्च से 20 मार्च उपवास का महीना होता है। इन दिनों सूर्योदय से सूर्यास्त तक खान-पान निषेध होता है। प्रत्येक बहाई माह के प्रथम दिन बहाई समुदाय के लोग उन्नीस दिवसीय सहभोज सभा मनाने के लिए साथ-साथ इकट्ठा होते हैं। बहाई उपासक मानते हैं कि 9 पवित्र दिवसों में अवकाश लेना अनिवार्य है इनमें नव वर्ष-21 मार्च, बहाउल्लाह का स्वर्गारोहण दिवस-29 मई, और बहाउल्लाह का जन्मदिवस-12 नवम्बर प्रमुख हैं।
2. इस धर्म में पुरोहित वर्ग के नहीं होने के कारण चुनाव के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि ही धर्म से जुड़े सामाजिक कार्य संपन्न करते हैं। प्रत्येक ऐसे समुदाय में जहाँ नौ या नौ से अधिक वयस्क बहाई निवास करते हैं, वहाँ गुप्त मतदान द्वारा स्थानीय आध्यात्मिक सभा निर्वाचित की जाती है। यह सभा समुदाय के कल्याण से सम्बंधित कार्य करती है और विश्व न्याय मंदिर (ईरान) से प्राप्त मार्गदर्शन के आधार पर योजनायें बनाती है। सभा प्रत्येक बहाई माह के प्रथम दिन सहभोज, प्रार्थनायें व परामर्श कार्य संपन्न करती है। एक व्यक्तिगत बहाई से यह आशा की जाती है कि वे धर्म का शिक्षण व सामुदायिक जीवन की आध्यात्मिकता को उच्च बनाने के लिए अपने घरों में कार्यक्रम आयोजित करेंगे।
3. बहाई नियम भी विशिष्ट हैं। ये नियम आगामी 1000 वर्षों के लिए सर्वमान्य हैं जब तक कि ईश्वर पृथ्वी पर अपने अगले अवतार को नहीं भेजता। धर्म के अनुसार चूँकि अभी बहाउल्लाह के सभी नियम अनुपालन में नहीं हैं इसलिए जैसे-जैसे बहाई समुदाय परिपक्व होता जाएगा वैसे-वैसे नये नियमों से परिचित होता जायेगा। इनमें से कुछ नियम इस प्रकार हैं– सुबह-शाम प्रार्थना एवं पाठ, प्रतिदिन अनिवार्य प्रार्थनाओं में गायन सर्वमहान नाम अल्लाह-ओ-आभा (ईश्वर सर्वमहिमामय है) का 95 बार प्रति दिन पाठ, बहाई कैलेण्डर, बहाई विवाह और शव-संस्कार का पालन, सभी प्रकार के मादक द्रव्यों और पीठ पीछे बुराई से दूर रहना व समुदाय की एकता के लिए कार्य करना, बचत की राशि में से एक निर्धारित प्रतिशत ईश्वराधिकार (हुकूकुल्लाह) के रूप में अदा करना, राजनीतिक पार्टी में भागीदारी न करना व अपनी लेखनी एवं भाषणों में राजनेताओं के नाम तक का उल्लेख न करना आदि। प्रत्येक बहाई इन नियमों का पालन स्वेच्छा से करता है।

जैन धर्म *(Jain Religion)*

जैन धर्म के अनुसार 'जैन' वे हैं, जो 'जिन' के अनुयायी हों। 'जिन' का आशय जीतने वाले से है। जिन्होंने अपने मन, वाणी और काया को जीत लिया, वे 'जिन' हैं। जिन को देवता मानने वाले को जैन और उनके धर्म को जैन धर्म कहते हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार जनसंख्या बढ़ने से भोगभूमि कर्मभूमि में बदल गयी। इस भोगभूमि में 14 कुलकर या मनु उत्पन्न हुये। इन लोगों ने कुल की प्रथा चलाई। इन कुलकरों में अंतिम कुलकर नाभिराय थे। इनके पुत्र का नाम ऋषभदेव था जो जैन धर्म के आदि प्रवर्तक थे। प्राचीन हिन्दू पुराणों में इनका उल्लेख मिलता है। इनके जैसे 23 तीर्थंकर और हुये जिनके नाम और उनके प्रतीक चिह्न इस प्रकार हैं ऋषभदेव (प्रतीक चिन्ह-साँड), अजितनाथ (हाथी), संभवनाथ (घोड़ा), अभिनंदन (बंदर), सुमतिनाथ (चकवा), पद्मप्रभु (कमल), सुपार्श्वनाथ (स्वास्तिक), चंद्रप्रभु (चंद्रमा), पुष्पदंत (मगर), शीतलनाथ (कल्पवृक्ष), श्रेयासनाथ (गैंडा), वासुपूज्य (शूकर), अनंतनाथ (सेही), धर्मानाथ (वज्रदंड), शांतिनाथ (हिरण), कुंथुनाथ (बकरा), अर्हतनाथ (मछली), मल्लिनाथ (कलश), मुनिसुव्रतनाथ (कछुआ), नमिनाथ (नीलकमल), नेमिनाथ (शंख), पार्श्वनाथ (सर्प) और अंतिम तीर्थंकर महावीर (सिंह) हुये। इस धर्म की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

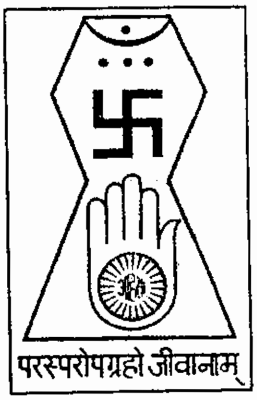

1. जैन धर्म किसी ग्रंथ पर आधारित धर्म नहीं है। भगवान महावीर ने सिर्फ प्रवचन दिए थे। उन्होंने किसी ग्रंथ की रचना नहीं की थी, लेकिन बाद में उनके उपदेशों का संग्रह किया गया। भगवान महावीर से पहले के जैन धार्मिक साहित्य को महावीर के शिष्य गौतम ने संकलित किया था, जिसे 'पूर्व' माना जाता है। इस तरह के चौदह पूर्वों का उल्लेख मिलता है। जैन धर्म ग्रंथ के सबसे पुराने ग्रंथ 46 'आगम ग्रंथ' माने जाते हैं। जैन धर्म भी बौद्ध धर्म के समान निवृत्तिमार्गी है। जैन दर्शन एवं धर्म दु:खों से छुटकारा पाने हेतु तृष्णाओं के त्याग पर बल देता है। वह मनुष्यों को सम्पत्ति, संसार, परिवार आदि का त्याग करने पर बल देता है।
2. ईसा की पहली सदी में जैन मतावलंबी अकाल संबंधी मुश्किलों पर विभिन्न विचारों के कारण 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' संप्रदायों में बँट गये। श्वेताम्बर संप्रदाय के प्रवर्तक स्थूलभद्र और दिगम्बर संप्रदाय के प्रवर्तक भद्रबाहु थे। इन दोनों संप्रदायों में मतभेद दार्शनिक सिद्धांतों पर कम लेकिन व्यवहार को लेकर अधिक है। दिगम्बर आचरण पालन में अधिक कठोर माने जाते हैं, जबकि श्वेताम्बर कुछ उदार

Copyright– Drishti The Vision Foundation

हैं। श्वेताम्बर संप्रदाय के मुनि श्वेत वस्त्र धारण करते हैं, जबकि दिगम्बर मुनि निर्वस्त्र रहकर साधना करते हैं। यह नियम केवल मुनियों पर लागू होता है। दिगम्बर मुनि मानते हैं कि दिग या दिशा ही उनका वस्त्र है। दिगम्बर संप्रदाय मानता है कि जैन धर्म के मूल आगम ग्रंथ विलुप्त हो चुके हैं। 'कैवल्य ज्ञान' प्राप्त होने पर सिद्ध को भोजन की आवश्यकता नहीं रहती और स्त्री शरीर को 'कैवल्य ज्ञान' संभव नहीं है। किंतु श्वेताम्बर संप्रदाय ऐसा नहीं मानते है। श्वेताम्बर जैन आगमों- अंग, उपांग, प्रकीर्णक, वेदसूत्र, मूलसूत्र तथा अन्य में विश्वास करते थे जबकि दिगम्बर केवल 14 पूर्वों में विश्वास करते हैं। श्वेताम्बर के अनुसार महावीर ने यशोदा से विवाह किया जबकि दिगम्बर के अनुसार उन्होंने विवाह नहीं किया। श्वेताम्बर 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ को स्त्री मानते हैं जबकि दिगम्बर पुरुष। इन मतभेदों के बाद भी दोनों संप्रदायों का दार्शनिक आधार एक ही है। श्वेताम्बर संप्रदाय के प्रमुख आचार्य सिद्धसेन, दिवाकर, हरिभद्र, स्थूलभद्र आदि थे। दिगम्बर संप्रदाय के प्रमुख आचार्य भद्रबाहु, नेमिचंद, ज्ञानचंद, विद्यानंद आदि थे। जैन धर्म की दिगम्बर शाखा में तीन उपशाखाएँ हैं–बीसपंथी, तारापंथी और तेरापंथी। इसके अलावा दो छोटे उपसंप्रदाय गुमानपंथी और तोता पंथी हैं। श्वेताम्बर में उपशाखाएँ–मूर्तिपूजक, तेरापंथी और स्थानकवासी हैं।

3. निवृत्तमार्गी जैन धर्म ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। वह ईश्वर को सृष्टिकर्ता भी नहीं मानता। जैन धर्म संसार को शाश्वत, नित्य, अनश्वर, और वास्तविक अस्तित्व वाला मानता है। इसके अनुसार पदार्थ का मूलतः विनाश नहीं होता, बल्कि उसका रूप परिवर्तित होता है। जैन धर्म अनेकांतवाद को मानता है जिसके अनुसार भिन्न जीवों में भिन्न-भिन्न आत्माएँ होती हैं। समस्त चर-अचर जगत जीव युक्त है लेकिन उनमें चेतना का स्तर भिन्न है। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य स्वयं अपना भाग्य विधाता है। सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है। उसके सारे सुख-दुःख इस कर्म के कारण ही हैं। कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है। मनुष्य 8 प्रकार के कर्म करता है–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तराय कर्म। मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने पूर्वजन्म के कर्मफल का नाश करे और इस जन्म में किसी प्रकार का कर्मफल संग्रहीत न करे। यह लक्ष्य 'त्रिरत्न' के अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त होता है। ये त्रिरत्न हैं–सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण। सत् में विश्वास सम्यक् श्रद्धा है। शंकाविहीन और वास्तविक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है तथा बाह्य जगत के विषयों के प्रति सम दुःख-सुख भाव से उदासीनता ही सम्यक् आचरण है। जैन धर्म के अनुसार ज्ञान पाँच प्रकार का है–मति, जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है; श्रुति, जो सुनकर या वर्णन के द्वारा प्राप्त होता है। अवधि, जो दिव्य ज्ञान है; मन पर्याय, जो अन्य व्यक्तियों के मन-मस्तिष्क की बात जान लेने का ज्ञान है; कैवल्य, जो पूर्ण ज्ञान है और निर्ग्रंथों को प्राप्त होता है। जैन धर्म का परम लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति है। जीव के भौतिक अंश का नाश ही निर्वाण है। यह अंश तभी नष्ट होगा, जब मनुष्य कर्मफल से मुक्त हो जाए यानी सम्पूर्ण कर्मफल निरोध ही निर्वाण प्राप्ति का साधन है। जीव के भौतिक तत्त्व का दमन करने के लिए काया क्लेश आवश्यक है, जिसके लिए तपस्या, व्रत, आत्महत्या करने का विधान है।

4. जैन धर्म में भिक्षु वर्ग के लिए पंचमहाव्रतों की व्यवस्था की गई है। इनमें पहला अहिंसा महाव्रत है। इसके अनुसार जानबूझ कर या अनजाने में भी किसी प्रकार की हिंसा नहीं करनी चाहिए। दूसरा महाव्रत 'असत्य त्याग' है, इसके अनुसार मनुष्य को सदैव सत्य तथा मधुर बोलना चाहिए। तीसरा 'अस्तेय' महाव्रत है, इसके अनुसार बिना अनुमति किसी भी दूसरे व्यक्ति की कोई वस्तु नहीं लेनी चाहिए और न ही इसकी इच्छा करनी चाहिए। चौथा 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' है, इसका आशय है कि भिक्षु को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इसके लिए किसी नारी को देखना, बात करना, संसर्ग का ध्यान करना, नारी की उपस्थिति वाले घर में निवास करना वर्जित है। पाँचवां एवं अंतिम महाव्रत 'अपरिग्रह' है इसके अनुसार भिक्षुओं को किसी प्रकार का संग्रह नहीं करना चाहिए। जैन धर्म गृहस्थों के लिए भी इन पाँच व्रतों के पालन की बात करता है, परन्तु उनके लिए इन व्रतों की कठोरता कम कर दी गई। ये पंच अणुव्रत हैं–अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अस्तेयाणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और अपरिग्रहाणुव्रत। जैन धर्म में 18 पापों की कल्पना की गई है–हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, दोषारोपण, चुगली, असंयम में रति और संयम में अरति, परनिंदा, कपटपूर्ण मिथ्या और मिथ्यादर्शनरूपी शल्य। जैन दर्शन का स्याद्वाद या सप्तभंगी का सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। जैन धर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने के कारण प्रत्येक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। ज्ञान की यह विभिन्नता सात प्रकार की हो सकती है– नहीं है, है और नहीं है, कहा नहीं जा सकता, है किन्तु कहा नहीं जा सकता, नहीं है और कहा नहीं जा सकता तथा है, नहीं है और कहा नहीं जा सकता।

5. जैन धर्म में कई प्रकार के त्यौहारों का प्रचलन है जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व 'पर्यूषण' या 'क्षमावाणी पर्व' है। यह पर्व जैन धर्म के संप्रदायों श्वेताम्बर और दिगम्बर एवं उनके उपसंप्रदायों में भाद्र महीने की अलग-अलग तारीखों में मनाया जाता है। श्वेताम्बर इस पर्व को पर्यूषण तो दिगम्बर समुदाय इसे दसलक्षण अथवा क्षमावाणी पर्व भी कहता है। श्वेतांबर इस पर्व को आठ दिनों तक तथा दिगम्बर इस पर्व को दस दिनों तक मनाते हैं। इस पर्व में जैन उपासक यह घोषणा करते हैं कि

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मन, वचन, काया से वे जानकर या अज्ञानवश किसी भी हिंसक गतिविधि में न तो भाग लेंगे और न ही ऐसा करने के लिए दूसरों से कहेंगे एवं न ही ऐसा करने वालों के कर्मों का अनुमोदन करेंगे। यह आश्वासन देने के लिए कि उनका किसी से बैर या शत्रुता नहीं है, वे यह भी घोषित करते हैं कि उन्होंने विश्व के समस्त जीवों को क्षमा कर दिया है और उन जीवों को अब किसी प्रकार से उनसे डरने की आवश्यकता नहीं है। जैन धर्म उपासक मानते हैं कि क्षमा माँगने से ज्यादा बड़ा काम क्षमा करना है। क्षमा देना अभयदान के समान है और इससे संसार में अहिंसा की प्रवृत्ति का विकास होता है। इस पर्व का आयोजन उल्लास के साथ नहीं होता क्योंकि यह विवेक और संयम के अभ्यास का पर्व है। यह पर्यावरण की शुद्धि और मैत्री में पड़ी गाँठे खोलने का भी पर्व है। दिगम्बरों के अनुसार दस लक्षणों क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य और ब्रह्मचर्य का अच्छी तरह से पालन करने पर इस संसार से मुक्ति मिल सकती है। इन दस लक्षणों के अभ्यास के लिए पर्व के दस दिनों में श्रावक अपनी शक्ति अनुसार उपवास करते हैं। इस पर्व को 'पर्वों का राजा' कहा जाता है। इस दिन जैन श्रद्धालु मंदिरों को भव्यता के साथ सजाकर भगवान की पूजा करते हैं। दोपहर के बाद विशाल शोभा यात्रा निकाली जाती है और संध्या के समय धार्मिक कार्यक्रम होते हैं।

'श्रुतपंचमी पर्व' प्रतिवर्ष ज्येष्ठ मास में शुक्ल पक्ष की पंचमी को मनाया जाता है। मान्यता है कि मुनि पुष्पदंत महाराज एवं भूतबली महाराज ने लगभग 2000 वर्ष पूर्व गुजरात में गिरनार पर्वत की गुफाओं में ज्येष्ठ शुक्ल की पंचमी के दिन ही जैन धर्म के प्रथम ग्रन्थ 'षट्खंडागम' की रचना पूरी की थी। यही कारण है कि वे इस ऐतिहासिक तिथि को 'श्रुतपंचमी पर्व' के रूप में मनाते हैं। श्रुतपंचमी पर्व ज्ञान की आराधना का महान पर्व है, जो मानव समाज को वीतरागी संतों की वाणी सुनने और आराधना का सन्देश देता है। मुनियों ने अज्ञान के अन्धकार को मिटाकर ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले इस महापर्व के सुअवसर पर पुराने ग्रंथों, शास्त्रों और सभी किताबों की देखभाल करने का निर्देश दिया है।

दीपमलिका पर्व कार्तिक मास की अमावस्या को बड़े उल्लास के साथ मनाया जाने वाला पर्व है। जैनियों की यह मान्यता है कि कार्तिक मास की अमावस्या को ही भगवान महावीर ने पावापुरी के एक उद्यान में मोक्ष प्राप्त किया था। इस समय इन्द्र सहित कई देवताओं ने पावापुरी नगरी को दीपों से सजा दिया था। तभी से जैन धर्म में यह पर्व 'दीपमलिका पर्व' के नाम से मनाया जाता है। दीपमलिका पर्व पर सभी जैन धर्मावलम्बी संध्या के समय दीपों की माला सजाकर बही-खातों का शुभारम्भ करते हैं।

दिगम्बर जैन की मान्यताओं के अनुसार स्त्रियाँ हर वर्ष सुगंध दशमी या धूपदशमी व्रत करती हैं। व्रत को विधिपूर्वक करने से अशुभ कर्मों का क्षय, शुभास्त्रव और पुण्यबंध होता है तथा स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह व्रत भाद्रपद शुक्ला दशमी को किया जाता है। इस दिन सभी जैन स्त्री व पुरुष मंदिरों में जाकर धूप अर्पित करते हैं। इन पर्वों के अलावा भगवान पार्श्वनाथ के मोक्ष प्राप्त करने का पर्व 'मोक्ष सप्तमी' और जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर से संबंधित पर्व 'पंचकल्याणक पर्व' जैन धर्म में आस्था रखने वाले भक्तों द्वारा मनाया जाता है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-11

दार्शनिक प्रवृत्तियाँ (*Philosophical Trends*)

दर्शन क्या है (*What is Philosophy*)

मनुष्य केवल हाड़ मांस का पुतला भर नहीं है। वह इस संसार का अपने ढंग से अनुभव करता है। दुनिया को देख कर चकित होता है और कई प्रकार के सवाल खुद से तथा औरों से पूछता है। उसके कुछ सवाल इस प्रकार होते हैं कि आखिरकार सच क्या है। सच किसे मानें। सच तक पहुँचने के तरीके क्या हैं। यह दुनिया क्या है। स्वर्ग-नर्क क्या है। क्या वास्तव में ईश्वर है। धर्म क्या है। या फिर हम क्या हैं और क्यूं इस दुनिया में आये हैं।हमारा इस दुनिया में आने का मकसद क्या है। यह सिलसिला कब तक चलता रहेगा आदि। इंसान के इन सवालों के जवाब ढूंढने की कोशिश सदियों से चली आ रही है। इन प्रयासों का समग्र अध्ययन ही दर्शनशास्त्र है।

दर्शन शब्द का साधारण अर्थ है- देखना। दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'दृश' धातु से मानी जाती है जिसका आशय देखने से है। जब हम शब्द दर्शनशास्त्र का प्रयोग करते हैं तो बात और गहरी हो जाती है। इसमें दर्शन का आशय चीजों को साधारण तौर पर ही देखने से नहीं लिया जाता बल्कि उसके स्वरूप को देखा जाता है यानी दर्शन चीजों के स्वरूप का ज्ञान है, तत्व का ज्ञान है। इसलिए दर्शन को तत्व दर्शन भी कहा जाता है। दर्शन का अंग्रेजी अनुवाद 'Philosophy' किया जाता है। यहाँ फिलॉस का आशय अनुराग या प्रेम से है और सोफिया का आशय ज्ञान से। इस प्रकार फिलॉसफी का आशय हुआ ज्ञान के प्रति अनुराग या प्रेम। भारतीय परंपरा में दर्शन शब्द का अर्थ 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम' से है। यानी जिसके द्वारा दिव्य दृष्टि मिल सके वही दर्शन है। इस प्रकार यह पाश्चात्य दर्शन की तरह केवल बौद्धिक विलास नहीं है बल्कि जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँचने का एक साधन है। भारतीय दार्शनिक चिंतन केवल सैद्धांतिक नहीं है, वह सिद्धातों को जीवन में उतारने पर बल देता है।

भारतीय दर्शन की कई प्रवृत्तियाँ सैकड़ों वर्षों से चली आ रही हैं। इनमें से नौ प्रवृत्तियों को प्रमुख माना गया है जिन्हें अध्ययन की सुविधा के लिए दो वर्गों में बांटा गया है। पहला वर्ग 'नास्तिक दार्शनिक प्रवृत्ति' का है और इसमें चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन को रखा जाता है। दूसरा वर्ग 'आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्ति' का है जिसमें शेष छह दर्शनों या षड्दर्शनों यानी सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा को रखा जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि आस्तिक और नास्तिक का भेद सामान्य मानस में प्रचलित ईश्वर में विश्वास के आधार पर न होकर इस आधार पर है कि जो शाखा वेदों में विश्वास रखती है वह आस्तिक और जो वेदों में अविश्वास व्यक्त करती है वह नास्तिक शाखा है।

भारतीय दर्शन की विशेषताएँ

भारतीय दर्शन में प्रश्नों का गूढ़ विवेचन किया गया है। ये विचार एक-दूसरे से पर्याप्त सीमा तक भिन्न हैं। षड्दर्शन में प्रत्येक दर्शन एक संप्रदाय (School) का सूचक है और उसकी अलग प्रकार की मान्यताएँ हैं। इसके बाद भी इस भिन्नता में अभिन्नता, अनेकता में एकता, विषमता में समता ही भारतीय दर्शन की विशेषता है। आस्तिक और नास्तिक दर्शन वर्ग के बाह्य स्वरूप में भिन्नता अवश्य होती है लेकिन इनके आंतरिक स्वरूप में एकता के दर्शन होते हैं। सभी दर्शनों में इस आंतरिक साम्य को आध्यात्मिक साम्य भी कहा गया है। भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ संक्षिप्त रूप में इस प्रकार मानी जा सकती है।

भारतीय दर्शन की सबसे पहली विशेषता है इसका अध्यात्म केंद्रित होना है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर बाकी सभी भारतीय दर्शनों, संप्रदायों और धर्मों को एक आध्यात्मिक यात्रा के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन संबंधी ग्रंथ मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रोत्साहित करते हैं। आध्यात्मिक जीवन का आशय आत्म के विकास से है।

भारतीय दर्शन केवल अपने ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयासरत नहीं है, बल्कि वह उस सत्य को जानने का प्रयास है जो मनुष्य को उसके दुखों से मुक्त कर दे। भारतीय दर्शन की सभी प्रवृत्तियों में दार्शनिक ज्ञान के माध्यम से मानवीय दु:खों से मुक्ति दिलाने की कोशिश की गई है।

भारतीय दर्शन का उद्देश्य मनुष्य को यह बताना है कि जीवन का सत्य क्या है, वह उसे जाने और जान कर जिये। इस तरह इस ज्ञान के लिए भारत में दर्शन शब्द का अर्थ बहुत ही सारपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ होता है देखना। देखने का अर्थ है किसी चीज को खुद भोगना जो ज्ञान के माध्यम से महसूस करने या समझने की क्रिया से अलग है।

भारतीय दर्शन यथार्थ या सत्य का आत्मबोध, आत्मज्ञान है। यह बाहरी ज्ञान को उतना महत्व नहीं देता, जितना अंत:ज्ञान को। यहाँ दर्शन का अर्थ है आत्मविद्या या अपने को जानने की प्रक्रिया। हालांकि भारतीय सभ्यता के स्वर्णिम काल में भौतिक विज्ञान को अचूक गणनाओं के साथ विकसित किया गया था, पर हमारे दार्शनिक चिंतन के केन्द्र में आत्मज्ञान की दृष्टि ही बनी रही। यहाँ नक्षत्र शास्त्र, गणित, चिकित्सा के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई, लेकिन भारत में मनुष्य की आंतरिक चेतना को ज्ञात इतिहास के पहले से महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है और यह विश्वास सदा कायम रहा कि यही ज्ञान उसे अपने अस्तित्व की सत्यता का आभास करा सकता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

भारतीय दर्शन सत्य तक पहुँचने का अंतिम मार्ग आत्मज्ञान को ही मानता है। सत्य को समझने या दर्शाने के लिए तर्क और विवेचना का महत्त्व है, लेकिन तर्क सत्य की खोज नहीं कर सकता स्वयं उस तक नहीं पहुँचा सकता। बिना किसी तार्किक प्रक्रिया के ही उसे जानने और महसूस करने का यह तरीका अद्भुत और दूसरों की ज्ञान मीमांसा से बिल्कुल अलग है।

भारतीय दर्शन पूर्व ज्ञानी के ज्ञान में पूर्ण आस्था व्यक्त करता है। जिन ऋषियों ने श्रुतियों का ज्ञान प्राप्त किया, उन्होंने सचमुच आत्मज्ञान प्राप्त किया था- इसमें लगभग सभी परवर्ती ऋषियों या दार्शनिकों ने विश्वास किया। इसीलिए हमारी सभी दार्शनिक धाराओं का आधार परंपराओं से ही आता है और बाद में किसी ने भी उसमें कोई बुनियादी उलटफेर या बदलाव नहीं किया है।

भारतीय दर्शन खंडन-मंडन की प्रक्रिया से विकसित हुआ है। एक दार्शनिक प्रवृत्ति के अनुयायी दूसरे संप्रदाय के अनुयायी के तर्कों और मान्यताओं का खंडन करके अपनी मान्यताओं का मंडन करते हैं। संप्रदाय की मान्यताओं को इस प्रकार दूसरे की मान्यताओं के ऊपर स्थापित करने के प्रयास के कारण ही भारतीय दर्शन बढ़ता गया है। इससे दर्शन में तार्किकता की गूढ़ता का भी समावेश हुआ है।

भारतीय दर्शन में सूत्रकार और भाष्यकार की परंपरा रही है। सूत्र का आशय संक्षेप में सार कथन से है। सूत्रकार कम से कम शब्दों में विषय का बोध कराता है। इसमें शब्द संक्षेप रूप में होते हैं लेकिन अत्यधिक सारगर्भित। भारत में आस्तिक दर्शनों का सार सूत्रों में संकलित है। जैसे जैमिनी का मीमांसा-सूत्र, बादरायण का मीमांसा सूत्र आदि। इसके विपरीत भाष्य का विस्तारपूर्वक वर्णन होता है। चूँकि सूत्र संक्षिप्त होने के कारण दुर्बोध होते हैं इसलिए यहाँ पर भाष्यकार उनका विस्तार करता है या सूत्र को खोलने का प्रयास करता है। जितने भी सूत्र ग्रंथ लिखे गये हैं उनके भाष्य भी लिखे गये हैं जैसे मीमांसा सूत्र पर कुमारिल और प्रभाकर का मीमांसा भाष्य, वेदांत सूत्रों पर शंकर, रामानुज आदि का भाष्य। सूत्रों की व्याख्या करने के क्रम में दार्शनिकों के द्वारा भिन्न रास्ता अपनाने से अलग-अलग दार्शनिक संप्रदाय विकसित हुए।

भारतीय दार्शनिक कर्म के तीन प्रकार स्वीकार करते हैं। पहला है संचित कर्म यानी कि ये ऐसे पूर्वकृत कर्म हैं जिनका फल अभी सामने नहीं आया है। दूसरे प्रकार के प्रारब्ध कर्म हैं। ये भी पूर्वकृत कर्म हैं लेकिन इनका फल मिलना प्रारंभ हो गया है। वर्तमान जीवन में जो फल मनुष्य भोग रहा है वह इसी के कारण है। तीसरा एवं अंतिम प्रकार संचीयमान या क्रियमाण कर्म कहा जाता है। यह इस जीवन और वर्तमान काल में होने वाला कर्म है जिसका भविष्य में फल मिलेगा। कर्म कार्य भी है और कारण भी। चार्वाक को छोड़कर सभी नास्तिक और आस्तिक दर्शन इस कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। यही नहीं सभी दार्शनिक कर्म का आदर्श भी तय करते हैं।

सभी भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि अज्ञान ही सांसारिक बंधन का कारण है। इसलिए ज्ञान से ही इसका वैसे ही विनाश संभव है जैसे प्रकाश के आगमन से अंधकार का विनाश हो जाता है। ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है। इसी कारण भारतीय दार्शनिक ज्ञान की महत्ता को स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति घोषित किया गया है मोक्ष बंधन का पूर्ण विनाश है।

दर्शन की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने से पहले कुछ शब्दों को समझ लेना उचित होगा क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। ये दार्शनिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य के सभी प्रश्नों को उनकी प्रकृति के अनुरूप कुछ वर्गों में बाटती है। जैसे तत्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा और नीति मीमांसा आदि प्रश्न आदि। तत्व मीमांसा से आशय पारलौकिक जगत संबंधी प्रश्नों की विवेचन से है। जैसे ईश्वर क्या है, स्वर्ग-नर्क क्या है, संसार या जगत क्या है आदि। ज्ञान मीमांसा का आशय ज्ञान संबंधी प्रश्नों की विवेचना से है। ज्ञान संबंधी प्रश्नों का आशय ज्ञान का अर्थ, स्वरूप, प्राप्त करने के उपाय आदि से है। सही एवं उचित ज्ञान को प्रमा तथा गलत एवं अनुचित ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है। ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। भारतीय दर्शन में ज्ञान के साधन के रूप में कई प्रमाण माने गये हैं। इनमें से छह प्रमाणों को ज्यादा मान्यता मिली हुई है। ये हैं प्रत्यक्ष (Perception), अनुमान (Inference), शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। विभिन्न दार्शनिक समुदाय इनमें से कुछ को स्वीकार करते हैं और शेष को अस्वीकार कर देते हैं। चार्वाक एक (प्रत्यक्ष), वैशेषिक दो (प्रत्यक्ष और अनुमान), सांख्य तीन (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द), न्याय चार (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान), मीमांसा- प्रभाकर, पांच (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति), मीमांसा-भाट्ट, शांकर वेदांत (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि)।

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शन में चार्वाक संप्रदाय सबसे भिन्न है। इसकी भिन्नता का कारण यह है कि इसकी मान्यताएँ बाकी दार्शनिक संप्रदायों से बहुत ज़्यादा अलग हैं। लोक में प्रिय होने के कारण इसे लोकायत दर्शन भी कहते हैं। मान्यता है कि इसका प्रचलन गुरु वृहस्पति ने किया था इसलिए इसका एक नाम वार्हस्पत्य दर्शन भी है। इस संप्रदाय के मौलिक ग्रंथ गिने-चुने हैं। लेकिन लगभग सभी अन्य संप्रदायों के ग्रंथों में इन दर्शन की मान्यताओं का विवेचन उनके द्वारा किये खंडन के स्वरूप में मिलता है। वेदों और ईश्वर का कठोर ढंग से खंडन करने के कारण इसे नास्तिक दर्शन या नास्तिक शिरोमणि दर्शन भी कहते हैं। इस संप्रदाय की मान्यताओं का वर्णन इस प्रकार है-

Copyright-- Drishti The Vision Foundation

1. चार्वाक दर्शन का मूल आधार उसकी 'भौतिकवादी' दृष्टि है। यानी वह कहता है कि भौतिक विश्व ही सत्य है और उसे प्रत्यक्ष के माध्यम से जाना जा सकता है। आत्मा और ईश्वर पराभौतिक हैं, इसलिए उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह संसार चार महाभूतों यानी अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी से उत्पन्न है। इन महाभूतों का स्वभाव ही है कि वे परस्पर मिल कर सृष्टि की रचना करें। इसमें ईश्वर की कोई भूमिका नहीं है। इसलिए यह जगत प्रयोजनहीन है। इसका निर्माण और विकास यांत्रिकता के रूप में हुआ है।
2. चार्वाक मानता है कि नित्य या स्थायी आत्मा नहीं होती। यानी आत्मा तो है लेकिन उसका स्वरूप स्थायी किस्म का नहीं है जैसा कि अन्य दार्शनिक संप्रदाय मानते हैं। वह आत्मा को परिभाषित करते हुये कहता है कि चेतना से युक्त देह ही आत्मा है। उसका यह विचार 'देहात्मवाद' कहलाता है। नित्य आत्मा को अस्वीकार करने के कारण धर्म, मोक्ष, स्वर्ग-नर्क पुनर्जन्म आदि मान्यताओं का खंडन करते हुये चार्वाक कहता है कि इहलोक से परे कुछ भी सत्य नहीं है।
3. साधारण रूप से प्रचलित चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से चार्वाक काम को ज्यादा महत्व देता है। काम का आशय है- सुखों की उपलब्धि। सुखों में गुणात्मक नहीं मात्रात्मक भेद होता है। इसलिए इंद्रिय सुख भी उतने ही आवश्यक हैं जितने कि बौद्धिक या भावनात्मक सुख। संभावित दु:खों से घबराकर सुखों को छोड़ देना मूर्खता है।
4. चार्वाक प्रचलित छह प्रमाणों में से केवल 'प्रत्यक्ष' को ही स्वीकार करता है जबकि अन्य प्रमाणों को अस्वीकार कर देता है।

जैन दर्शन

जैन साहित्य के अनुसार 'जिन' का आशय है 'जीतने वाला'। सभी प्रकार के विकारों पर विजय प्राप्त करने वाला जिन कहलाता है। जिनों के द्वारा उपदेश वाले धर्म को जैन धर्म कहते हैं। इन जिनों को तीर्थंकर भी कहा गया है। जैन धर्म के अनुसार अबतक 'चौबीस तीर्थंकर' हुये हैं। इनमें ऋषभदेव आदि और भगवान महावीर अंतिम तीर्थंकर हैं। जैन साहित्य अधिसंख्य मात्रा में उपलब्ध है। भगवान महावीर के उपदेशों को उनके गणधरों ने ग्रंथ रूप में रचा। उनके उपदेशों को बारह अंगों और चौदह पूर्व के रूप में निबद्ध किया। इसी तरह दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य भी अधिक संख्या में उपलब्ध है। जैन दर्शन संबंधी कुछ प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

- जैन दर्शन 'अनेकांतवाद' को मानता है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनंत गुण या धर्म होते हैं और वस्तुएँ भी अनेक होती हैं। वस्तु का स्वरूप विराट है और उसमें सत-असत्, भाव-अभाव आदि परस्पर विरोधी धर्म विद्यमान होते हैं। इन धर्मों को दो वर्गों गुण एवं पर्याय में बांटा गया है। वस्तु के ऐसे अनिवार्य गुण जिनके बिना वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, गुण कहलाते हैं तथा वस्तु के ऐसे गुण जिनके बिना भी वस्तु का अस्तित्व संभव होता है, पर्याय कहलाते हैं। यानी वस्तु या द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय हो। जैसे स्वर्णाभूषण के लिए स्वर्ण धातु गुण धर्म है जबकि कंगन या हार रूप में होना पर्याय है। यानी स्वर्ण के बिना स्वर्णाभूषण नहीं हो सकता लेकिन उसका हार या कंगन से ही होना अनिवार्य नहीं है।
- जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत 'स्याद्वाद' है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के अनेक धर्म होते हैं। 'केवली' को छोड़कर किसी अन्य को सभी वस्तुओं और उनके अनंत धर्मों का ज्ञान नहीं हो सकता। किसी साधारण व्यक्ति का ज्ञान आंशिक और सापेक्ष होता है। ज्ञान की इसी सापेक्षता की अभिव्यक्ति जैन दर्शन स्याद्वाद से करता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार स्याद् शब्द का अर्थ 'सापेक्षता' (Relativity) के रूप में होता है और इससे ज्ञान की सापेक्षता ही सूचित होती है। इसी स्याद्वाद के संदर्भ में जैन दर्शन में 'सप्तभंगी नय' की चर्चा मिलती है। ये सप्तभंगी नय स्याद्वाद का प्रमाण और परिणाम है और अभिव्यक्ति भी। यहाँ 'नय' (Judgement) का आशय ऐसे कथन से है जिसमें वस्तु के एक धर्म का कथन होता है लेकिन अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता। जैन दार्शनिकों ने सात प्रकार (भंग) के नयों की चर्चा की। इनका वर्णन इस प्रकार है-
  - (i) स्याद् अस्ति- इसका अर्थ है कि वस्तु की सत्ता सापेक्ष यप में है। यानी वस्तु पदार्थ, रूप, देश और काल आदि की दृष्टि से सत् है जैसे घड़ा वर्तमानकाल में इस कक्ष में मिट्टी का होने की दृष्टि से सत् है।
  - (ii) स्याद् नास्ति- इसका अर्थ है कि वस्तु की सत्ता सापेक्ष यप में नहीं है। यानी वस्तु पदार्थ देश, रूप, काल आदि की दृष्टि से सत् नहीं है जैसे घड़ा अन्य कक्ष में, पीतल का और काले रंग का नहीं है।
  - (iii) स्याद् अस्ति व नास्ति- इसका अर्थ है कि वस्तु की सत्ता सापेक्ष है भी और नहीं भी। वस्तु अपने रूप, पदार्थ, देश काल की दृष्टि से है लेकिन अन्य दृष्टि से नहीं है।
  - (iv) स्याद् अवक्तव्यम्- इसका अर्थ है कि यद्यपि वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व एक साथ विद्यमान होते हैं लेकिन भाषा की सीमा की दृष्टि से दोनों का वर्णन एक साथ नहीं किया जा सकता है। जैसे अगर यह पूछा जाए कि घड़ा हमेशा किस पदार्थ का बना होता है तो हमें इसके उत्तर में मौन रहना होगा।
  - (v) स्याद् अस्ति व अवक्तव्यम्- इसका अर्थ है कि यदि संदर्भ बताया गया है तो वस्तु की सत्ता है लेकिन यदि संदर्भ नहीं हो तो वस्तु अवक्तव्य है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

(vi) स्याद् नास्ति व अवक्तव्यम्- इसका अर्थ है कि विशेष दृष्टि से वस्तु की सत्ता नहीं है लेकिन यदि संदर्भ नहीं बताया गया है तो वस्तु अवक्तव्य है।

(vii) स्याद् अस्ति व नास्ति व अवक्तव्यम्- इसका अर्थ है कि वस्तु की विशेष दृष्टि से सत्ता है, विशेष दृष्टि से सत्ता नहीं है किंतु दृष्टि के संकेत के अभाव में वह अवक्तव्य है।

3. प्रायः सभी दार्शनिक आत्मा और शरीर के संयोग को बंधन और आत्मा और शरीर के वियोग को मोक्ष कहते हैं। जैन दर्शन भी जीव और अजीव के संबंध या आत्मा और पुद्गल के संयोग को बंधन बताता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव में साधन चतुष्टय यानी अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत बल और अनंत आनंद है लेकिन अज्ञान के कारण उसकी यह शक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं और वह बंधन में पड़ जाता है। इसका कारण कर्म बतलाया गया है। यानी कर्मों के कारण ही जीव बंधन में पड़ता है। इस कर्म बंधन से छूटना ही मोक्ष है। जैन दर्शन में मोक्ष पाने का साधन 'त्रिरत्न' को बताया गया है। त्रिरत्न यानी सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र ही मोक्ष के साधन हैं। सम्यक् दर्शन से आशय है सच्ची श्रद्धा एवं आस्था। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए सच्ची आस्था रखनी होगी। सम्यक् ज्ञान से तात्पर्य मिथ्या दृष्टि निवारण से है। सम्यक् ज्ञान के माध्यम से ही जीव और अजीव के पार्थक्य का ज्ञान होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय या अचौर्य (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सम्यक् चरित्र के अंग हैं।

बौद्ध दर्शन

महात्मा बुद्ध ने किसी प्रकार का ग्रंथ नहीं लिखा और न ही लिखने का आदेश दिया। उनके शिष्यों ने ही उनके उपदेशों का संकलन किया। इन उपदेशों को तीन भागों सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक में संकलित किया गया। बाद में पल्लवित हुये बौद्ध साहित्य का आधार यही त्रिपिटक रहे। महात्मा बुद्ध के उपदेशों का सारांश उनके द्वारा बताये गये 'चार आर्य सत्यों' में मिलता है। ये चार आर्य सत्य ही महात्मा बुद्ध के दर्शन का आधार हैं। ये चारों सत्य धर्मचक्रप्रवर्तन (सारनाथ में दिया गया प्रथम उपदेश) में पाये जाते हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या बौद्ध ग्रंथ महावग्ग में मिलती है।

चार आर्य सत्य हैं- दु:ख, दु:ख समुदाय, दु:ख निरोध (निर्वाण) और दु:ख निरोध मार्ग। पहले आर्य सत्य में महात्मा बुद्ध कहते हैं कि जन्म लेना दु:ख है। मरना दु:ख है। शोक करना दु:ख है। विलाप, पीड़ा, चिंता, इच्छा की पूर्ति न होना दु:ख है। प्रिय से वियोग दु:ख है। अप्रिय से संयोग दु:ख है। दूसरे आर्य सत्य 'दु:ख समुदाय' का आशय दु:ख की उत्पत्ति से है दु:ख की उत्पत्ति अकारण नहीं अपितु सकारण है संपूर्ण विश्व में प्रत्येक घटना कारणजन्य है इसलिए अगर दु:ख की सत्ता है तो इसका कारण अवश्य होगा। कारण समुदाय ही दु:ख समुदाय कहलाता है। इसी समुदाय के कारण जन्म और मरण होता है। इसलिए इसे जन्म मरण चक्र, भव चक्र भी कहते हैं। दु:ख समुदाय के बारह अंग होने के कारण इसे 'द्वादश निदान' भी कहते हैं। ये बारह अंग हैं अविद्या, संस्कार विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण। द्वादश निदान तीन भागों अतीत जीवन, वर्तमान जीवन और भविष्य के जीवन से संबंधित है। अतीत जीवन का संबंध तीन चक्रों अविद्या, संस्कार और विज्ञान से है। वर्तमान जीवन का संबंध नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव से जबकि भविष्य जीवन का संबंध जाति और जरामरण से है। इसमें अविद्या का आशय विद्या के अभाव से है। संस्कार का आशय कर्म से, विज्ञान का चेतना से, नामरूप का शारीरिक एवं मानसिक रचनाओं, षडायतन का पंचेंद्रियों (आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा) से, स्पर्श का इंद्रिय और विषय के संपर्क, वेदना का अनुभव से, तृष्णा का विषयों के प्रति आसक्ति, भव का आशय पुनर्जन्म, जाति का आशय जन्मग्रहण और जरा-मरण का आशय वृद्धावस्था से है। द्वादश निदान, जन्म मरण चक्र का ही नाम 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है। तीसरा आर्य सत्य दु:ख निरोध (निर्वाण) जरा-मरण का निदान या निर्वाण है चौथा आर्य सत्य दु:ख निरोध मार्ग यानी दु:खों से निवृत्ति का मार्ग है। यह मार्ग आठ अंगो वाला है इसलिए इसे अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं- सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम सम्यक स्मृति और सम्यक् समाधि। सम्यक् समाधि निर्वाण की अवस्था है। यह अष्टांगिक मार्ग 'त्रिरत्न' प्रज्ञा, शील और समाधि में विभाजित किया गया है।

गौतम बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग या मध्यम प्रतिपदा कहलाता है। इसका आशय यह है कि वह दो अंतों के परिहार का उपदेश देते हैं। ये अंत हैं- आत्मवाद या शाश्वतवाद और उच्छेदवाद या अनात्मवाद। इन दोनों के बीच का मार्ग ही मध्यम मार्ग है। गौतम बुद्ध ने कहा कि मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाले को दोनों अंत का परित्याग करना चाहिए।

बौद्ध दर्शन के सिद्धांत

1. बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धांत 'क्षणिकवाद' है। इसका अर्थ है कि किसी वस्तु का अस्तित्व सनातन नहीं है। किसी वस्तु का अस्तित्व कुछ ही काल तक रहता है। एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जन्म देता है दूसरा तीसरे को और तीसरा चौथे को। यही प्रवाह की नित्यता है। वास्तव में कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है, सभी अनित्य, क्षणिक और परिणामी हैं। वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। जो आज है वह कल नहीं। कल उसका स्वरूप दूसरा होगा। वस्तु की स्थिति क्षण भर के लिए है।
2. बौद्ध दार्शनिक 'अर्थक्रियाकारित्व' में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार किसी वस्तु की सत्ता का लक्षण 'अर्थक्रियाकारित्व' या किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से है। वर्तमान भूत से जन्य है यानी भूत वर्तमान को उत्पन्न करने में समर्थ है।

प्रत्येक क्षण अपने पूर्व क्षण से जन्य है और उत्तर क्षण का जनक है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण में जन्य-जनकत्व की शक्ति होती है।

3. बौद्ध दार्शनिक 'अनात्मवाद' में विश्वास रखते हैं। ब्राह्मण दर्शनों में माना गया है कि आत्मा का अस्तित्व है और उसका स्वरूप नित्य प्रकृति का है। यानी आत्मा मर नहीं सकती। आत्मा अविनाशी है। महात्मा बुद्ध ने आत्मा के इस स्वरूप का निषेध किया। आत्मा पंचस्कंधों यानी रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञान का समुदाय मात्र है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान बुद्ध ने केवल परमार्थिक नित्य आत्मा का निषेध किया लेकिन अनित्य व्याहारपरक आत्मा को स्वीकार किया। इस संदर्भ में भदंत नागसेन और ग्रीक राजा मिनाण्डर के मध्य हुआ सवाल-जवाब बहुत ही प्रसिद्ध है। इसमें आचार्य नागसेन ने उपमा देकर समझाया कि जैसे रथ के अनेक अंगों को मिलाकर हम एक रथ की संज्ञा देते हैं उसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और वेदना के समुदाय को आत्मा कहा जाता है।
4. महात्मा बुद्ध के बताए दूसरे आर्य सत्य या जन्म मरण चक्र को प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ है- इसके होने पर यह होने की अवस्था। प्रतीत्यसमुत्पाद प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम भी कहलाता है। प्रत्येक उत्पाद (उत्पत्ति) का कोई न कोई प्रत्यय या कारण है। तात्पर्य यह है कि कारण के रहने पर कार्य होगा। यानी प्रतीत्यसमुत्पाद ही बौद्ध दर्शन का कारणतावाद है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार प्रतीत्य (इसके होने पर) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता है) तथा इसके नहीं होने पर (निरोध से) यह नहीं होता। जैसे अविद्या के रहने से संस्कार, संस्कार के रहने से विज्ञान, विज्ञान के रहने से नामरूप, नामरूप के रहने से षडायतन, षडायतन के रहने से स्पर्श, स्पर्श के रहने से वेदना, वेदना के रहने से तृष्णा, तृष्णा के रहने से उपादान, उपादान के रहने से भव, भव के रहने से जाति और जाति के रहने से जरामरण। वर्तमान जीवन भूत जीवन के कर्मों का फल है। पुन: यह भविष्य के जीवन को उत्पन्न करेगा। जिस तरह से एक दीपशिखा से दूसरी जलती है, नदी की एक धारा से दूसरी धारा निकलती है उसी प्रकार हमारा जीवन पूर्व कर्मों का परिणाम है। इसका कारण ईश्वर या अन्य कोई सत्ता नहीं है।
5. बौद्ध दर्शन के अनुसार तीसरा आर्य सत्य 'निर्वाण' है। जरामरण का निदान ही निर्वाण है। जब शरीर धारण करने की क्रिया समाप्त हो जाती है तब निर्वाण प्राप्त होता है। निर्वाण प्राप्त मनुष्य जन्म ग्रहण नहीं करता बल्कि अमर हो जाता है। जन्म का कारण तृष्णा है और इस तृष्णा का क्षय ही निर्वाण है। तृष्णा के कारण मनुष्य में राग, द्वेष और मोह उत्पन्न होता है। राग-द्वेष के कारण हम कर्म करते हैं और जन्म लेते जाते हैं। अत: राग-द्वेष का निरोध ही निर्वाण है। बौद्ध साहित्य में निर्वाण की उपमा बुझे हुये दीपक से दी जाती है। महात्मा बुद्ध ने कहा है कि भिक्षुओं जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने से दीपक जलता है, तेल और बत्ती के समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार तृष्णा के क्षय से जीवन-मरण की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, वेदनाएँ शांत हो जाती हैं।
6. बौद्ध दर्शन 'अपोहवाद' के सिद्धांत को मानता है। अपोहवाद शब्दों के अर्थ से संबंधित सिद्धांत है। शब्दों का अर्थ भावात्मक नहीं बल्कि निषेधात्मक या अपोहात्मक होता है।
7. भगवान बुद्ध के जीवनकाल में बौद्ध धर्म का कोई संप्रदाय नहीं था लेकिन कालांतर में धार्मिक विषयों की मान्यताओं को लेकर भिन्न मत रखने के कारण विभिन्न संप्रदायों का उदय हुआ। वैशाली में हुई दूसरी बौद्ध संगीति में भिक्षुओं का एक वर्ग सभा में हुये फैसलों से क्षुब्ध हो गया और उन्होंने अलग सभा का आयोजन किया। इसी का नाम 'महासंगीति' दिया गया। यहीं से महासंघिकों का उदय हुआ जो स्थाविरवादियों से अलग हो गया। ये महासंघिक ही आगे चलकर महायानी और स्थाविरवादी थेरवादी या हीनयानी कहलाये। संप्रदायों का यह विभाजन सम्राट कनिष्क के शासनकाल यानी प्रथम शताब्दी में हुई चौथी बौद्ध संगीति में स्पष्ट हो गया। महासंघिकों का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'महावस्तु' है। इसमें बुद्ध को लोकोत्तरवादी बोधिसत्व कहा गया है।

हीनयान के दो संप्रदाय सौत्रान्तिक और वैभाषिक तत्वमीमांसीय (ईश्वर, जगत और आत्मा आदि) प्रश्नों पर परस्पर सहमत हैं, इसी कारण इन्हें सम्मिलित रूप से 'सर्वास्तिवाद' कहा जाता है। सर्वास्तिवाद का आशय है 'सर्व अस्ति' यानी सबकुछ का अस्तित्व है। लेकिन यह दोनों संप्रदाय ज्ञानमीमांसीय (ज्ञान क्या है और उसका साधन आदि) के प्रश्नों पर भिन्न मत रखते हैं। सर्वास्तिवाद के प्रमुख आचार्य वसुबंधु और वसुमित्र हैं। वसुबंधु का 'अभिधर्म कोश' प्रमुख ग्रंथ है। इस ग्रंथ पर यशोमित्र की 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या है। सौत्रान्तिक सूत्त पिटक को मुख्य प्रमाण मानता है। इस संप्रदाय का दूसरा नाम 'संक्रांतिवादी' भी है। हालांकि कुछ बौद्ध दार्शनिक इस पर भिन्न मत रखते हैं। सौत्रान्तिक के ज्ञानसंबंधी मत को 'बाह्य अनुमेयवाद' तथा वैभाषिकों के ज्ञानसंबंधी मत को 'बाह्यप्रत्यक्षवाद कहा जाता है। बाह्यानुमेयवाद का विश्वास है कि बाह्य वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अनुमान से होता है। क्षणिकवाद के अनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व क्षण भर के लिए होता है। वस्तु नष्ट होने से पहले अपना संस्कार छोड़ जाती है। उसी के आधार पर वस्तु का अनुमान किया जाता है। यह बात पाश्चात्य दर्शन में दार्शनिक 'बर्कले' के सिद्धांत के अनुरूप मानी जाती है। वैभाषिकों के बाह्यप्रत्यक्षवाद के अनुसार वस्तुओं का ज्ञान अनुमान से नहीं बल्कि प्रत्यक्ष से होता है।

महायान के सर्वप्रथम आचार्य अश्वघोष माने जाते हैं। इनकी तीन रचनाएँ बुद्ध चरित, सौन्दरानंद और शारिपुत्त प्रकरण उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय देती हैं। उनका ग्रंथ 'बज्रसूची' वर्णव्यवस्था पर जोरदार प्रहार करता है। पहले वे हीनयान के समर्थक

Copyright– Drishti The Vision Foundation

थे लेकिन बाद में उन्होंने महायान सिद्धांतों का निरुपण किया। आचार्य अश्वघोष ने भूततथता का सिद्धांत दिया। उनके अनुसार जगत का एकमात्र तत्व भूततथता है। बाद में भूततथता से विज्ञानवाद और शून्यवाद विकसित हुये।

महायान से संबंधित दो संप्रदाय माध्यमिक (शून्यवाद) और योगाचार (विज्ञानवाद) ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। शून्यवाद के अनुयायी माध्यमिक कहलाते हैं और विज्ञानवाद के अनुयायी योगाचार कहलाते हैं। योगाचार शब्द का प्रयोग संभवत: इसलिए किया जाता है क्योंकि इसमें योगचर्या का विशेष महत्व बताया गया है। प्राय: आचार्य 'असंग' को विज्ञानवाद का मूल प्रवर्तक माना जाता है। जबकि कुछ अन्य 'मैत्रेयनाथ' को इसका प्रवर्तक घोषित करते हैं। मैत्रेयनाथ का प्रसिद्ध ग्रंथ 'अभिसमयलंकार' है। असंग के अनुज वसुबंधु को भी योगाचार का प्रमुख दार्शनिक माना जाता है। कुछ विद्वानों ने वसुबंधु को 'द्वितीय बुद्ध' तक की उपाधि से विभूषित किया। इनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' है। इसलिए विज्ञानवाद को कभी-कभी विज्ञप्तिमात्रता भी कहा जाता है। वसुबंधु पर थोड़ा विवाद है। कुछ लोग हीनयानी वसुबंधु तथा योगाचार से जुड़े वसुबंधु को एक ही व्यक्ति मानते हैं और कुछ अलग-अलग। वसुबंधु के बाद उनके शिष्य दिग्नाग इस संप्रदाय के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ विग्रहव्यावर्तनी, प्रमाणसमुच्चय आदि हैं। दिग्नाग के सुप्रसिद्ध शिष्य धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध ग्रंथ प्रमाणवर्तिक और न्यायिबंदु हैं। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान या विज्ञप्ति या प्रत्ययों की ही एकमात्र सत्ता है। वस्तु विज्ञान रूप है। दिग्नाग ने योगाचार विज्ञानवाद को नई दिशा प्रदान करते हुये स्वतंत्र विज्ञानवाद की नींव डाली। उन्होंने कहा कि विज्ञप्तिमात्रता प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। दिग्नाग को ही बौद्ध-न्याय का जन्मदाता माना जाता है।

माध्यमिक शून्यवाद का प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन को माना जाता है। नागार्जुन को बौद्ध दार्शनिक के अलावा तांत्रिक, वैद्य (नेत्र चिकित्तसक) और रसायनज्ञ भी माना गया है। उनका समय दूसरी या तीसरी शताब्दी तक का माना जाता है। आचार्य नागार्जुन के अधिकांश ग्रंथ तिब्बती एवं चीनी भाषा में हैं। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं- माध्यमिका कारिका, दशभूमिविभाषाशास्त्र, महाप्रज्ञापारमितासूत्र, मूलमध्यमककारिका (कुमारजीव ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया) आदि। आचार्य नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव शून्यवाद के दूसरे विख्यात आचार्य माने जाते हैं। आर्यदेव का प्रमुख ग्रंथ 'चतु:शतक' या बोधिसत्व-योगाचार शास्त्र है। माध्यमिक शून्यवाद की मूल मान्यता यह है कि तत्व 'शून्य' है। इस शून्य तत्व को शब्दों में नहीं जाना जा सकता। बुद्धि तार्किक है और यह तत्व का वर्णन तर्क के नियमों के अनुकूल ही ग्रहण करती है। तर्क के चार प्रकार है- सत् (भाव), असत् (अभाव), उभय (भावाभाव) और नोभय (न भाव और न अभाव)। किसी पदार्थ का निर्वचन उसके होने, नहीं होने, उभयात्मक और नोभय रूप में किया जाता है। इसे 'चतुष्कोटि तर्क' या द्वंद्व-न्याय भी कहा जाता है। नागार्जुन के अनुसार तत्व इस चतुष्कोटि से परे है यानी वह तर्क से परे है अर्थात् अनिर्वचनीय है, उसे शब्दों के जरिए व्यक्त नहीं किया जा सकता है। उनके मत में प्रयुक्त माध्यमिक शब्द का आशय यह है कि महात्मा बुद्ध ने कहा था कि मध्यम मार्ग दो अंतों के बीच का मार्ग है लेकिन माध्यमिकों के अनुसार दोनों अंतों के समन्वय का मार्ग कोई तीसरा मार्ग नहीं है यह सभी मार्गों का निषेध है। यह बुद्ध का मध्यम मार्ग है या माध्यमिक प्रतिपदा है।

हीनयान और महायान में अंतर

हीनयान, वज्रयान और महायान बौद्ध धर्म के तीन प्रमुख संप्रदाय हैं। कुछ विद्वान वज्रयान को महायान की ही शाखा मानते हैं। हीनयान संप्रदाय श्रीलंका, वियतनाम, लाओस आदि पूर्वी देशों में ज्यादा फैला जबकि महायान चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में फैला। इन दोनों संप्रदायों में अंतर निम्नलिखित बिंदुओं के संदर्भ में समझा जा सकता है।

1. हीनयान संप्रदाय बुद्ध की मूलभूत शिक्षाओं पर अधिक बल देता है जबकि महायान बुद्ध की शिक्षाओं की व्याख्या पर जोर देता है।
2. इन दोनों संप्रदायों में एक प्रमुख अंतर व्यक्ति और समष्टि का है। हीनयान के अनुसार व्यक्ति को खुद के मोक्ष के लिए प्रयास करने चाहिये।
3. हीनयान का चरम आदर्श 'अर्हत' पद की प्राप्ति है। व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करने वाला साधक अर्हत कहलाता है। महायान के अनुसार मोक्ष की यह अवधारणा समुचित है व्यक्ति को स्वयं की नहीं बल्कि सभी की मुक्ति का प्रयास करना चाहिए। महायानी ~~का चरम आदर्श 'बोधिसत्व' है। बोधिसत्व वह~~ प्राणी है जो व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करके भी उसे तब तक स्वीकार नहीं करता जब तक विश्व के सभी प्राणी मुक्त नहीं हो जाएं। महायानी कुछ बोधिसत्वों जैसे अवलोकितेश्वर, अमिताभ, मंजूनाथ और मैत्रेय आदि के नाम भी बताता है। महायानियों की समष्टि की इस भावना के कारण उनमें सामाजिकता और लोक-कल्याण का भाव अधिक है।
4. महायान में बोधिसत्व के लिए छह प्रकार की पारमिताएँ या पूर्णताएँ दान, शील, वीर्य, क्षांति, ध्यान और प्रज्ञा स्वीकार की गई हैं जबकि हीनयान के अनुसार दस प्रकार की पारमिताएँ दान, शील, निष्कामना, प्रज्ञा, वीर्य, क्षांति, सत्व, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा हैं। महायान में इन षड्पारमिताओं की अवधारणा का उल्लेख बहुत मनोरम ढंग से किया गया है। इनमें से प्रज्ञा पारिमता को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। प्रज्ञा पारमिता ही सर्वोच्च ज्ञान है।
5. हीनयानी संप्रदाय की मूल शिक्षाओं पर ध्यान केंद्रित करने के कारण वह महात्मा बुद्ध को ईश्वर के रूप में नहीं देखता और इसलिए वह उनकी पूजा नहीं करता लेकिन महायानी बुद्ध को ईश्वर मानते हैं और उनकी पूजा एवं अवतारों में विश्वास

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

रखते हैं। इसी कारण से बुद्ध की प्रतिमाएं बनीं और कला जगत में उन्हें अग्रणी स्थान मिला। संभवतः इसलिए कहा जाता है कि महायान भक्तिप्रधान धर्म है।

6. महायान 'त्रिकायवाद' यानी महात्मा बुद्ध की तीन प्रकार की काया में विश्वास रखता है लेकिन हीनयानी यह विश्वास व्यक्त नहीं करते। हीनयान के अनुसार महात्मा बुद्ध मरणधर्मा ऐतिहासिक मनुष्य थे। लेकिन महायान ने इसे अस्वीकार करते हुये 'त्रिकायवाद' की अवधारणा दी। इसके अनुसार महात्मा बुद्ध के तीन शरीर हैं- निर्माण या रूप काय, धर्मकाय और संभोग काय। महात्मा बुद्ध ने लोगों को शिक्षा देने के लिए यह शरीर धारण किया। इसे ही निर्माण या रूप काय कहते हैं। यह धारणा हिन्दू धर्म के अवतारवाद के निकट है। धर्मकाय का आशय है कि बुद्ध और धर्म एक ही है जो बुद्ध को देखता है, वह धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है, बुद्ध को देखता है। संभोगकाय का आशय भगवान बुद्ध के आनंदमय शरीर से है। इस रूप में भगवान बुद्ध दयालु एवं उदार हैं।

7. हीनयान के दो उपसंप्रदाय सौत्रान्तिक और वैभाषिक हैं, जिन्हें सम्मिलित रूप से सर्वास्तिवाद भी कहा गया हैं। हीनयान से थेरवाद या स्थारविरवाद भी जुड़ा हुआ है। इसी तरह महायान के दो संप्रदाय विज्ञानवाद और शून्यवाद हुये। इन्हें योगाचार विज्ञानवाद तथा माध्यमिक शून्यवाद कहा जाता है। हिन्दू दार्शनिक शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धांत इसी शून्यवाद से मिलते-जुलते हैं इसलिए शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है। महायानियों के अन्य उपसंप्रदाय जेन, नेचिरेन, तेंदाई, शिंगोन आदि हैं।

8. हीनयान के अनुसार निर्वाण का आशय तृष्णा के क्षय या बुझ जाने से है। तृष्णा जीवन का कारण है और तृष्णा का निवारण ही निर्वाण है। महायान ने निर्वाण का अर्थ शिव, शांत और आनंद स्वरूप बताया है।

9. हीनयान की दार्शनिक देन में अनित्यवाद, अनात्मवाद और अनीश्वरवाद आदि को गिना जाता है जबकि महायान की दार्शनिक देन में विज्ञानवाद और शून्यवाद को रखा गया है।

10. महायान में दो प्रकार के सत्यों संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य की व्याख्या मिलती है जबकि हीनयान में द्विविध सत्य नहीं है।

11. निर्वाण प्राप्ति के मार्ग या यान के प्रश्न पर हीनयान श्रावकयान को स्वीकार करता है। गुरु के पास जाकर ज्ञान हासिल करना श्रावक कहलाता है और वह स्वतः ज्ञान प्राप्त करता है। महायानियों का यान बोधिसत्वयान है। इसके लिए केवल ज्ञान ही नहीं, महाकरुणा भी आवश्यक होती है।

12. हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों में आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तर माने गये हैं। हीनयान में विकास के चार चरण श्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत बताये गये हैं। महायानियों ने आध्यात्मिक विकास के लिए दस स्तरों को स्वीकार किया। ये हैं- प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दरंगमा, अचला, साधुमती और धर्म मेधा।

सांख्य दर्शन

मुनि कपिल द्वारा विरचित सांख्य दर्शन को भारत का प्राचीनतम दर्शन माना जाता है। सांख्य दर्शन का मूल ग्रंथ महर्षि कपिल का 'तत्व-समास' माना जाता है। सांख्य के प्रणेता के बाद इस दर्शन के आचार्यों में सर्वप्रमुख नाम ईश्वरकृष्ण और उनके रचित ग्रंथ सांख्यकारिका का है। यही सांख्यकारिका सांख्य दर्शन के वर्तमान ज्ञान की आधारशिला है। इन दोनों ग्रंथों पर अनेक टीकाएं लिखीं गई हैं। इस दर्शन के मुख्य सिद्धांत इस प्रकार हैं-

1. सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद या कार्य कारण का सिद्धात बहुत प्रसिद्ध है। सांख्य दर्शन कार्य और कारण में अनिवार्य संबंध मानता है। इसका आशय यह है कि कारण होने पर ही कार्य होगा और कारण के नहीं होने पर कार्य नहीं होगा। यहाँ पर एक प्रश्न सामने आता है कि उत्पन्न कार्य अपने कारण से भिन्न है या अभिन्न। यदि उत्पन्न होने से पहले कार्य अपने कारण में था तो कार्य नया आरंभ नहीं है। इसे सत्कार्यवाद कहा गया है। जो दार्शनिक यह मानते हैं कि उत्पन्न होने से पहले कार्य अपने कारण में नहीं था और प्रत्येक कार्य नया आरंभ है तो इसे असत्कार्यवाद कहते हैं। सांख्य सत्कार्यवाद को स्वीकार और असत्कार्यवाद को अस्वीकार करता है। सांख्य मानता है कि कार्य सत् है। यह सत् कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले भी कारण में सत् था। यदि कार्य कारण में नहीं रहता तो इसका अविर्भाव नहीं हो सकता था। जैसे यदि सरसों के बीजों में पहले से तेल नहीं हो तो उनसे तेल नहीं निकल सकता। यदि कंकड़ों को पीसा जाए तो उनसे तेल नहीं निकल सकता क्योंकि उनमें पहले से तेल विद्यमान नहीं है।

2. सांख्य दर्शन के अनुसार परम तत्व दो हैं- पुरुष (चेतना) एवं प्रकृति (अज्ञान, अविद्या, जड़)। ये दोनों तत्व एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं। विश्व के सभी पदार्थ- शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धि आदि प्रकृति के कारण हैं। संपूर्ण सृष्टि को प्रकृति उत्पन्न करती है। प्रकृति के तीन गुण कार्य सत्व, रज और तम हैं। सत्व का स्वरूप श्वेत रंग, रज का लाल रंग और तम का स्वरूप काला रंग का माना गया है। इन गुणों में क्षोभ के कारण त्रिगुणात्मक संसार की सृष्टि होती है। प्रकृति के पूर्ण भिन्न तत्व

Copyright– Drishti The Vision Foundation

पुरुष या आत्म चेतन तत्व हैं। यह भी प्रकृति के समान नित्य और चेतन तत्व है। चेतन ही विषयों का ज्ञाता तथा द्रष्टा होता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का विकास संभव होता है।

3. सांख्य दर्शन में विकासवाद का सिद्धांत प्रसिद्ध है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि सृष्टि के विकास का कारण पुरुष और प्रकृति का संयोग है। विकास की प्रक्रिया इसी प्रकार घटित होती है। सबसे पहले त्रिगुणात्मक प्रकृति से 'महत्' या बुद्धि तत्व का विकास होता है। बुद्धि सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार की होती है। धर्म, ज्ञान और ऐश्वर्य आदि सात्विक बुद्धि के रूप हैं जबकि अधर्म और अज्ञान तामसिक बुद्धि के रूप हैं। राजसिक बुद्धि दोनों को गति या प्रेरणा प्रदान करती है। महत् तत्व से अहंकार का विकास होता है। यह अहंकार भी तीन प्रकार का होता है। सात्विक अहंकार में सत्व गुण की प्रधानता होती है। इससे 11 इंद्रियों (पांच ज्ञानेंद्रियों, पांच कर्मेंद्रियों और मन) का विकास होता है। तामस अहंकार से पंच तन्मात्राएँ का विकास होता है जबकि राजस अहंकार सात्विक और तामसिक अहंकार को प्रेरणा प्रदान करता है। तामस अहंकार से उत्पन्न हुई तन्मात्राएँ यानी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध अत्यंत सूक्ष्म होती हैं। इनका ज्ञान सीधे तौर पर नहीं हो सकता है। इनसे ही क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। सांख्य मूल रूप में निरीश्वरवादी है। चूँकि प्रकृति से सभी वस्तुओं का आविर्भाव हो रहा है इसलिए सृष्टा (ईश्वर) के रूप में उसकी जरुरत नहीं रह जाती। कुछ परवर्ती सांख्य दार्शनिकों ने बाद में ईश्वर में अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। सांख्य के अनुसार आविर्भाव और तिरोभाव, सृष्टि और प्रलय का अनवरत चक्र चलता रहता है।

4. सांख्य के अनुसार हम कई प्रकार के दु:खों को भोगते हैं। इन दु:खों के तीन वर्ग हैं- आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। रोग, भूख क्रोध आदि शारीरिक एवं मानसिक दु:खों को आध्यात्मिक दु:खों में रखा जा सकता है। बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न दु:ख जैसे सामान नष्ट होना, जानवर का हमला या युद्ध आदि आधिदैविक दु:ख हैं और राक्षसों और बाह्य कारणों से होनें वाले दु:ख आंधी, तूफान ओलावृष्टि आदि आधिभौतिक वर्ग में आते हैं। इन दु:खों से कई बार तात्कालिक मुक्ति होती है लेकिन इनसे स्थाई मुक्ति के लिए मोक्ष या कैवल्य (अपवर्ग या विवेक) की ओर ध्यान लगाना चाहिये।

योग दर्शन

योग दर्शन का सांख्य के साथ निकटता का संबंध माना गया है। इसका कारण यह है कि यह दर्शन संसार और अन्य प्रश्नों के संदर्भ में सांख्य की दी गई व्याख्या को स्वीकार करता है। इसलिए योग दर्शन को 'सेश्वर सांख्य या ईश्वरवादी सांख्य' भी कहते हैं। इस दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि हैं। इस दर्शन का पहला ग्रंथ योगसूत्र या पतंजलसूत्र है। इस पर कई भाष्य लिखे गये हैं तब भी इसका साहित्य ज्यादा विशाल नहीं है। योग शब्द के कई अर्थ स्वीकार किये गये हैं। सामान्य तौर पर 'योग' का आशय संबंध वाचक होने से है लेकिन योग शास्त्र में योग का अर्थ है- समाधि। महर्षि पतंजलि के अनुसार, योग चित्तवृत्तियों का निषेध है। योग का उद्देश्य है 'आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति'। योग दर्शन के अनुसार चित्त का आशय सामान्य बुद्धि या महत् से है। चूँकि प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अत: चित्त भी सत्व, रज एवं तम गुण से युक्त होता है। चित्तवृत्ति का आशय है चित्त द्वारा विषयों का आकार ग्रहण करना। ये चित्तवृत्तियाँ ही बंधन का कारण हैं जब ये पूर्णरूप से निरुद्ध हो जाती हैं तो कैवल्य यानी मुक्ति की प्राप्ति होती है।

योग दर्शन कैवल्य को प्राप्त करने के लिए अष्टांगिक मार्ग का सुझाव देता है। इस मार्ग पर चलने से अविद्या का नाश हो जाता है और यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसमें पहला अंग 'यम' है। यम का सामान्य अर्थ अभाव से है। यम के पाँच अंग हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। दूसरा अंग है 'नियम'। नियम पाँच प्रकार के हैं- शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर में भक्तिपूर्वक सब कर्मों का समर्पण करना)। तीसरा अंग है 'आसन'। आसन का आशय है पुरूष की स्थिरता और सुख की प्राप्ति। इसके कई भेद हैं जैसे- पद्मासन, वीरासन, भद्रासन आदि। चौथा अंग है- 'प्राणायाम'। श्वास आदि की गति के नियंत्रण को प्राणायाम कहा गया है। यह तीन प्रकार का है- पूरक, कुंभक और रेचक। पाँचवां अंग है- प्रत्याहार। इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन को वश में रखना प्रत्याहार है। छठा अंग है 'धारणा'। धारणा का आशय बाह्य तथा आंतरिक किसी भी विषय में चित्त को बांध देना या लगा देने से है। सातवां अंग है- 'ध्यान'। ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता ध्यान है। आठवां एवं अंतिम अंग 'समाधि' है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम माने जाते हैं। इनका ग्रंथ 'न्याय सूत्र' इस दार्शनिक प्रवृत्ति का पहला ग्रंथ माना जाता है। महर्षि गौतम को अक्षपाद, आक्षरण और मेघातिथि के नाम से भी जाना जाता हैं।12वीं सदी में न्याय दर्शन को नया रूप 'गंगेश उपाध्याय' ने अपने ग्रंथ 'तत्वचिंतामणी' में दिया। इसे नव्य न्याय भी कहा गया। इस ग्रंथ की लेखन शैली बहुत सराही गई। इसके बाद लिखे गये ग्रंथों पर इसकी विशिष्ट शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। ज्ञान के साधन के रूप में जो प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान) हैं, न्याय दर्शन उनका व्यापक विवेचन करता है। प्रमाण को अत्यधिक महत्व देने के कारण ही इसका दूसरा

Copyright– Drishti The Vision Foundation

प्रमाणशास्त्र' है। नैयायिकों ने 'व्याप्ति' यानी दो वस्तुओं के साहचर्य संबंध को तथा हेत्वाभास आदि सिद्धांतों का पर्याप्त विवेचन किया है। हेत्वाभास का अर्थ है जो हेतु के समान तो प्रतीत हो लेकिन हेतु के लक्षणों से रहित हो। हेत्वाभास का अध्ययन अनुमान प्रमाण के संदर्भ में किया जाता है।

न्याय दार्शनिकों का ईश्वर विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार आत्मा के दो भेद हैं- जीवात्मा और परमात्मा। जीव की शक्ति और ऐश्वर्य सीमित है लेकिन परमात्मा या ईश्वर की नहीं। ईश्वर एक है लेकिन उसके गुण और नाम अलग-अलग हैं। वह सृष्टि को उत्पन्न करता है इसलिए सृष्टिकर्ता और जगत का पालन करने पर जगतपिता कहा जाता है। ईश्वर में छह ऐश्वर्य आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य हैं। वही तीनों लोकों का निर्माता है। न्याय दर्शन ईश्वर को तर्क के माध्यम से सिद्ध करता है। उसके अनुसार ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से सिद्ध होता है। योगाभ्यास, साधना से सिद्ध पुरुषों, योगियों को ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान मिलता है। न्याय दर्शन की विशेषता यह है कि वह अनुमान प्रमाण के माध्यम से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध करता है। पाश्चात्य जगत में मध्ययुगीन दार्शनिक संत आगस्ताइन, संत एक्विनास और डेकार्ट आदि भी अनुमान के माध्यम से ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। नैयायिक आचार्य उदयन ने ईश्वर की सत्ता के लिए नौ प्रकार के अनुमान दिये हैं। पहला अनुमान कार्य पर आधारित है। इसका आशय यह है कि चूँकि प्रत्येक कार्य का एक कर्ता होता है और संसार एक कार्य है इसलिए इस कार्य का कर्ता ईश्वर हो सकता है। दूसरा अनुमान अदृष्ट का है। अदृष्ट का आशय कर्म और फल के बीच की कड़ी से है। जैसे हम जो कर्म करते हैं उसका फल तुरंत नहीं मिलता तो यह जो समय का समायोजन है वह अदृष्ट है। इसका संचालन ईश्वर करता है। तीसरा अनुमान 'धृति या धारण', चौथा अनुमान 'विनाश', पाँचवा अनुमान 'पद', छठा अनुमान 'प्रत्यक्ष या प्रामाण्य', सातवां अनुमान 'श्रुति', आठवां अनुमान 'वाक्य' और नौवां अनुमान 'संख्या' है।

न्याय दर्शन मोक्ष को अपवर्ग भी कहता है। यह आत्यान्तिक दुःखनिवृत्ति की अवस्था है। जब तत्वज्ञान के द्वारा मिथ्या ज्ञान का नाश होता है तो सभी दोष दूर हो जाते हैं। दोषों के अभाव में प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है इसी प्रवृत्ति के लोप से कर्म बंधन का लोप हो जाता है और इसी से समस्त दुःखों से निवृत्ति होती है। दुःखों के परम विनाश से परम मोक्ष की प्राप्ति होती है। जीवनकाल में मिथ्याज्ञान, वासना आदि से परे की अवस्था प्राप्त हो सकती है। यह जीवनमुक्ति है। इसके पश्चात् शरीर का परित्याग परममुक्ति अपवर्ग है। यह आत्यान्तिक दुःख की निवृत्ति है। यही मोक्ष है।

वैशेषिक दर्शन

इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद माने जाते हैं। इसे कणाद दर्शन या औलूक्य दर्शन भी कहते हैं। इस दर्शन का संबंध 'न्याय दर्शन' से माना गया है। कणाद-सूत्र या वैशेषिकसूत्र इस दर्शन का मूल ग्रंथ है। इस पर प्रशस्त पादाचार्य ने 'पदार्थ धर्म संग्रह' नामक ग्रंथ टीकास्वरूप लिखा है। पदार्थ विषयक चर्चा के कारण इसका नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा।

इस दर्शन के अनुसार संपूर्ण विश्व पद और अर्थ की परिधि में बंधा हुआ है। प्रत्येक पद का कोई न कोई अर्थ है और प्रत्येक अर्थ का वाचक कोई न कोई पद है। संसार में जो कोई भी वस्तु है, उसका नाम अवश्य है। यानी वस्तुओं को संज्ञा अवश्य दी जाती है। इस प्रकार पद का अर्थ ही या नाम और नामधारी वस्तु या संज्ञा और संज्ञित वस्तु ही पदार्थ है। पदार्थ के तीन लक्षण हैं- सत, ज्ञेय और अभिधेय। पदार्थ के छह भेद द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय हैं। बाद में वैशेषिक दर्शन के कुछ अनुयायियों ने सातवां पदार्थ 'अभाव' को स्वीकार किया।

वैशेषिक में द्रव्य के नौ भेद हैं- पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। दूसरे पदार्थ 'गुण' के तीन लक्षण हैं- द्रव्याश्रित, निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व। ये गुण संख्या में 24 हैं। जैसे रूप, रस, गंध, संख्या आदि। तीसरे पदार्थ 'कर्म' के पाँच भेद हैं- उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। चौथे पदार्थ 'सामान्य' का आशय विभिन्न व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान रहने वाले तत्व से है। जैसे अनेक गायों में रहने वाला तत्व 'गोत्व' सामान्य है। पाँचवा पदार्थ 'विशेष' है। यह 'विशेष' पदार्थ इस दर्शन में विशिष्ट है। कोई दूसरा दार्शनिक संप्रदाय इसे स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार दो तत्व चाहे जितने अंशों में समान हो, किन्तु उनके परमाणु अवश्य ही भिन्न होंगे। छठा पदार्थ 'समवाय' का आशय नित्य संबंध से है। अवयव और अवयवी का संबंध नित्य से है। जैसे घड़े से मिट्टी का संबंध समवाय संबंध है। मिट्टी के नहीं रहने से घड़ा भी नहीं रहेगा। सातवाँ पदार्थ 'अभाव' भावसापेक्ष है।

वैशेषिक दर्शन का परमाणुवाद बहुत प्रसिद्ध है। इसके अनुसार सबसे छोटा अणु यानी जिससे छोटा कोई पदार्थ नहीं हो, परमाणु है। इसका विभाजन संभव नहीं है। ये अविनाशी भी हैं। ये परमाणु ही जगत की सृष्टि एवं संहार का कारण बनते हैं। दो परमाणु आपस में मिलकर द्वयणुक, तीन द्वयणुकों से मिलकर त्रसरेणु आदि बनते हैं। ईश्वर की इच्छा से इन्हीं संयुक्त परमाणुओं से विश्व की संरचना होती है। जब ये परमाणु विभक्त होते हैं तो जगत में प्रलय का आरंभ हो जाता है।

वैशेषिकों का मोक्ष विचार न्याय के समान ही है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मीमांसा दर्शन

षड्दर्शनों में मीमांसा दर्शन का स्थान सर्वोपरि समझा जाता है क्योंकि इसमें वैदिक वाक्यों को पूर्णतः प्रमाण माना गया है। विभिन्न दार्शनिक संप्रदाय वेदों को प्रमाण के तौर पर स्वीकार करते हैं, लेकिन मीमांसा के समान नहीं। वेदों के दो भाग हैं- कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड पूर्व मीमांसा का विषय है जबकि ज्ञानकाण्ड उत्तर मीमांसा का। प्रामाणिक रूप में मीमांसा दर्शन के इतिहास में आचार्य जैमिनी का नाम अग्रगण्य है। इनके ग्रंथ का नाम मीमांसा सूत्र या जैमिनी सूत्र है। मीमांसा सूत्र में बारह अध्याय होने के कारण इसे द्वादशलक्षणी भी कहा गया है। जैमिनी सूत्रों पर शबर स्वामी का विशद भाष्य 'शबरभाष्य' है। शबर स्वामी के बाद तीन मीमांसकों के नाम ज्यादा महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। ये हैं- कुमारिल भट्ट, प्रभाकर और मुरारि मिश्र।

मीमांसा का मुख्य विषय 'कर्म सिद्धांत' है। कर्म यानी वैदिक यज्ञ संबंधी कर्मकाण्डों का अनुष्ठान करना। पूर्व मीमांसकों के लिए कर्म बहुत ज्यादा महत्त्वपूर्ण है इसलिए इस दर्शन को कभी-कभी कर्म मीमांसा भी कहा जाता है। मीमांसकों के अनुसार कर्म चार प्रकार के होते हैं- नित्य, नैमित्तिक, प्रतिषिद्ध और काम्य कर्म। नित्य कर्म का आशय संध्या वंदन आदि से है, नैमित्तिक कर्म का आशय किसी विशेष अवसर पर किये गये कार्य, प्रतिषिद्ध कर्म से तात्पर्य वेदों द्वारा वर्जित कर्मों से और काम्य कर्मों का आशय इच्छा विशेष से किया गया कार्य है। सभी मीमांसकों में कर्मकाण्ड में विश्वास रखने के बावजूद कुमारिल और प्रभाकर में भेद है। कुमारिल के अनुसार कर्मविशेष के अनुष्ठान में प्राणी की प्रवृत्ति तब ही होती है जब उस कर्म से किसी इष्ट साधन की आशा हो। इसे 'इष्टसाधनताज्ञान' कहा गया है। प्रभाकर की दृष्टि में धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान का कारण 'कार्यता ज्ञान' है। प्रभाकर 'कर्म के लिए' सिद्धांत को मानते हैं। उनके अनुसार निष्काम कर्म ही कर्त्तव्य है जबकि प्रभाकर का मानना है कि कर्म इसलिए करने चाहिये क्योंकि वह वेदों की आज्ञा है।

मीमांसकों का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत 'अपूर्व' का है। इसका वर्णन केवल मीमांसकों में ही पाया जाता है। अपूर्व एक अदृश्य की शक्ति है जिसके माध्यम से कर्मफल का निर्णय होता है। अपूर्व शक्ति कर्मों से उत्पन्न होती है। अतः कर्म और कर्म-फल के बीच अपूर्व ही माध्यम है। यज्ञ आदि वेद सम्मत कर्मों को करने से अपूर्व नामक अदृश्य शक्ति का उदय होता है, यही शक्ति स्वर्गादि का फल देती है। अपूर्व सिद्धात के कारण प्राचीन मीमासको के मत मे ईश्वर की सत्ता नही है। लेकिन आगे चलकर कुछ मीमांसकों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया है।

प्रभाकरमीमांसा का ज्ञान संबंधी मत 'त्रिपुटीप्रत्यक्ष' कहलाता है। यानी प्रत्येक प्रत्यक्ष में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी का प्रत्यक्ष होता है। कुमारिलमीमांसा का ज्ञान संबंधी मत 'ज्ञाततावाद' कहलाता है। जिस वस्तु को जाना जा चुका है, उसमें ज्ञातता नामक गुण की उत्पत्ति होती है। इस गुण को देखकर हम ज्ञान का अनुमान कर लेते हैं। इसी तरह प्रभाकर का भ्रम संबंधी सिद्धांत या ख्यातिवाद को 'अख्यातिवाद' तथा कुमारिल के भ्रम संबंधी विचार को 'विपरीतख्यातिवाद' कहते हैं।

प्राचीन मीमांसक स्वर्गप्राप्ति को निःश्रेयस मानते हैं। यानी स्वर्ग की कामना के लिए स्वर्ग वाला यज्ञ करना चाहिये। लेकिन बाद के मीमांसकों ने जगत के साथ आत्मा के संबंध विच्छेद को मोक्ष कहा। इसके स्वरूप को लेकर प्रभाकर और कुमारिल में अंतर है। प्रभाकर के अनुसार मोक्ष ज्ञान, सुख-दुःख से परे की अवस्था है। इसमें आनंद का अनुभव नहीं होता। कुमारिल ने इस व्याख्या को अस्वीकार करते हुए कहा कि मोक्ष दुःखाभाव की अवस्था है इसलिए मुक्ति में आनंद की अनुभूति होती है। मीमांसक लोग ज्ञान-कर्म समुच्चयवादी कहलाते है। अतः इनके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान और कर्म दोनों से संभव है।

वेदांत दर्शन

वेद ग्रंथों के अंतिम भाग यानी उपनिषदों को वेदांत भी कहते हैं। उपनिषद अधिसंख्य हैं और उनमें विषयों की व्याख्या की दृष्टि से कई विरोधाभास भी दिखते हैं। उपनिषदों में एक वाक्य में कहने के लिए बादरायण ने कुछ सूत्रों का निर्माण किया जिन्हें ब्रह्म सूत्र कहा गय। इसे वेदांत-सूत्र, शारीरिक-सूत्र, शारीरिक-मीमांसा, भिक्षुसूत्र या उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। इन्हीं ब्रह्मसूत्रों की विभिन्न संप्रदायों ने अलग-अलग व्याख्या की है। इनमें से कुछ भाष्यकारों की सूची नीचे दी गई है। जिनमें शंकराचार्य और उनके मत को विद्वजन श्रेष्ठ मानते हैं।

भाष्यकार	वाद	भाष्य
शंकराचार्य	अद्वैतवाद	शांकरभाष्य
रामानुजाचार्य	विशिष्टद्वैतवाद	श्रीभाष्य
मध्वाचार्य	द्वैतवाद	पूर्णप्रज्ञभाष्य
वल्लभाचार्य	शुद्धाद्वैतवाद	अणुभाष्य
निम्बार्काचार्य	भेदाभेदवाद	वेदांत पारिजात-सौरभ
श्रीकंठ	शैवविशिष्टाद्वैतवाद	शैवभाष्य

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

श्रीपति	वीरशैवाविशिष्टद्वैतवाद	श्रीकरभाष्य
विज्ञानभिक्षु	अविभागाद्वैतवाद	विज्ञानामृत
बलदेव	अचिन्त्य भेदाभेदवाद	गोविंदभाष्य

शंकराचार्य

अद्वैत मत के प्रमुख प्रतिपादक आचार्य शंकर (788 ई-820 ई.) से पहले भी कई अन्य विचारकों में अद्वैत सिद्धांत के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है लेकिन इन विचारों का व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। शंकर से पूर्व अद्वैत मत के प्रसिद्ध विचारकों में बोधायन, उपवर्ष, भर्तृहरि और आचार्य गौड़पाद आदि हैं। गौड़पादकारिका के लेखक गौड़पाद शंकराचार्य के गुरु गोविंद पादाचार्य के गुरु माने जाते हैं, इसलिए शंकर ने इन्हें पूज्याभिपूज्य भी कहा है। शंकराचार्य को कुछ लोगों ने बाद में शंकर का अवतार तक घोषित किया। उन्होंने संपूर्ण भारत की यात्रा की और जगह-जगह शास्त्रार्थ करके अन्य तत्कालीन दार्शनिकों को परास्त किया। उन्होंने देश के चार कोनों में चार मठों या पीठों और अन्य केंद्रों की स्थापना करके हिन्दू धर्म के प्रचार में अतिशय योगदान दिया। ये मठ वेदान्त ज्ञानमठ, शृंगेरी (दक्षिण भारत), गोवर्धन मठ, जगन्नाथपुरी (पूर्वी भारत); शारदा (कालिका) मठ, द्वारका (पश्चिम भारत) और ज्योतिर्पीठ, बद्रिकाश्रम (उत्तर भारत) हैं। शंकर ने अनेक ग्रंथ लिखे। उनका दर्शन उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता पर लिखे गए तीन भाष्यों में मिलता है। शंकराचार्य से सन्यासियों के दसनामी सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ। दसनामी सम्प्रदाय के साधु प्राय: गेरुआ वस्त्र पहनते, एक भुजवाली लाठी रखते और गले में चौवन रुद्राक्षों की माला पहनते हैं। इसमें शैव और वैष्णव दोनों प्रकार के साधु होते हैं। ये दस संप्रदाय हैं- गिरि, पर्वत, सागर, पुरी, भारती, सरस्वती वन, अरण्य, तीर्थ और आश्रम। हिंदू साधुओं के नाम के आगे स्वामी और अंत में अपने जिस संप्रदाय में दीक्षा ली है उस संप्रदाय का नाम लगाया जाता है, जैसे- स्वामी पूर्णानंद गिरि या स्वामी रामतीर्थ आदि।

शंकराचार्य ने तीन प्रकार की सत्ताओं की बात की- प्रातिभासिक, व्यावहारिक और परमार्थिक। प्रातिभासिक सत्ता का सामान्य अर्थ में आशय स्वप्न की सत्ता से है जिसमें हमें तब तक सबकुछ वास्तविक लगता है जबतक हम सपना देख रहे होते हैं। हमारे जगने पर स्वप्न खत्म हो जाता है और हमें पता चलता है कि वह तो सपना था सत्य नहीं। व्यावहारिक सत्ता का स्तर प्रातिभासिक से ऊपर है। इसका आशय यह है कि जगत की वस्तुएँ सत् प्रतीत होती हैं। हमारा व्यावहारिक कामकाज इससे ही चलता है। लेकिन ज्ञान होने पर हमें पता चलता है कि जगत भी सत्य नहीं है। जगत मिथ्या है। शंकर के अनुसार परमार्थिक सत्ता इन तीनों में सर्वोच्च है और यह सत्ता ब्रह्म की है। ब्रह्म ही एक मात्र सत्य यानी त्रिकाल अबाधित है। ब्रह्म के दो रूप हैं- निर्गुण एवं सगुण। ब्रह्म मूल रूप में निर्गुण यानी गुणातीत या गुणों से परे है। यही ब्रह्म जब माया की उपाधि से प्रभावित होता है तो ईश्वर या सगुण ब्रह्म बन जाता है। शंकर के अनुसार ईश्वर या सगुण ब्रह्म व्यावहारिक दृष्टि से है परमार्थिक दृष्टि से नहीं। परमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म ही सत्य है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को अनिर्वचनीय बताते हुये कहा कि वह बुद्धि के माध्यम से नहीं जाना जा सकता है। ब्रह्म स्वप्रकाश, स्वप्रमाण और स्वत: सिद्ध है। अत: उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है और न ही उसका खंडन किया जा सकता है।

अद्वैतवेदांत में माया संबंधी अवधारणा का बहुत महत्व है। शंकर ने ब्रह्म की व्याख्या करते हुये कहा कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, लेकिन ब्रह्म की अभिन्न शक्ति माया के कारण जीव और जगत आदि का प्रपंच हमें अनुभव होता है। यानी माया अपने अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर निर्भर है। माया का निरसन ज्ञान से हो सकता है। माया का काम वास्तविकता पर आवरण डालना तथा अध्यास का अनुभव कराना है। अध्यास का आशय है- जो वस्तु जहाँ नहीं है वहाँ पर उसकी प्रतीति होना। जैसे अंधेरे में जब हम कोई रस्सी को देखते हैं तो हमें उसके साँप होने की प्रतीति होती है। शंकर ने इसे अध्यास बताते हुये कहा कि वहाँ सर्प नहीं है लेकिन उसकी प्रतीति होती है। सर्प अनुपस्थित होने के बाद भी अनुभव का विषय बनता है। इसी तरह यह जगत भी अध्यास है क्योंकि सर्प की तरह यह भी वास्तविक नहीं है। ब्रह्म उपस्थित होने के बावजूद भी अनुभव का विषय नहीं हो पाता। जगत ब्रह्म का परिणाम नहीं अपितु विवर्तमात्र है।

शंकर के अनुसार मोक्ष अज्ञान की निवृत्ति मात्र है। अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से होता है। आत्मज्ञान ही मोक्षज्ञान है। आत्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है। मोक्ष ज्ञानसाध्य है। ज्ञान के माध्यम से आत्मा, जो खुद को जीव समझ बैठी है, अविद्या के नष्ट होते ही यह समझ जाती है कि वह वास्तव में ब्रह्म ही है। इसलिए कहा गया है 'तत्वमसि' यानी वह तुम हो। वास्तव में ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं। शंकर के अनुसार मोक्ष परम आनंद की स्थिति है। चूँकि ब्रह्म सत्, चित् और आनंद स्वरूप है इसलिए मोक्षावस्था भी आनंदमयी है। शंकर की मोक्षधारणा को सारूप्य मुक्ति कहा गया है। मोक्ष की स्थिति में आत्मा और ब्रह्म पूर्णत: एक हो जाते हैं। शंकर ने मोक्ष की दो अवस्थाओं जीवनमुक्ति और विदेह-मुक्ति को स्वीकार किया है। जीवन मुक्ति की प्राप्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' यानी मैं ही ब्रह्म हूँ, का बोध होते ही हो जाती है। यह सद्य: मुक्ति भी कहलाती है। मृत्यु के साथ ही विदेहमुक्ति हो जाती है। शंकर के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति का मूलमार्ग ज्ञानमार्ग है, कर्ममार्ग या भक्ति मार्ग नहीं। यद्यपि कर्ममार्ग की सहयोगी भूमिका अवश्य है लेकिन मोक्ष का वास्तविक मार्ग ज्ञानमार्ग ही है। सभी ज्ञानमार्ग पर चलने के अधिकारी नहीं हैं। इसका अधिकार केवल उन्हें है जो 'साधन-चतुष्टय' या चार प्रकार की तैयारियों से युक्त हैं। इनमें पहला है 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' यानी नित्य और अनित्य वस्तुओं

Copyright– Drishti The Vision Foundation

में भेद करने की योग्यता। दूसरा है- इहामुत्रार्थभोगविरोग यानी लौकिक एवं अलौकिक भोगों से अनासक्ती, तीसरा है शमदमाधिसाधनसंपत् यानी शम (मन का संयम), दम (इंद्रियों का संयम), श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा (जाड़ा-गर्मी को सहने का अभ्यास) और चौथा है- मुमुक्षुत्व यानी मोक्ष हेतु दृढ़ संकल्प से युक्त होना। इन अर्हताओं से युक्त मुमुक्षु जब ज्ञानमार्ग पर चलता है तो उसकी साधना तीन चरणों में संपन्न होती है- श्रवण, मनन और निदिध्यासन। श्रवण यानी गुरु से ज्ञान प्राप्त करना। मनन यानी उस ज्ञान पर तार्किक चिंतन करना और निदिध्यासन का अर्थ है- ब्रह्म और जीव की एकता का तबतक निरंतर ध्यान करते रहना जबतक इस एकत्व की निर्विकल्प व अपरोक्ष अनुभूति नहीं हो जाए। ये तीनों स्थितियाँ क्रमिक नहीं बल्कि युगपत् हैं।

शंकर की इन व्याख्याओं के कारण उन्हें कुछ विद्वान 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते हैं। इसका आशय यह है कि शंकर प्रकट रूप में तो उपनिषद और ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हैं किन्तु छिपे रूप में बौद्ध दर्शन की मान्यताओं को ही प्रस्तुत करते हैं। आलोचकों के अनुसार शंकर ने जो तर्कविधियाँ प्रयोग की हैं वैसी ही तर्कप्रणाली माध्यमिक शून्यवादियों की है। माध्यमिक शून्यवादियों की तीन प्रकार की सत्ता और अजातिवाद की धारणाओं का वह जस का तस प्रयोग करते हैं।

रामानुजाचार्य

रामानुज को दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इसलिए माना जाता है क्योंकि उन्होंने 'भक्ति रस' को दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने बादरायण ब्रह्मसूत्रे पर टीका लिखकर 'विशिष्ट अद्वैतवाद' या 'विशिष्टाद्वैतवाद' का प्रतिपादन किया है। उनके ग्रंथ श्रीभाष्य को वैष्णव दर्शन का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। उनके ग्रंथों पर टीका लिखने वालों में सुदर्शन हरि का नाम प्रसिद्ध है। रामानुज की मृत्यु के बाद उनका संप्रदाय तिंगल और बड़गल में विभक्त हो गया। तिंगल संप्रदाय वाले तमिल ग्रंथों को ही तथा बड़गल लोग तमिल और संस्कृत दोनों ग्रंथो को प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। तिंगल मत की स्थापना लोकाचार्य और बड़गल मत की स्थापना वेंकटनाथ (वेदांतदेशिक) ने की थी।

रामानुज ने भी शंकराचार्य की तरह परमतत्व को अद्वैत ही माना लेकिन उसकी व्याख्या अलग तरह से की। रामानुज ने कहा कि यह अद्वैत, परमतत्व एक विशिष्ट प्रकार का होता है। अद्वैत तत्व ब्रह्म है लेकिन वह सगुण या ईश्वर है। ईश्वर के अलावा दो तत्व और भी हैं- अचेतन (जड) और चेतन (जीव)। इसमें ब्रह्म स्वतंत्र और अन्य दो यानी जड एवं चेतन परतंत्र तत्व हैं। इन दोनों विशेषणों से ईश्वर विशिष्ट है और उनका ईश्वर के साथ अपृथकसिद्धी का संबंध है। ईश्वर इनका स्त्रष्टा नहीं है लेकिन वे ईश्वर के विशेषण हैं। ईश्वर उपास्य है। वह भक्ति की शरणांगति और प्रपत्ति से प्रसन्न होकर उन्हें परम गति यानी सामीप्य प्रदान करता है। रामानुजाचार्य ने शंकर के 'माया सिद्धांत' की सात प्रकार की कठोर आलोचनाएँ भी कीं। रामानुजाचार्य ने मोक्ष के लिए 'भक्ति सहित ज्ञान' का सिद्धांत दिया। भक्ति ईश्वर के प्रति शुद्ध प्रेम है, उपासना और उसका ध्यान है।

मध्वाचार्य

मध्वाचार्य ने द्वैतवाद की स्थापना की। आनंदतीर्थ के नाम से विख्यात मध्वाचार्य या पूर्णप्रज्ञ के अनुसार ब्रह्म सगुण है और जीव एवं जगत की स्वतंत्र सत्ता है। मध्व विष्णु को ही ब्रह्म मानते हैं और उनसे ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार को मानते हैं। ब्रह्म निर्वचनीय है उसे अनिर्वचनीय कहने पर उसका ज्ञान नहीं हो सकता।

निम्बार्काचार्य

निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद का सिद्धांत दिया। उन्हें नियमानंद के नाम से भी जाना जाता है। वह द्वैत और अद्वैत दोनों को सत्य और श्रुतिमूलक मानते हैं। उनके अनुसार केवल द्वैत को मानकर अद्वैत को अस्वीकारना और अद्वैत को स्वीकार करके द्वैत को अस्वीकारना अनुचित है। ब्रह्म सगुण है निर्विकार नहीं। परमात्मा की सत्ता समस्त जीव और जगत में व्याप्त है वही जगत का नियंता है। श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। श्रीकृष्ण की आद्य-सहधर्मिणी राधा हैं। ब्रह्म अपनी इच्छा से ही 'चतुर्व्यूह' रूप में प्रकट होता है। चित, अचित और ईश्वर में अभेद भी है और भेद भी।

वल्लभाचार्य

वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत संप्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। हालाँकि उनसे पहले भी इस संप्रदाय में विष्णुस्वामी आदि अन्य आचार्य हुये लेकिन वल्लभ ने इसमें सुदृढ़ता प्रदान करके पुष्टिमार्ग चलाया। शुद्धाद्वैत में शुद्ध का आशय 'माया से असम्बद्ध' से है। अत: माया से असम्बद्ध या अलिप्त ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्व है। केवल अद्वैत नहीं बल्कि शुद्ध अद्वैत है। जीव एवं जगत शुद्ध ब्रह्म का परिणाम या कार्य है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

भक्ति का दर्शन

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'सेवा करना' या 'भाजना' है। इससे आशय निकलता है पूर्ण तौर पर श्रद्धा रखते हुये अपने इष्ट देवता के प्रति प्रेम का भाव रखना। पुराणों में भक्ति को अनुरागमय प्रेम और अमृत स्वरूप बताते हुये कहा गया है कि भक्ति के माध्यम से मनुष्य मुक्त और संतृप्त हो जाता है। भारतीय धार्मिक साहित्य में भक्ति के बीज वैदिक काल से ही दिखते हैं। ब्राह्मण साहित्य में कर्मकाण्ड के प्रसार के कारण भक्ति का स्वर कुछ मन्द पड़ जाता है, किन्तु पुनः उपनिषदों में उपासना की प्रधानता का पुनरोत्थान दिखता है। छान्दोग्य, मुण्डक आदि उपनिषदों में विष्णु, शिव, रुद्र, अच्युत, नारायण, सूर्य आदि की भक्ति और उपासना के संकेत मिलते हैं। पूर्व मध्य युग में भागवत परंपरा का पुनरुत्थान हुआ। रामानुज, मध्वाचार्य आदि ने भागवत धर्म को और पल्लवित किया और उनके बाद एकनाथ, रामानन्द, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य आदि ने भक्ति आन्दोलन के माध्यम से भक्तिमार्ग का जनसामान्य तक व्यापक प्रसार किया। मध्ययुग में भागवत भक्ति के चार प्रमुख सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए- श्रीसम्प्रदाय- (रामानुजाचार्य के द्वारा प्रचलित), ब्रह्मसम्प्रदाय- (मध्वाचार्य के द्वारा प्रचलित), रुद्रसम्प्रदाय- (विष्णुस्वामी के द्वारा प्रचलित) और सनकादिकसम्प्रदाय- (निम्बार्काचार्य के द्वारा स्थापित)। इन सभी सम्प्रदायों ने अद्वैतवाद, मायावाद तथा कर्मसंन्यास का खण्डन कर भगवान की सगुण उपासना का प्रचार किया। मध्ययुगीन रागात्मक भक्ति का उदय दक्षिण के प्रांतों में हुआ। परन्तु उसके पूर्ण संस्कृत रूप का विकास भागवत धर्म के मूल स्थल वृन्दावन में ही हुआ, जिसको दक्षिण के कई संत आचार्यों ने अपनी उपासना भूमि बनाया। भक्ति दर्शन के अनुसार सृष्टि के कर्ता, पालक एवं संहारक ईश्वर हैं। उनके कई नाम हैं, जिनमें विष्णु, नारायण, वासुदेव, जनार्दन आदि मुख्य हैं। जीवात्मा उन्हीं का अंश है। भक्ति के माध्यम से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और जीव को मोक्ष प्रदान करते हैं। वे भक्ति करने वालों से प्रसन्न रहते हैं और विपदा के समय पृथ्वीलोक पर आकर भक्त की मदद करते हैं। मानव मात्र के कल्याण के लिए वह समय-समय अवतार लेकर दुःखों का हरण करते हैं। वह अब तक नौ अवतारों में संसार में आ चुके हैं और एक अवतार का जन्म होना बाकी है। भक्ति के 9 प्रकार बताए गए हैं जिसे नवधा भक्ति कहते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

श्रवण- ईश्वर की लीला, कथा, महत्व, शक्ति आदि महात्म्य को परम श्रद्धा सहित अंतृप्त मन से निरंतर सुनना।

कीर्तन- ईश्वर के गुण, चरित्र, नाम, पराक्रम आदि का आनंद एवं उत्साह के साथ कीर्तन करना।

स्मरण- निरंतर अनन्य भाव से ईश्वर का स्मरण करना, उनकी शक्ति का स्मरण करके उस पर मुग्ध होना।

पाद सेवन- ईश्वर के चरणों का आश्रय लेकर उन्हीं को अपना सर्वस्व समझना।

अर्चन- मन, वचन और कर्म द्वारा पवित्र सामग्री से ईश्वर का पूजन करना।

वंदन- भगवान की मूर्ति को भगवान के अंश रूप में मानकर आदर-सत्कार के साथ पवित्र भाव से वंदना करना।

दास्य- ईश्वर को स्वामी और स्वयं को दास समझकर परम श्रद्धा के साथ सेवा करना।

सख्य- ईश्वर को ही अपना परम मित्र समझकर अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर देना।

आत्म निवेदन- भगवान के चरणों में सदा के लिए समर्पण कर देना और अपनी स्वतंत्र सत्ता न रखना। यह भक्ति की सबसे उत्तम अवस्था मानी गई है।

सूफी दर्शन *(Sufism)*

सूफी मत का उदय इस्लाम के साथ अरब क्षेत्र में ही हुआ, पर यह मध्य काल में आकर ही लोकप्रिय हुआ। सूफी चिंतन ईश्वर और पारलौकिक सत्यों एवं रहस्यों को आम जनों तक पहुँचाने का प्रयास है। सूफी शब्द का प्रयोग ऐसे संतों के वर्ग के लिए किया गया, जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक सांसारिक सुख-सुविधाओं से मुँह मोड़कर अध्यात्म-साधना को चुना।

काफी समय तक सूफीयों की पहचान उनके ऊनी पहनावों से की जाती रही। "सफा" शब्द का अर्थ है ऊनी और इसीलिए वे संत जो ऊनी वस्त्र पहनते थे, सूफी कहलाए। सादा जीवन व्यतीत करने वाले सूफी ऊनी चोगा पहना करते थे। एक अन्य मत के अनुसार यह शब्द "सफ" से निकला है, जिसका अर्थ सबसे आगे की पंक्ति या प्रथम पंक्ति है। सूफी अपने साहस, धैर्य और अपने उच्च चरित्र के कारण खुदा के सामने प्रथम पंक्ति में होता है, इसलिए वे सूफी कहलाए। अन्य मतों के अनुसार सूफी शब्द "सुफ्फा" या चबूतरा से बना है जिस पर बैठने के कारण उन्हें "अहले-सुफ्फा" अर्थात "चबूतरे पर बैठे लोग" कहा गया। अरबी भाषा में चटाई को सूफी कहते हैं। सूफी संत चटाई पर कतार में बैठ कर ईश्वर की उपासना किया करते थे, और इसलिए वे सूफी कहलाए। इस शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द "सोफिया" से भी कही गई है जिसका अर्थ है- ज्ञान। ज्ञान से संपन्न लोग ही सूफी कहलाए। एक और व्युत्पत्ति "सूफाह" शब्द है जिसका अभिप्राय सांसारिकता से विरत हो खुदा की सेवा में निरत रहने वालों से है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूफी शब्द की उत्पत्ति "सफा" से हुई है जिसका अर्थ होता है विशुद्धता, पवित्रता या चित्त की शुद्धता। इस मत के अनुसार सूफी वह होता है जो सात्विक आचरण द्वारा धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है। वह

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright- Drishti The Vision Foundation

सांसारिकता से दूर रहता है। जिसका हृदय सांसारिक वासनाओं से पवित्र होता है। वह ईश्वर के प्रति प्रेम भाव से समर्पित होकर ईश्वर की प्रेमोपासना करता है। सफा शब्द से सूफी शब्द की उत्पत्ति को ज्यादा मान्यता हासिल है।

सूफी दर्शन

सूफियों के मतानुसार पैगम्बर मुहम्मद साहब को ईश्वर से दो प्रकार का ज्ञान मिला जिसमें पहला ज्ञान "इल्म-ए-सकीना" (ग्रन्थ संबंधी ज्ञान), जो कुरान शरीफ में संग्रहीत है और दूसरे प्रकार का ज्ञान आंतरिक है और इसे "इल्म-ए-सिना", कहा गया। जहाँ आम लोगों ने ज्ञान का केवल बाह्य पक्ष ही लिया, वहीं सूफियों ने दोनों प्रकार के ज्ञान को अपनाया। इसमें सूफियों ने ज्ञान के आंतरिक प्रकार पर ज्यादा बल दिया जिसमें एकाग्रता और संयम के साथ साधना करनी पड़ती है लेकिन इस क्रम में संसार की अनदेखी नहीं की जाती। सूफी ईश्वर के साथ मनुष्य को भी पर्याप्त महत्त्व देता है।

इस्लाम का रहस्यवाद य सूफियों का दर्शन ही तसव्वुफ है। सूफी मत में ईश्वर के प्रति प्रेम और उसका सानिध्य सबसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। ईश्वर बेमिस्लो-बेकैफ है अर्थात् न तो कोई उसके जैसा है और न ही उसक पूर्ण वर्णन करना ही संभव है। ईश्वर सूक्ष्म है और हर जगह वह मौजूद है। उसके इन्हीं गुणों की तरफ ध्यान दिलाने के लिए सूफियों ने उसे नूर कहा है। सृष्टि उसकी सिफात का अक्स है यानी उसके गुणों का प्रतिबिंब है, कुरान के इस बयान को सूफियों ने अपनी साधना के माध्यम से भी सत्य अनुभव किया। ईश्वर की ओर रूहानी कदम बढ़ाते हुए जब वे अपने वजूद के मूल पर पहुँचे तो उन्होंने इस हकीकत का मुशाहिदा (दर्शन) स्वयं किया। इस मुशाहिदे का वर्णन सूफियों ने दो तरह किया है। एक अंदाजे बयान 'वहदतुल वजूद का नज़रिया' (अद्वैतवाद) कहलाता है जबकि दूसरा 'वहदतुश-शुहूद का नज़रिया' (नज़र में केवल एक का होना) कहलाता है। एक का ताल्लुक 'शेख इब्ने अरबी' से है और दूसरे का ताल्लुक 'शेख अहमद सरहिंदी' से है। 'वहदतुल वजूद' का शाब्दिक अर्थ है 'वजूद का एक होना' और 'वहदतुश-शुहूद' का मतलब है कि 'देखी जाने वाली चीज़ का एक होना'। यह एक गहन अनुभूति है जिसे समझने के लिए सूफी लोग शब्दों के बजाय साधना का मार्ग ही अपनाते हैं और कामिल वली होने के लिए यह बुनियादी सिफत है। सूफी साधना का केंद्र बिंदु इसी गुण और इसी भाव की प्राप्ति है।

सूफियों ने मनुष्य के चार विभाग बताए हैं नफ्स, रूह, कल्ब और अक्ल। नफ्स का अर्थ है विषयभोग वृत्ति या इंद्रिय या जड़ तत्व। मनुष्य के शरीर में समाहित यह तत्त्व उसका जड़ अंश बनाते हैं। अतः साधक का प्रथम लक्ष्य नफ्स के साथ युद्ध होना चाहिए। रूह यानी आत्मा और कल्ब यानी हृदय द्वारा ही साधक अपनी साधना करता है। अक्ल या बुद्धि मनुष्य का चौथा विभाग है। नफ्स या जड़ आत्मा उसे कार्य में बाधा पहुँचाता है और उसे पाप की ओर ले जाने की चेष्टा करता है। किन्तु रूह या आत्मा की ईश्वरीय शक्ति उसके कल्ब या हृदय के स्वच्छ दर्पण में परमेश्वर को प्रतिबिम्बित कर देती है और उसका अपने प्रियतम के साथ मिलन हो जाता है। अल्लाह की ओर सफर के दौरान नफ्स को काबू में अक्ल या बुद्धि तक की यात्रा करनी होती है और इसके दौरान साधकों को कुछ अवस्थाएँ (मकामता) तय करनी होती हैं।

जब साधारण व्यक्ति कर्मकाण्ड का पालन करता है तो कहा जाता है कि वह "शरीअत" का पालन कर रहा है। शरीअत का अर्थ है इस्लामी विधि-विधान। इस मार्ग पर चलकर साधक अपने आचरण को शुद्ध बनाता है ताकि वह सद्कर्मों में प्रवृत्त हो। आचरण की शुद्धता के लिए संयम की जरूरत होती है ताकि तन-मन सधे। इस तरह ईश-वंदना के तरीकों का निरंतर पालन करने से चित्तवृत्ति की एकाग्रता का अभ्यास होता रहता है। ऐसा करने वाले व्यक्ति को "मोमिन" कहते हैं। साधना के मार्ग पर चलने के लिए व्यक्ति साधारण से मोमिन बनने का अभ्यास करता है। मोमिन बनने पर उसके अन्दर जब ईश-प्रेम का प्रस्फुटन होता है तो वह सालिक (यात्री) की स्थिति में पहुँचता है। मानवीय प्रेम से ईश्वरीय प्रेम की ओर अग्रसर होना ही साधक का लक्ष्य होता है। जब ईश्वर को खोजने की प्रबल उत्कंठा जाग्रत होती है, तो एक सालिक पीर (गुरु) के शरण में जाता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने में गुरु (पीर) सहायक होता है। पीर ही साधक को प्रेम-पंथ दिखाता है और बिना गुरु के कोई भी ईश्वर को नहीं पा सकता है। सूफी गुरुओं ने साधकों को साधना के लिए प्रमुख रूप से चार सोपान शरीयत, तरीकत, मारिफत और हकीकत बताये हैं। इनका विवरण इस प्रकार है:

1. शरीयत- शरीयत अर्थात धर्मग्रंथ, अल्लाह के बताए कानून का नाम है। इसलिए शरीयत की पाबन्दी जरूरी है। इसे हमारे यहाँ के संदर्भ में कर्मकांड कहा जा सकता है। शरीयत के तीन अंग हैं- इल्म (ज्ञान), अमल (कर्म) और इखलास (निष्ठा)। जब तक ये तीनों जीवन में नहीं उतरेंगे, शरीयत पर पूरा अमल न होगा।
2. तरीकत- तरीकत का अर्थ है बाहरी क्रिया-कलाप से परे होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान का ध्यान। तरीकत यानी हृदय को कैसे शुद्ध किया जाए, मन में ईश-प्रेम का भाव कैसे लाया जाए। जब गुरु साधक को अपने संरक्षण में ले लेता है, तो वह उसे 'तरीकत' के पालन में, यानी साधना में लगा देता है। तरीकत से जब साधक अपने शरीर, मन और इंद्रियों को साध लेता है तब सालिक को अपने मन के दर्पण में परमप्रिय ईश्वर की छवि दिखाई देते लगती है। इस प्रकार वह परमप्रिय के सुंदर रूप को निहारता है। उसके सुंदर छवि को निहारते ही उसके मन में "उसके" प्रति प्रेम हिलोरें लेने लगता है। वह संसार से विरक्त हो एकांतप्रिय हो जाता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

3. मारिफत (पहचान)– मारिफत को हम सिद्धावस्था कह सकते हैं। सालिक में ईश-प्रेम जाग्रत होने पर वह परमलक्ष्य की ओर बढ़ने लगता है। उसे ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होता है। ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होने की इस स्थिति से ही 'मारिफत' का आरंभ होता है। मारिफत की स्थिति में उसे 'इर्फान' होने लगता है। इर्फान कहते हैं ब्रह्मज्ञान को। जैसे-जैसे ब्रह्मज्ञान का स्वरूप उस पर पड़ने लगता है, साधक को नूर का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। उसे अब ईश्वरोन्मुख होते रहने की प्रेरणाएँ मिलने लगती हैं। उसे अपने प्रियतम को पा लेने का दृढ़ विश्वास हो जाता है।

4. हकीकत से अभिप्राय भक्ति और उपासना के प्रभाव से सत्य के बोध से है। यह हमारे यहाँ का ज्ञानकांड है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते साधक पर सत्य अनावृत्त हो जाता है। सत्य की पहचान, सत्य का दर्शन और सत्य का अनुभव ही 'हकीकत' है। अब वह (साधक) होता है और उसका प्रियतम (परमात्मा)। हकीकत की अवस्था को प्राप्त होकर साधक आत्म-भाव से परमात्म की ओर बढ़ता है। तब सम्मिलन और एकत्व भाव जोर मारने लगता है। वह खुद को उसमें मिटा देना चाहता है। जब आत्म-भाव सर्वथा निर्मूल हो जाता है, तब साधक के भीतर एक अद्भुत प्रकार का उन्माद जाग्रत होता है।

इस अवस्था में वह स्वयं का तो होता ही नहीं है, उसे सब तरफ 'उसी' का जलवा, 'उसी' का नूर दिखाई देता है। बेखुदी की इस अवस्था को 'सुक्र' कहते हैं। सुक्र अर्थात नशा, मस्ती–ऐसी मस्ती जिसकी मिठास को रोम-रोम अनुभव कर रहा होता है। फिर सम्मिलन का वह क्षण आ पहुँचता है जब आत्मा अपने मूल, अपने उद्‌गम, अपने स्वामी, अपने परमप्रिय में विलीन होकर अपना व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त कर देती है।

यह साक्षात्कार है जिसे सूफियों ने फना (विलय) कहा है। परम तत्व में विलय के बाद आत्मा को एक नया जन्म प्राप्त होता है। अब यह अभिन्न रूप से अपने स्रष्टा में निवास करती है। इस अवस्था को 'बका' (अनश्वरत, नित्यता) कहा जाता है। इसी अवस्था को प्राप्त करना सूफी साधना का चरम लक्ष्य है। भाव रूप में एक होने के बाद सालिक एक नया जीवन प्राप्त करता है। यह अनन्य जीवन व एक अनश्वर जीवन है। यह अनुभव उसे 'वज्द' की अवस्था में ले जाता है। इस अवस्था में आकर साधक परम आनंद का अनुभव करता है। यह आनंद अद्भुत, अपूर्व व अलौकिक होता है। इस अपूर्व, अलौकिक, अद्भुत अनुभव की अवस्था को 'शह्र' की अवस्था कहते हैं।

इस प्रकार "तसव्वुफ" या सूफी मत प्रेमोपासना द्वारा अद्वैत स्थिति की प्राप्ति के सिद्धांत का प्रतिपादक है। सूफी मार्ग का लक्ष्य ईश्वर की ओर बढ़ना और उसके गुणों को आत्मसात करना है। सूफी साधक परमात्मा को प्रेम और सौंदर्य का रूप मानता है, इसलिए इश्के मजाजी को इश्के-हकीकी का साधन समझता है। सूफी विचारकों के अनुसार लौकिक या शरीरी प्रेम अलौकिक या अशरीरी प्रेम की साधना की सीढ़ी का पहला पायदान है। सूफियों ने साधना को सहज और सरल बनाने की कोशिश की। इसलिए उन्होंने ईश्वर भक्ति के लिए प्रेम अर्थात् मधुरा भक्ति को चुना। उन्होंने योग और ज्ञान को नहीं, प्रेम और उससे उत्पन्न विरह का महत्त्व दिया। उन्होंने प्रेम (सांसारिक प्रेम) को ईश्वरीय प्रेम माना। प्रेम से स्व की भावना से मुक्ति मिल जाती है। प्रेम सौंदर्य से उत्पन्न होता है। इसलिए सूफियों ने ईश्वरीय सौंदर्य को अपने माशूक में ही देखा। यह प्रेम नितान्त लौकिक है पर उसका आधार आध्यात्मिक है। प्रेम मनुष्य के मन की नैसर्गिक क्षुधा है जो अनुभूतिपरक है। प्रेम का कोई नियम नहीं होता। इसलिए सूफी साधक जिन नियमों का पालन करते हैं वे उनके नितांत वैयक्तिक नियम होते हैं।

सूफियों के लिए प्रेम ही वह सीढ़ी है जो उसे ईश्वर तक पहुँचा सकता है। प्रेम ही वह माध्यम है, जो उसे प्रियतम की प्रसन्नता प्राप्त करने पर उभरता है। प्रेम के पथ पर चल कर वह प्रियतम का हो जाता है और प्रियतम उसका। सूफियों के लिए ईश-प्रेम ही परम धर्म है। इसे सूफी इश्के हकीकी (वास्तविक प्रेम/ आध्यात्मिक प्रेम) का नाम देते हैं। इसकी पहचान यह है कि प्रियतम ईश्वर का प्रेम प्रेमी में हर उस गुण के लिए लगाव पैदा कर देता है, जो प्रियतम को प्रिय हो। ऐसा प्रेम प्रेमी में नम्रता पैदा करता है और वह हर उस वस्तु से भी प्रेम करना सीखता है जिसमें वास्तविक प्रियतम प्रतिबिम्बित होता है। सूफी लोग ऐसे प्रेम को इश्के मजाजी कहते हैं। इश्के मजाजी वह सांसारिक प्रेम है जो प्रियतम तक पहुँचने का साधन बनता है। सूफी मानवीय प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम तक पहुँचने की सीढ़ी मानते हैं। जबतक मनुष्य सांसारिक प्रेम को नहीं जान पाता, उनके लिए आदर्श प्रेम तक पहुँचना संभव नहीं। साधक सांसारिक सौंदर्य का आनन्द तो उठाता अवश्य है, लेकिन वहीं तक नहीं रह जाता, उसे इश्के हकीकी तक आगे बढ़ना पड़ता है। सूफी ~~अनन्त सौंदर्य का दर्शन करता है। अनन्त सौंदर्य तो~~ परमात्मा की ही एक मात्र सत्ता है। वह परम सत्य और परम मंगल है। उसी की प्रतिछवि के रूप में समस्त जगत और उसके प्राणी अभिव्यक्त हो रहे हैं, इसलिए सांसारिक सौंदर्य दर्शन उसी परम सत्ता के गुणों के सौंदर्य का दर्शन है। सूफियों के इस प्रेम दर्शन में वियोग-संयोग का भी विशेष स्थान है। यहाँ संयोग से आशय ईश्वर का सानिध्य प्राप्त करना है। जब साधक साधना में लगा रहता है तो उसके भीतर की बुराइयाँ दूर होने लगती हैं और वह ईश्वर के और अधिक निकट हो जाता है। साधक परमात्मा के पास जाता नहीं है क्योंकि वह तो यहीं है। साधक इस प्रकार साधना के जरिए परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करता है।

रहस्यवाद का आशय उस भावना से है जो हमेशा से प्रकृति के रहस्यों को जानने के लिए मानव को प्रेरित करती रही है। ज्ञान के क्षेत्र का अद्वैतवाद भावना के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कहलाता है। रहस्यवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार अव्यक्त अथवा अज्ञात को विषय बनाकर उसके प्रति प्रणय, विरह आदि के भाव व्यक्त करते हैं। रहस्यवाद कोई विचार

Copyright– Drishti The Vision Foundation

या चिंतन नहीं, यह एक प्रवृत्ति है, एक भावना है। रहस्यवादी भावना आध्यात्मिक रहस्यों को जानने के लिए इन्सान को प्रेरित करती है। इसके द्वारा व्यक्ति अलौकिक शक्ति से अपना संबंध कायम करना चाहता है। यह संबंध इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि जीव की अनुभूतियाँ उस महाशक्ति के साथ जुड़ जाती हैं। अपने अस्तित्व को भूलकर जीव हर वक्त अपने प्रिय का स्मरण करता रहता है तथा उसी में लीन हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि रहस्यवाद आत्मा की परमात्मा को प्राप्ति की प्रवृत्ति है। रहस्यवाद अपनी प्रकृति से दो प्रकार का होता है- एक साधनात्मक रहस्यवाद और दूसरा भावनात्मक रहस्यवाद। हमारे यहाँ का योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। यह अनेक अप्राकृतिक और जटिल अभ्यासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है। तन्त्र भी साधनात्मक रहस्यवाद है। सूफी साहित्य में मैखाना, शराब, रिंद और साकी शब्दों का खूब प्रयोग किया गया है। ये शब्द प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। मय यानी शराब प्रगाढ़ प्रेम के प्रतीक के रूप में, मयखाना यानी शराब पीने की जगह प्रेम-स्थल के रूप में, साकी यानी शराब पिलाने वाला मार्गदर्शक के प्रतीक के रूप में, आशिक यानी प्रेमी सूफी साधक के प्रतीक के रूप में और प्रियतम ईश्वर के रूप में प्रतीक के प्रयुक्त किए गए हैं।

भारत में सूफी मत का प्रसार

भारत में आकर उदार सूफीमत यहाँ के दार्शनिक मतों और उनके सिद्धांतों का प्रभाव ग्रहण कर निरंतर विकासमान रहा। यही कारण है कि पैगम्बरी एकेश्वरवाद (शुद्ध एकेश्वरवाद) से आरंभ सूफी साधकों की यात्रा सर्वात्मवाद, एकतत्ववाद से होती हुई अद्वैतवाद तक पहुँचती है। **अद्वैतवाद** का अर्थ है कि दृश्य जगत वास्तविक नहीं है उसका आधार एक ही अखंड नित्य तत्व है और वही सत्य है। उससे स्वतंत्र और कोई अलग सत्ता नहीं है।

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में सूफी खानकाहों का ज़ोर भारत के कई भागों में फैल रहा था अफगानिस्तान के रास्ते से अनेक सूफी सिलसिले स्वेच्छा से भारत में आए। ईश्वर-प्रेम और मानव सेवा उनका ध्येय था। उनके पवित्र आचरण, सत्यवादिता, न्यायप्रियता एवं शुद्ध आध्यात्मिकता ने भारत की जनता को शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। उन्होंने न सिर्फ धर्मशास्त्रवादियों की अनेक पाबंदियों को तोड़ दिया बल्कि हिन्दू जनमानस से घुल-मिल गए और उनसे उन्हीं की शैली में बातें की।

"आइन-ए-अकबरी" में अबुल फजल ने चौदह सूफी सिलसिलों का उल्लेख किया है। इनमें से चिश्ती, सुहरावर्दी, नक्शबन्दी, कादिरी, कलन्दरिया, और सत्तारिया महत्त्वपूर्ण थे। इनमें से कई परंपराओं जैसे चिश्तिया, सुहरवर्दिया, कादिरिया और नक्शबंदिया की अनेक उप-परंपराएँ भी थीं। इनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:

चिश्ती सम्प्रदाय

यह भारत का प्रथम और सर्वाधिक प्रसिद्ध सिलसिला है। इनके केन्द्र भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में फैले हुए हैं। ख्वाजा अबू ईसहाक सामी चिश्ती (मृत्यु 940 ई.) या उनके शिष्य ख्वाजा अबू अहमद अब्दाल चिश्त (874-965 ई.) का नाम इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में लिया जाता है। अफगानिस्तान के 'चिश्त' नामक नगर में इस सम्प्रदाय की नींव रखी गई थी। यह नगर हेरात के निकट हरी-रोद के घाट पर स्थित है। इस सिलसिले से जुड़े महान संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती थे।

ये 1192 ई. में मुहम्मद गोरी के साथ भारत आये थे। इन्होंने यहाँ चिश्तिया परम्परा की स्थापना की। इनकी गतिविधियों का मुख्य केन्द्र अजमेर था। इन्हें 'गरीब-नवाज' भी कहा जाता है। उस काल में नारनौल, हांसी, सरबर, बदायूँ तथा नागौर आदि स्थानों पर सूफियों को ज्यादा मान्यता मिली। कुछ अन्य सूफी सन्तों में 'बाबा फरीद', बख्तियार काकी' एवं 'शेख बुरहानुद्दीन गरीब' थे। ख्वाजा बख्तियार काकी, इल्तुतमिश के समकालीन थे। उन्होंने बाबा फरीद को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।

बाबा फरीद का निम्न वर्ग के लोगों से अधिक लगाव था। उनकी अनेक रचनायें 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी शामिल हैं। उनके दो महत्त्वपूर्ण शिष्य हजरत निज़ामुद्दीन औलिया एवं हजरत अलाउद्दीन साबिर थे। शेख निज़ामुद्दीन औलिया को 'महबूब-ए-इलाही' और 'सुल्तान-उल-औलिया' की उपाधियाँ दी गयी थीं। उनके प्रमुख शिष्य शेख सलीम चिश्ती थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने हमीदुद्दीन नागौरी को 'सुल्तान-ए-तारकीन' की उपाधि प्रदान की थी। बाबा फरीद ने 'हांसी' और बाद में 'अजोधन' (पाकिस्तान में पाकपट्टन) में अपना कार्य क्षेत्र बनाया। उनके दोहे सिखों के धर्म-ग्रंथ 'आदि-ग्रंथ साहिब' में भी सम्मिलित किया गया। चिश्ती संतों में सबसे प्रसिद्ध संत हुए हैं 'निजामुद्दीन औलिया' और 'नसीरुद्दीन चिराग-ए-दिल्ली'। ये संत हिन्दुओं सहित जनता के निम्न वर्गों के साथ मुक्त सम्बन्ध रखते थे। उनका जीवन बहुत पवित्र और सीधा-सादा था और वे लोगों से उनकी जुबान हिन्दी या हिन्दवी में बातचीत करते थे। इन सूफियों ने अपने प्रवचनों में ईश्वर की निकटता का आभास उत्पन्न करने के लिए गीत-संगीत की पद्धति अपनायी, जिसे 'समा' कहा जाता है। इससे वे और प्रसिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त वे अक्सर प्रवचन देने के लिए हिन्दी काव्य का प्रयोग करते थे, ताकि श्रोताओं पर अधिक प्रभाव पड़े। निजामुद्दीन औलिया ने योग की 'प्राणायाम पद्धति' अपनायी। इससे योगी उन्हें सिद्ध कहने लगे थे। अमीर खुसरो औलिया के ही शिष्य थे। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में 'नसीरुद्दीन चिराग-ए-दिल्ली' की मृत्यु के पश्चात चिश्ती दिल्ली में उतने प्रभावशाली नहीं रहे।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

नक्शबंदिया

नक्शबंदिया एक सूफी सिलसिला है, जिसकी स्थापना ख्वाजा उबेदुल्ला द्वारा की गई थी। भारत में इस सिलसिले का प्रचार ख्वाजा बाकी बिल्लाह के शिष्य एवं मुगल बादशाह अकबर के समकालीन शेख अहमद सरहिन्दी ने किया था।

सरहिन्दी 'मुजाहिद' अर्थात् 'इस्लाम के नवजीवनदाता' या सुधारक के रूप में प्रसिद्ध थे। ख्वाजा मीर दर्द नक्शबंदी सम्प्रदाय के अन्तिम विख्यात सन्त थे। उन्होंने एक अलग मत 'इल्मे इलाही मुहम्मदी' चलाया और सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार के लिए बहुत कार्य किया। औरंगजेब, शेख अहमद सरहिन्दी के पुत्र शेख मासूम का शिष्य था।

नक्शबंदिया को रूढ़िवादी माना जाता है। यह बिरादरी अपनी वंशावली को पहले खलीफा अबुबक्र से जोड़ती है। बुखारा, तुर्किस्तान में इस संप्रदाय के संस्थापक बहाउद्दीन (मृत्यु 1384) को 'अन-नक्शबंद' कहा जाता था, क्योंकि मान्यता के अनुसार उनके द्वारा निर्धारित अनुष्ठान से दिल पर खुदा की छाप पड़ती थी और इसलिए उनके अनुयायी 'नक्शबंदिया' कहलाने लगे। इस संप्रदाय को पर्याप्त जनसमर्थन नहीं मिल सका, क्योंकि इसकी स्तुतियाँ बहुत शांत हैं और मन ही मन जिक्र के जाप पर जोर देती हैं। अहमद सरहिंदी (1564-1624) के सुधारवादी उत्साह के कारण 17वीं सदी में भारत में नक्शबंदियों को पुनर्जीवन मिला। नक्शबंदियों ने 18वीं एवं 19वीं सदी में पूरे इस्लामी जगत के मुस्लिम जीवन के सुधार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सुहरावर्दिया

सुहरावर्दी 'सिलसिला' आध्यात्मिक अनुशासन की कठोरता के लिए जाना जाता है। इस सम्प्रदाय की स्थापना शेख शहाबुद्दीन उमर सुहरावर्दी ने की थी, किन्तु 1262 ई. में इसके सुदृढ़ संचालन का श्रेय शेख बदरुद्दीन जकारिया को है, जिन्होंने मुल्तान में खानकाह की स्थापना की तथा सिंध एवं मुल्तान को मुख्य केन्द्र बनाया। शेख बहाउद्दीन जकारिया के बाबा फरीद गंज-ए-शकर से घनिष्ठ सम्बन्ध थे।

इस सिलसिले की रस्मी प्रार्थनाओं (जिक्र) से जुड़े खुदा के सात नाम हजारों जपों पर आधारित हैं। ये सात सूक्ष्म आत्माओं (लताइफ सबा) और सात रोशनियों से सम्बद्ध हैं। मुख्य सिलसिला अफ़गानिस्तान और भारतीय उपमहाद्वीप में केन्द्रित हो गया था। इस सिलसिले की अन्य शाखाएँ बाद में पश्चिम की ओर बढ़ीं। ईरान में 'उमर उल खल्वती' द्वारा स्थापित परम्परावादी खल्वतिया भी कठोरतापूर्वक अनुशासित था। यह बाद में तुर्की और मिस्र से भी कई शाखाओं में बँट गया और फैला। अरदाबिल, ईरान में सफउद्दीन द्वारा संगठित सफविया ने ईरानी सफवी वंश (1502-1736 ई.) और कई तुर्की शाखाओं को जन्म दिया, जो 16वीं सदी की शुरुआत में ऑटोमन शासकों के विरुद्ध सक्रिय थे। अल्जीरियाई रहमानिया 18वीं सदी के दूसरे भाग में खल्वतिया से विकसित हुआ, जब इसके संस्थापक 'अब्द अर-रहमान अल-गुश्तुली' खल्वती श्रद्धा का केन्द्र बन गए। सुहरावर्दी सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख संत थे- जलालुद्दीन तबरीजी, सैय्यद सुर्ख जोश, बुरहान आदि। सिंध, गुजरात, बंगाल, हैदराबाद एवं बीजापुर के क्षेत्रों में इस सिलसिले का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

इस सम्प्रदाय ने चिश्ती सम्प्रदाय के विपरीत राज्य संरक्षण को स्वीकार किया, भौतिक जीवन का पूर्ण परित्याग नहीं किया तथा जागीर एवं नकद धनराशि के रूप में राज्य से अनुदान प्राप्त किया। सुहरावर्दिया शाखा में शेख मूसा एक महत्त्वपूर्ण सूफी संत हुए, जो सदैव स्त्री के वेश में रहते थे तथा नृत्य और संगीत में अपना समय व्यतीत करते थे। फिरदौसी सिलसिले के संस्थापक मध्य एशिया के सैफुद्दीन बखरजी थे। यह सिलसिला सुहरावर्दी सिलसिले की ही एक शाखा थी। भारत में इसका कार्य क्षेत्र बिहार में था। बदरुद्दीन समरगंजी और अहमद याहया मनेरी आदि इस सिलसिले के प्रमुख सन्त थे।

कादिरी या कदीरिया सिलसिला

कादिरी या कदीरिया सिलसिला की स्थापना 'सैय्यद अबुल कादि अल गिलानी' ने की थी। इनको 'पीरान-ए-पीर' (संतों के प्रधान) तथा 'पीर-ए-दस्तगीर' (मददगार संत) आदि की उपाधियाँ प्राप्त थीं। भारत में इस 'सिलसिले' के प्रवर्तक 'मुहम्मद गौस' थे। कादिरी सिलसिले के अनुयायी गाना-बजाना पसन्द नहीं करते थे। इस सिलसिले के अनुयायी हरे रंग की पगड़ियाँ सिर पर धारण करते थे। मुगल बादशाह शाहजहाँ का पुत्र दारा शिकोह इस सिलसिले का अनुयायी था। दारा शिकोह 'मुल्लाशाह बदख्शी' का शिष्य था। भारत में प्रारंभ में यह सिलसिला 'उच्छ' (सिंध) में सीमित था, परन्तु बाद में आगरा एवं अन्य स्थानों पर भी फैल गया।

सूफी सिद्धान्तों एवं पद्धतियों ने हिन्दू दर्शन और भक्ति के विभिन्न तत्त्वों को आत्मसात किया था। सूफियों के मठवासीय संगठनों एवं उनकी कुछ पद्धतियों, जैसे- प्रायश्चित, उपवास एवं प्राणायाम में बौद्ध एवं हिन्दू योगियों का प्रभाव झलकता है। अपने खानकाहों आदि का निर्माण सूफियों ने बौद्ध विहारों एवं हिन्दू मठों की तरह करवाया था। भारतीय योग सिद्धान्त के अन्तर्गत सूफी हठयोग की अमृतकुंड की अवधारणा से काफी प्रभावित हुए। यही कारण थे, जो भारतीय सूफियों को अन्य मुस्लिम देश के सूफियों से अलग करते हैं। भारत में सूफी आन्दोलन ने इस्लाम के उस पुराने स्वरूप को काफी बदल दिया, जो सुन्नी धर्मवेत्ताओं द्वारा प्रस्तुत किया गया था।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

इकाई-12

प्रमुख वास्तुविद् एवं उपयोगी शब्दावली

1. अनंत राजे *(Ananth Raje)*

इनका जन्म मुंबई में हुआ। फिलाडेल्फिया और सर जे.जे. कॉलेज ऑफ आर्किटेक्चर में इन्होंने वास्तुशिल्प में अध्ययन किया। अनंत राजे के निरीक्षण में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण भवनों का निर्माण संपन्न हुआ-

(i) भारतीय प्रबंधन संस्थान, अहमदाबाद में कार्यकारी प्रबंधन केन्द्र।

(ii) भोपाल में वन प्रबंधन संस्थान।

(iii) नई दिल्ली स्थित भारतीय सांख्यिकी संस्थान।

अनंत राजे की उपलब्धियों में उनके अध्यापन कार्य भी सम्मिलित हैं। उन्होंने अहमदाबाद के सीईपीटी विश्वविद्यालय में वास्तुशिल्प फैकल्टी तथा अमेरिका के न्यू मैक्सिको विश्वविद्यालय में भी अध्यापन कार्य किया। राजे का निधन वर्ष 2009 में हो गया।

2. पद्म श्री अच्युत पी. कान्वीन्डे *(Achyut P. Kanvinde)*

आधुनिक भारतीय वास्तुकला के जनकों की श्रेणी में शामिल कान्वीन्डे का जन्म महाराष्ट्र में हुआ था। इन्होंने वास्तुकला की शिक्षा सर जे.जे. कॉलेज ऑफ आर्किटेक्चर और हार्वर्ड विश्वविद्यालय से ग्रहण की।

इन्होंने अपने सहयोगी एस. राय के साथ मिलकर नई दिल्ली में कान्वीन्डे राय और चौधरी नामक एक संस्था की शुरूआत की। इसके जरिये विभिन्न महत्त्वपूर्ण भवनों जैसे आईआईटी कानपुर, राष्ट्रीय विज्ञान केन्द्र नई दिल्ली, एनआईआई पुणे, राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड के अन्तर्गत अनेक डेयरी भवन का निर्माण किया गया।

3. बालकृष्ण विट्ठलदास दोषी *(Balkrishna Vithaldas Doshi)*

इनका जन्म पुणे में हुआ था। ये दक्षिण एशियाई वास्तुशिल्प के श्रेष्ठ वास्तुविद माने जाते है। पेरिस में ली कार्बुजियर के साथ 4 वर्षों तक काम करने के उपरांत ये भारत लौटे। 1955 में इन्होंने वास्तुशिल्प (पर्यावरणीय डिजाइन) नामक एक स्टूडियो की स्थापना की।

इनके नेतृत्व में बने प्रमुख निर्माण कार्यों में से हैं- अहमदाबाद में सेंटर फॉर एनवायरमेंट एंड प्लैनिंग टेक्नोलॉजी, बंगलुरू में भारतीय प्रबंधन संस्थान, दिल्ली में राष्ट्रीय फैशन डिजाइन संस्थान, अहमदाबाद में अंहदावाद नी गुफा।

वास्तुशिल्प के पुरोधा होने के साथ-साथ ये एक शिक्षाविद् भी थे। ये अहमदाबाद के वास्तुशिल्प विद्यालय, स्कूल ऑफ प्लानिंग के प्रथम संस्थापक निदेशक रहे। इन्होंने अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयों में अनेक महत्त्वपूर्ण पद भी ग्रहण किये। अपने कार्यक्षेत्र एवं शैक्षणिक क्षेत्र में अमूल्य योगदानों के कारण इन्हें अनेक अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय पुरस्कारों तथा सम्मानों से सम्मानित किया गया। भारत सरकार ने इन्हें 'पद्म श्री' सम्मान दिया। पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय से ही इन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि मिली। वर्ष 2011 में इन्हें कला के लिए फ्राँस के सर्वोच्च सम्मान 'ऑफीसर ऑफ द ऑर्डर ऑफ आर्ट्स एंड लेटर्स' से सम्मानित किया गया।

4. चार्ल्स कोरिया *(Charles Correa)*

इनका जन्म सिकंदराबाद में हुआ था। इन्होंने भारत में बम्बई विश्वविद्यालय के सेंट जेवियर कॉलेज से अध्ययन कार्य किया। बाद में इन्होंने मिशीगन एवं मेसाचुसेट्स के विश्वविद्यालयों से भी पढ़ाई की। 1958 में बम्बई को अपना कार्य क्षेत्र बनाया।

पूरे विश्व में समकालीन वास्तुशिल्प के स्तर पर चार्ल्स कोरिया प्रथम पंक्ति के वास्तुकारों की श्रेणी में आते हैं। स्वतंत्र भारत में वास्तुकला को नया रूप देने में इन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। कोरिया के नेतृत्व में अहमदाबाद में साबरमती आश्रम में महात्मा गांधी स्मारक संग्रहालय, मुंबई में कंचनजंघा अपार्टमेंट टावर, जयपुर में जवाहर कला केन्द्र, नवी मुंबई का योजना निर्माण, बोस्टन में मिट्स ब्रेन (MIT's Brain) और कॉग्निटिव साइंस सेंटर, लिस्बन में चम्पालिमड सेंटर फॉर द अननोन आदि अनेक इमारतें बनी।

श्री कोरिया ने तृतीय विश्व से सम्बद्ध नगरीय मुद्दों एवं निम्न आय आश्रय को ध्यान में रखते हुए विशेष कार्य किये। 1984 में मुंबई में इन्होंने नगरीय समुदाय की प्रगति एवं पर्यावरणीय सुरक्षा को महत्त्व देने वाले अर्बन डिजाइन रिसर्च इन्सटीट्यूट की स्थापना की। इन्होंने भोपाल में भारत भवन, नई दिल्ली में राष्ट्रीय शिल्प संग्रहालय के निर्माण में भी अतुलनीय योगदान दिया। 1985 में इन्हें राष्ट्रीय नगरीकरण आयोग (National Urbanization Commission) का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

वास्तुशिल्प क्षेत्र में एक श्रेष्ठ वास्तुविद् के रूप में अपने योगदान के लिए चार्ल्स कोरिया को अनेक सम्मानों जैसे- रीबा (RIBA) रॉयल स्वर्ण पदक, पद्म विभूषण और पद्म श्री विज्ञान और कला क्षेत्र में ऑस्ट्रियाई डॉक्टरेट की उपाधि से सम्मानित किया गया है।

5. क्रिस्टोफर चार्ल्स बेनिंगर *(Christopher Charles Benninger)*

ये एक अमेरिकी-भारतीय वास्तुविद् तथा योजना निर्माणकर्ता हैं। इनका जन्म अमेरिका में हुआ था। इन्होंने मेसाचुसेट्स प्रौद्योगिकी संस्थान से नगरीय नियोजन की पढ़ाई की तथा हार्वर्ड डिजाइन स्नातक विद्यालय से वास्तुकला की पढ़ाई की। कुछ वर्षों तक विदेश में कार्य करने के बाद ये भारत वापस आए।

इन्होंने निर्धन परिवारों को उनके साधनों के अनुकूल अपना घर बनाने के मद्देनजर विकसित किये गए छोटे भू-खंडों के जरिये मकान उपलब्ध कराने के उद्देश्य से 'साइट एंड सर्विसेज' नामक अवधारणा रखी। इन्होंने विश्व बैंक और मद्रास नगरीय विकास प्राधिकरण, 1973 के लिए 4 स्थानों पर ऐसे 20,000 इकाइयों का डिजाइन तैयार किया। इनमें से सबसे बड़ा चेन्नई में अरम्बाकुम है। भारत में 1972 में संस्थागत आवास वित्तयन का प्रारंभ होने के बाद इन्होंने जामनगर में लगभग 500 परिवारों के लिए छोटे आकार के घरों का निर्माण अपने निरीक्षण में कराया। समाज के कमजोर वर्ग के लिए भारत सरकार द्वारा वित्तयन किया गया यह प्रथम आश्रय कार्यक्रम था।

1967-69 के दौरान आवास और नगरीय विकास निगम (हुडको) द्वारा दिए गए वित्त के सहयोग से इन्होंने हैदराबाद में कम आय वाले परिवारों के लिए एक टाउनशिप का निर्माण किया। बेनिंगर कलकत्ता महानगरीय विकास प्राधिकरण और विश्व बैंक के जरिए चलाए जाने वाले (स्लम) बस्ती विकास कार्यक्रम के लिए गठित दल में भी सम्मिलित रहे।

बेनिंगर ने विभिन्न अकादमिक और शैक्षणिक परिसरों के वास्तु निर्माण में अपना योगदान दिया जैसे- सेंटर फॉर डेवलपमेंट स्टडीज एंड एक्टीविटीज; द महिन्द्रा यूनाइटेड वर्ल्ड कॉलेज ऑफ इंडिया, द वाईएमसीए इंटरनेशनल कैंप, निल्शी, पुणे में द सेंटर फॉर लाइफ साइंसेज हेल्थ एंड मेडिसिन।

विदेशों में भी बेनिंगर के वास्तुशिल्प के कई उदाहरण हैं जैसे- श्रीलंका में 6 क्षेत्रीय राजधानियों के लिए योजना निर्माण, भूटान में तीन नए शहरों का निर्माण, नेपाल के विकेन्द्रीकृत योजना विधि हेतु डिजाइन तैयार करना। बेनिंगर की उपलब्धियों के लिए उन्हें विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किया गया जैसे- आर्किटेक्ट फॉर द डिकेड अवार्ड, बेस्ट पब्लिक बिल्डिंग ऑफ द ईयर, गोल्डेन आर्किटेक्ट अवार्ड फॉर लाइफटाईम अचीवमेंट। रिकॉग्निशन ऑफ एक्सीलेन्स इन डिजाइन अवार्ड पाने वाले वे पहले व्यक्ति भी हैं।

6. क्लाउडे बैट्ले

ये एक ब्रिटिश वास्तुविद् थे। इनका जन्म इंग्लैंड के एक शहर इप्सविक में 1879 में हुआ था। 1913 में ये भारत चले आए। तब से यहीं पर रहकर इन्होंने अनेक वास्तुकार्य किए। बम्बई जीमखाना, वांकानेर महल (अब लिंकन हाउस), अमेरिकी कान्सुलेट, साउथ कोर्ट जिसे अब जिन्ना हाउस भी कहा जाता है, बम्बई क्लब जिसे बाद में होटल नटराज कहा गया और अब इंटर कॉन्टिनेन्टल मुंबई कहा जाता है, का निर्माण बैट्ले के ही निरीक्षण में किया गया। बैट्ले ने जयपुर के वास्तुशिल्प पर बहुत समय तक शोध किया और उसे दस्तावेजीकृत किया। 1950 के मध्य दशक में इनकी मृत्यु बंबई क्लब में हो गयी।

7. यूजीन पंडाला

ये एक भारतीय वास्तुविद् हैं। इन्होंने पर्यावरणीय धारणीयता को ध्यान में रखकर भवन निर्माण किया। इन्होंने ब्रिटेन में योर्क विश्वविद्यालय से विरासत संरक्षण विषय में फेलोशिप प्राप्त की। क्विलोन में पंडाला वास्तुशिल्प विद्यालय में वास्तुशिल्प विभाग के संस्थापक अध्यक्ष भी थे।

महान वास्तुविद् हसन फैदी से मिलने के बाद पंडाला को गीली मिट्टी से निर्माण करने की प्रेरणा मिली। पंडाला स्वयं प्रकृति प्रेमी, सांस्कृतिक विरासत संरक्षण के कार्यकर्ता हैं। अत: ये प्राकृतिक पदार्थों से वास्तु निर्माण को प्राथमिकता देते हैं। इस प्रकार किसी भी हानिकारक कारकों का उपयोग करने से परहेज किया जाता है। पंडाला ने पहला मिट्टी निर्मित घर कोल्लम में बनाया।

यूजीन पंडाला के श्रेष्ठ कला कौशल के आधार पर इन्हें कई सम्मान भी मिले। ललित कला अकादमी ने इन्हें प्रथम लॉरी बेकर पुरस्कार से सम्मानित किया। इनसाइड आउटसाइड डिजाइन पत्रिका ने इन्हें डिजाइनर ऑफ द ईयर अवार्ड से सम्मानित किया। इन्होंने सुनामी पुनर्वास प्रोजेक्ट पर भी कार्य किया है।

8. वैद्यनाथ गणपति स्थपति

इनका जन्म 1927 में तमिलनाडु में हुआ था। गणित में स्नातक डिग्री प्राप्त करने के बाद ये तमिलनाडु में ही पलनी मुरूगन मंदिर में स्थपति (हिन्दु पारंपरिक वास्तुकार) के रूप में कार्य करने लगे। बाद में इन्होंने तमिलनाडु में स्थित गवर्नमेंट कॉलेज ऑफ ऑर्किटेक्चर एंड स्कल्पचर का प्राचार्य पद संभाला।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

1980 के दशक से इन्होंने आधुनिक भारतीय समाज में पारंपरिक हिन्दु वास्तुकला के महत्त्व को पुन:स्थापित करने तथा उन्नत करने के लिए अभियान चलाया। इसके लिए इन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय में वास्तु शास्त्र के पुनरोत्थान से सम्बद्ध डिग्री पाठ्यक्रम चलाए। सेवानिवृत्ति के पश्चात् स्थपति ने वास्तु वैदिक ट्रस्ट और वास्तु वैदिक शोध फाउंडेशन की स्थापना की। स्थपति के नेतृत्व में हुए कुछ महत्त्वपूर्ण निर्माण हैं-

(i) कन्याकुमारी (तमिलनाडु) में तमिल कवि एवं संत तिरूवल्लुवर की मूर्ति।

(ii) तमिलनाडु विश्वविद्यालय में प्रशासनिक ब्लॉक और पुस्तकालय।

(iii) नादी-फिजी द्वीपसमूह में श्री मुरूगन मंदिर।

(iv) तमिल महाकाव्य शिलपादिकारम की नायिका माधवी के ग्रेनाइट निर्मित मूर्ति का चेन्नई में निर्माण।

(v) हैदराबाद में हुसैन सागर झील में बुद्ध की प्रतिमा।

9. हाफिज कॉन्ट्रैक्टर

इनका जन्म मुंबई में 1950 में हुआ था। मुंबई विश्वविद्यालय से वास्तुकला में स्नातक डिप्लोमा करने के बाद इन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय से वास्तुकला में स्नातक और एमएस डिग्री प्राप्त की। हाफिज कॉन्ट्रैक्टर की प्रारंभिक सफलताओं में वर्ली समुद्र तट पर बनाया गया वास्तु भवन है। इन्होंने भारत के सबसे बड़े भवनों इम्पीरियल I एवं II का डिजाइन तैयार किया। उल्लेखनीय है सामाजिक प्रभाव एवं मौलिकता के दृष्टिकोण से उनके कार्य अक्सर विवादों में भी रहे हैं। वास्तुक्षेत्र के अकादमिक स्तर पर उनके डिजाइन दृष्टिकोण को गैरप्रेरक की संज्ञा दी जाती है।

- भारत का प्रमुख व्यावसायिक वास्तुविद् होने के बावजूद उन्होंने सार्वजनिक रूप से कहा कि "हरित भवन व्यंग्य मात्र" है। हाफिज कॉन्ट्रैक्टर के नेतृत्व में संपन्न किए जाने वाले प्रमुख प्रोजेक्ट हैं-

(i) डीएलएफ अरालियास, गुड़गाँव

(ii) एनआईसीएमएआर, पुणे

(iii) इन्फोसिस- बंगलुरू, मंगलोर, मैसूर, त्रिवेन्द्रम, पुणे

(iv) रजनीश ओशो आश्रम, पुणे

10. जोसेफ स्टीन

ये एक अमेरिकी वास्तुविद् हैं। इनका जन्म ओमाहा (अमेरिका) में 1912 में हुआ था। इन्होंने न्यूयार्क में जेक्स कान के साथ तथा लॉस एंजिलस में रिचर्ड न्यूट्रा के साथ मिलकर वास्तुक्षेत्र में निपुणता हासिल की। सेन फ्रांसिस्को में इन्होंने कैलिफोर्निया शैली में घरों का डिजाइन तैयार किया। बाद में ये कम लागत वाले घरों के डिज़ाइन निर्माण में भी रूचि लेने लगे।

स्टीन टेलेसिस नामक समूह के सक्रिय सदस्य भी थे। यह समूह मध्यम और कामगार वर्गों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आवास डिजाइन बनाने पर बल देता था। अपने वास्तुज्ञान को स्वतंत्र अभिव्यक्ति देने के लिए स्टीन कलकत्ता आये। भारत में रहकर इन्होंने निम्न महत्त्वपूर्ण कृतियों के निर्माण में अपना योगदान दिया-

(i) नई दिल्ली में त्रिवेणी कला संगम आर्ट्स सेंटर।

(ii) केरल में कोझिकोड में भारतीय प्रबंधन संस्थान।

(iii) नई दिल्ली में इंडिया इंटरनेशनल सेंटर।

(iv) नई दिल्ली में श्रीधरणी आर्ट गैलरी।

(v) पारंपरिक भारतीय वास्तुकला में निर्मित गुम्बदों से प्रेरित होकर छत युक्त अनेक कारखाने।

(vi) अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में सार्वजनिक शिक्षा केन्द्र तथा केनेडी ऑडीटोरियम।

11. लॉरेन्स विल्फ्रेड 'लॉरी' बेकर

ये ब्रिटिश में जन्मे भारतीय वास्तुविद् थे। इनका जन्म 1917 में हुआ था। बेकर लागत प्रभावी और ऊर्जा दक्ष वास्तुनिर्माण में निपुण थे। वे रिक्त स्थान का सदुपयोग कलात्मक संवदेनशीलता के साथ करने में भी दक्ष थे।

महात्मा गांधी से प्रभावित होने के कारण उन्होंने स्थानीय सामग्रियों के द्वारा ही सहज डिजाइन बनाए तथा धारणीय एवं ऑर्गेनिक वास्तु निर्माण के कारण ख्याति भी पाई। इन्हें 'गांधी ऑफ आर्कीटेक्चर' भी कहा जाता है। इन्होंने कम लागत वाले आवास निर्माण के प्रति जागरूकता प्रसार के लिए कॉस्टफोर्ड (सेंटर फॉर साइंस एंड टेक्नोलॉजी फॉर रूरल डेवलपमेंट : COSTFORD) नामक संगठन की स्थापना की।

भारत में रहकर जब उन्होंने यहाँ के स्थानीय वातावरण से संपर्क किया तो इसका प्रभाव उनकी वास्तुशिल्प शैली पर भी पड़ा। उन्होंने शीघ्र ही भारतीय वास्तुकला की तकनीकों और विधियों को समझ लिया।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बेकर के बारे में यह भी कहा जाता है कि वे ही एकमात्र ऐसे वास्तुविद् थे जिन्होंने समझा कि भारत के रोगग्रस्त समुदाय के लिए किस प्रकार का आवासीय वातावरण होना चाहिए। उनके नेतृत्व में क्रियान्वित हो रहे प्रोजेक्टों के निर्माण स्थलों पर वे स्वयं उपस्थित रहा करते थे। बेकर ने तिरूअनंतपुरम में 'द इण्डियन कॉफी हाउस' का डिजाइन तैयार किया। बेकर कम लागत वाले, उच्च गुणवत्तायुक्त, भव्य, निम्न मध्यम से लेकर निम्नवर्ग से सम्बद्ध लोगों के लिए भवनों का डिजाइन बनाने को महत्त्व देते थे। बेकर की वास्तुशैली की कुछ अन्य विशेषतायें थीं- छतों की अनियमित तथा पिरामिडनुमा संरचना जो एक तरफ से खुली हो। इन्होंने वक्राकार दीवारों का निर्माण प्रारंभ कराया। इससे सीधी दीवारों के निर्माण में लगने वाली लागत कम हो गयी।

इन्होंने भवन निर्माण तकनीक से सम्बद्ध कई सरल और उपयोगी सुझाव दिए, जैसे- ईंटयुक्त दीवारों में ट्रैप बॉन्ड, दीवारों में मुड़ाव लाना जिससे इसकी मजबूती बढ़ सकती है साथ ही शेल्व के रूप में भी उपयोग किया जा सकता है।

लॉरी बेकर को उनकी उपलब्धियों के लिए कई सम्मान से सम्मानित भी किया गया, जैसे- यूएनओ हैबिटेट अवार्ड एंड यूएन रॉल ऑफ ऑनर, पीपल ऑफ द ईयर अवार्ड, बशीर पुरस्कारम, 2006 में प्रीत्जकर पुरस्कार हेतु नामांकन। बेकर की मृत्यु वर्ष 2007 में हो गयी।

शीला श्री प्रकाश

ये भी एक निपुण वास्तविद् हैं। इनका जन्म 1955 में भोपाल में हुआ था। इन्होंने नगरीय डिजाइनिंग में भी महारत हासिल की। इन्होंने चेन्नई में 'शिल्प आर्किटेक्ट्स' की स्थापना की। भारत में अपना वास्तुशिल्प फर्म का प्रारंभ और संचालन करने वाली ये पहली भारतीय महिला हैं।

इन्होंने विश्व आर्थिक मंच के डिजाइन नवाचार से सम्बद्ध वैश्विक एजेंडा परिषद् में अपनी सेवा दी है। वर्तमान में श्री प्रकाश समाज में कला की भूमिका से सम्बद्ध विश्व आर्थिक मंच वैश्विक एजेंडा परिषद् में कार्यरत हैं।

पर्यावरण, समाज एवं अर्थव्यवस्था सम्बद्ध धारणीय डिजाइनिंग के मापक के रूप में इन्होंने 'व्युत्क्रमानुपाती डिजाइन सूचकांक (Reciprocal Design Index)' का विकास किया है।

श्री प्रकाश समकालीन डिजाइन क्षेत्र में देशी तथा सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक तकनीकों का आरंभ करने वाली वास्तुविद् के रूप में ख्यात हैं। भारतीय हरित भवन परिषद् की स्थापना में इनका योगदान रहा है। साथ ही जोन्टा इंटरनेशनल (जो विश्वभर में महिलाओं के स्तर में उन्नति पर बल देता है) में भी इनकी सक्रिय भागीदारी है।

शीला श्री प्रकाश के नेतृत्व में किये गये महत्त्वपूर्ण कार्य हैं- चेन्नई में महिन्द्रा वर्ल्ड सिटी, द मद्रास आर्ट हाउस, कुचीपुडी आर्ट अकादमी, इन्होंने भरतनाट्यम, शास्त्रीय भारतीय संगीत, स्थापत्य एवं वास्तुकला के सिद्धांतों को संयुक्त करने में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है।

वर्तमान में हैदराबाद में तैयार हो रहे हाईटेक्स (HITEX) प्रदर्शनी केन्द्र से सम्बद्ध प्रोजेक्ट शीला श्री प्रकाश के ही नेतृत्व में हैं।

भारतीय देशी वास्तुशिल्प

भारतीय देशी वास्तुशिल्प प्राय: ग्रामीण क्षेत्रों में उपस्थित अनौपचारिक और क्रियात्मक प्रकार के वास्तु से सम्बद्ध संरचनाओं को प्रतिबिम्बित करता है जिसमें स्थानीय लोगों की जरूरतों के अनुकूल स्थानीय निर्माण सामग्रियों का इस्तेमाल किया जाता है तथा स्थानीय स्तर के डिजाइन तैयार किये जाते हैं। इन निर्माण संरचनाओं से सम्बद्ध भवन निर्माता औपचारिक वास्तु डिजाइन से अनभिज्ञ होते हैं। इनके कार्य भारतीय वातावरण में उपस्थित संपन्न विविधता को दर्शाती है।

यह आकलन किया गया है कि पूरे विश्व में लगभग 90% भवन देशी प्रकार के हैं अर्थात वैसे भवन जिनका निर्माण स्थानीय शिल्पियों ने आमजनों के दैनिक उपयोग के लिए किया है।

देशी वास्तुशिल्प का सरल तात्पर्य अनौपचारिक भवन निर्माण से है जिसमें स्थानीय भवन निर्माताओं द्वारा पारंपरिक भवन निर्माण विधियों का इस्तेमाल किया जाता है और इसमें किसी पेशेवर वास्तुकार का कोई योगदान नहीं होता है।

भारतीय देशी वास्तुशिल्प का विकास स्थानीय लोगों के वास्तुकौशल के जरिये विभिन्न समयांतरालों में हुआ है। विविधता के अतिरिक्त इसे तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

कच्चा- कच्चा निर्माण ऐसे निर्माण होते हैं जिसमें सामग्रियों के रूप में मिट्टी, घास, बाँस, छाजन का इस्तेमाल किया जाता है। इस कारण ऐसे निर्माण कम समय तक ही टिक पाते हैं। फिर भी इनके उपयुक्त रख-रखाव और इन्हें स्थानापन्न करने की आवश्यकता होती है।

कच्चा निर्माण का एक लाभ यह है कि इनकी निर्माण सामग्रियाँ सस्ती, आसानी से उपलब्ध साह्य होती हैं और निर्माण में सापेक्षत: कम मेहनत की आवश्यकता पड़ती है।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtiias.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright– Drishti The Vision Foundation

पक्का- पक्की संरचनाओं का निर्माण पत्थर या ईंट, टाईल्स, धात्विक या अन्य ठोस सामग्रियों, गारे आदि से होता है। इनके लिए कच्चा निर्माण की भाँति अधिक रख-रखाव या स्थानापन्न करने की आवश्यकता नहीं होती है।

हालाँकि पक्की संरचना निर्माण सामग्रियाँ खर्चीली होती हैं तथा इनके निर्माण में सापेक्षिक रूप से अधिक मेहनत की आवश्यकता होती है। पक्की संरचनाओं को कच्ची संरचनाओं की अपेक्षा बेहतर ढंग से सजाया जा सकता है।

आंशिक पक्का- ऐसी संरचनाओं में कच्चा और पक्का दोनों शैलियों का मेल होता है। वस्तुत: ग्रामीणों को बेहतर निर्माण सामग्रियाँ उपलब्ध हो सकने के फलस्वरूप ऐसे निर्माण संभव हो सके हैं।

क्षेत्रीय भिन्नता- निर्माण सामग्री स्थान विशेष पर निर्भर करती है। पर्वतीय देशों में जहाँ चट्टानी टुकड़े, एश्लर, पत्थर के टुकड़े उपलब्ध होते हैं वहाँ दीवारों के निर्माण में इन सामग्रियों को गारे के साथ मिलाकर उपयोग किया जाता है।

ग्रीक शैली

ग्रीक संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसके लौकिक दृष्टिकोण को माना गया है। यह प्रभाव इस संस्कृति के स्थापत्य व मूर्तिकला में दिखता है। करीब 1000 ईपू में ग्रीस आये डोरियन और आयोनियन लोगों की संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। डोरियनों की काष्ठकला और आयोनियनों की अलंकरण शैली का एथेंस के प्रभावशाली दिनों में पर्याप्त प्रयोग हुआ। उसी समय भवन निर्माण में शहतीर का प्रयोग होने लगा। एथेंस का एक्रोपोलिस भवन इसका प्रमुख उदाहरण है। चौथी शताब्दी ई.पू. के आसपास ग्रीक में कोरिन्थियन (Corinthian) नामक अलंकरण की नई शैली का प्रयोग हुआ ग्रीक कलाकारों ने मूर्तिकला में भी अपने हुनर को दिखाया और देवी-देवताओं, नायकों, नायिकाओं आदि की सुंदर मूर्तियों का निर्माण किया। ग्रीक मूर्तिकला की सबसे खास बात मूर्तियों की लौकिकता है। शरीर की आकृतियों को अत्यंत बलिष्ठ और यथार्थ रूप में दिखाने की कोशिश की जाती थी। इसका प्रभाव गांधार कला पर देखा जा सकता है।

रोमन शैली

प्राचीन रोमन साम्राज्य की समृद्धि और अपार शक्ति के दर्शन उसके विशाल भवनों में किये जा सकते हैं। रोमन वास्तुकारों ने सर्वप्रथम चापाकार निर्माण अर्द्धवृत्ताकार मेहराब का प्रयोग किया जिसका विकास लंबी मेहराब, अनुप्रस्थ मेहराब और गुम्बद में हुआ। रोमन वास्तुशिल्पियों ने पूजागृह, महल, व्यायामशाला, सर्कस, वृत्ताकार रंगशालाओं, सड़कों, पुलों और नालों आदि का बहुत सुंदरता के साथ निर्माण किया। ईसाई धर्म के उदय के बाद शिल्पियों ने चर्च निर्माण में नया अध्याय ही लिख दिया। आगे चलकर चर्च निर्माण की शैली इससे काफी हद तक प्रभावित हुई। रोमन कलाकार मूर्तिकला में ही सिद्धहस्त थे। उनकी शैली यूनानियों की यथार्थवाद से मिलती-जुलती थी।

रोमांसक्यू *(Romanesque)*

यूरोपीय वास्तुकला के इतिहास में मध्ययुग में विकसित हुयी इस शैली पर रोमन शैली का प्रभाव देखा जाता है। 1000-1300 ईस्वी तक इस शैली का बोलबाला रहा और गोथिक शैली के उदय के साथ ही इसका अंत हो गया। रोमांसक्यू शैली के पूर्व की शैली को पूर्व-रोमांसक्यू कहा जाता है। दोनों में अंतर यह है कि पूर्व रोमांसक्यू की विशेषताएँ रोमांसक्यू में आकर और स्पष्ट हो गई। रोमांसक्यू शैली की विशेषताएँ अर्द्धचापाकार मेहराब, लंबी मेहराब, चौड़ी दीवारों को मजबूती देने के लिए रोक या बट्रेस (Buttresses), विशाल दरवाजे और गलियारे मानी जाती हैं।

गोथिक शैली *(Gothic)*

मध्ययुगीन यूरोप में आर्थिक गतिविधियों में तेजी आई। फलस्वरूप बड़ी इमारतों और गिरजाघरों का निर्माण बड़े पैमाने पर हुआ। रोमांसक्यू युग के समाप्त होने के बाद गोथिक शैली का चलन बढ़ा। यह शैली 13वीं से 16वीं ~~सदी तक लोकप्रिय रही। नुकीली~~ मेहराब (Pointed Arch), मेहराबदार छत की डॉट (Ribbed Vault) और चापरूप पुश्ता (Flying Buttress) गोथिक शैली की तीन सबसे बड़ी विशेषताएँ मानी जाती हैं। इन तीनों विशेषताओं को यूरोपीय स्थापत्य की सबसे बड़ी उपलब्धि माना जाता है। नवजागरण शैली के उदय के साथ ही इसका प्रयोग समाप्त हो गया। हालांकि 19वीं सदी में एकबार फिर इसकी विशेषताओं को थोड़े हेरफेर के साथ प्रयोग में लाया गया। पेरिस के नोत्रे डेम डि (1163) और चार्ल्स चर्च (1195) को इस शैली का सबसे बेहतरीन उदाहरण माना गया है।

पुनर्जागरण शैली *(Renaissance architecture)*

नवजागरण काल में शिल्पियों ने प्राचीन रोम व ग्रीक सभ्यता की विशेषताओं को पुन: स्थापित किया। नवजागरण काल का सर्वप्रथम उदय इटली में हुआ और प्रभाव जल्द ही समस्त यूरोप में फैल गया। 15वीं सदी से लेकर 17वीं सदी तक चले वास्तुकला

Copyright– Drishti The Vision Foundation

के शिल्पियों के कार्य में स्थापत्य व मूर्तिकला में बौद्धिकता की झलक साफ दिखाई देती है। कलाकारों ने स्थापत्य कला में प्राचीन रोमन स्थापत्य कला का समावेश किया। इस नई शैली के प्रारंभिक प्रतिनिधि कलाकार फिलिप्पो ब्रूनेलेस्ची और ल्यॉन बतिस्ता अल्बर्टा थे। इस शैली में संतुलन, अनुपात, ज्यामितिय आकारों और विभिन्न भागों में निरंतरता के दर्शन होते हैं। इन विशेषताओं को प्राचीन ग्रीक और रोमन वास्तुकला में देखा जा सकता है। इसमें स्तंभों (Columns), भित्ति स्तंभों (Pilasters) और लिंटल (Lintels) को क्रमागत तरीकों से लगाया गया। अर्द्धवृत्ताकार मेहराबें, अर्द्धगोलाकार गुम्बद, ताखा (niches) इस शैली की विशेषताएँ हैं।

बरोक शैली *(Baroque)*

16वीं सदी के अंत और 17वीं सदी के शुरुआती दौर में कुछ शिल्पियों ने पुनर्जागरण कला के नियमों में परिवर्तन करते हुए बरोक शैली का विकास किया। रोम का सैन कार्लो चर्च इस शैली का प्रमुख उदाहरण है। इस शैली में भव्यता उच्च स्तर पर पहुँच गई है। तीखे मोड़ (Strong curves), गत्यात्मकता (dynamism) इसकी विशेषताएँ मानी गई हैं। बरोक के बाद कई प्रकार की शैलियों जैसे भविष्यवादी, प्रभाववादी, ट्यूब शैली का प्रयोग होने लगा।

आर्ट डेको (Art Deco)–यह शैली 1920 के आसपास शुरू हुई और 1930-40 में इस शैली ने अपना चरम देखा। दूसरे विश्व युद्ध की शुरुआत के साथ ही इसका अवसान शुरु हो गया। यह पाया गया है कि इस शैली में बनी इमारतों की संख्या के हिसाब से दुनिया में मुंबई दूसरे स्थान पर है। चेन्नई में भी इस शैली की कुछ इमारतें मिलती हैं। आर्ट डेको ज्यामितिय आकारों पर जोर देती है। इसके अंतर्गत गोलाकार आकृति, बहुभुज, आयत, विषम एवं समलंब चतुर्भुज, वक्राकार फीतानुमा, प्रखर रूप में सूर्य जैसे अलंकरण बनाये गये। इसमें तत्वों की सुडौलता और संगतता का ध्यान रखा गया। वास्तुकारों ने नये पदार्थों जैसे एल्युमिनियम, स्टेनलेस स्टील, बेकेलाइट, क्रोम और यहाँ तक कि प्लास्टिक का प्रयोग किया। इमारतों में कई प्रकार के किंतु जीवंत एवं परस्पर वैषम्य (high-contrast) रखने वाले रंग भी भरे।

उत्तर आधुनिक स्थापत्य शैली *(Post Modernism)*

साहित्य व दर्शन के क्षेत्र में उत्तर आधुनिकतावाद की तरह स्थापत्य में भी इस विचार का प्रयोग हुआ है। इसकी शुरुआत 1950 के दशक से मानी जाती है। इसकी खास बात यह है कि आधुनिकता की औपचारिकता का परित्याग करके इसमें अनौपचारिकता को ग्रहण किया गया। इस शैली में एक बार फिर से अलंकरण का प्रयोग किया जाने लगा।

विखंडनवादी स्थापत्य शैली *(Deconstructionism)*

स्थापत्य कला में डिकंस्ट्रक्शनिज्म का विकास उत्तर आधुनिकता शैली का ही एक रूप है जिसकी शुरुआत 1980 के दशक में हुई। इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता इसका गैर-रेखीय होना है। इसमें स्थापत्य कला के स्थापित नियमों के स्थान पर नये नियमों को बनाया गया ताकि नयी सोच को बढ़ावा मिल सके।

आमलक (AMALAKA) – नागर शैली के मंदिरों के शिखरों के ऊपरी सिरे पर बनी संरचना आमलक है। यह आकार में गोल होता है।

अंतराल (ANTARAAL) – मंदिर के गर्भगृह से मंडप को जोड़ने वाले हिस्से को अंतराल कहते हैं।

मेहराब (ARCH) – यह इस्लामी वास्तुकला की प्रमुख विशेषता है। इसके अंतर्गत एक केंद्रीय पत्थर (Key Stone) रख कर अर्द्धवृत्ताकार या चापाकार रचना तैयार की जाती है। इस आकृति पर ही भवन का ऊपरी भार ठहरता है। मेहराब के प्रकारों को तीन वर्गों वृत्ताकार (Circular), नुकीली (Pointed) और परवलयकार (Parabolic) में रखा जाता है। इन तीनों के अलावा कभी-कभी मेहराबों को वॉल्ट और आर्केड में भी बांटा जाता है। शुरु में मेहराबें गोल या अर्द्धवृत्ताकार बनती थीं। भारत में घोड़े के नाल के आकार की और तातारी मेहराबें प्रचलन में रहीं। तातारी मेहराबों में ऊँचाई ज्यादा होती थी। ब्रिटिश काल में नुकीली मेहराबें बनाने का चलन हुआ।

बंगालदार छतें (BANGALDAR ROOF) – इस प्रकार की ढलवां छतें बनाने का प्रचलन बंगाल में था इसमें छत चारों कोनों से नुकीली होती और दीवारों पर ऊपर से पड़ी हुई प्रतीत होती है। छत का एक सिरा दूसरे सिरे तक परवलयकार तरीके से जुड़ता है। इस प्रकार की छत से पानी बिल्कुल भी नहीं ठहरता।

बंगला (Bungalow) – बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में बनने वाले आवासों के जैसे आवास अंग्रेज अधिकारियों के लिए बनाये गये। ये बंगले बड़े क्षेत्रफल में बनाए जाते थे। बंगले के इर्दगिर्द उनके कर्मचारियों के आवास बनाये जाते थे।

भुंगा (Bhunga) – कच्छ क्षेत्र में ग्रामीणों के आवास निर्माण को भुंगा कहा जाता है। इसकी विशेषता यह है कि ये आवास आयताकार या वर्गाकार होने के बजाए गोलाकार होते हैं। इसी कारण उनकी छत भी गोलाकार बनाई जाती है।

पुश्ता या सहारा (BUTTRESS) – स्थापत्य में ऐसा निर्माण जिसकी मदद से दीवार को सहारा प्रदान किया जाता है। इससे दीवारें अतिरिक्त दबाव बर्दाश्त करने योग्य हो जाती हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

शीर्ष (CAPITAL) - किसी स्तंभ का सबसे ऊपरी हिस्सा शीर्ष कहलाता है। भारतीय शैली में प्रायः इसे उल्टे कमल या घंटी की तरह बनाया गया। इसका आकार अवतल, उत्तल या अन्य किसी प्रकार का हो सकता है। स्तंभ के इस हिस्से का बहुत अलंकरण किया जाता है।

कारवां सराय (CARAVAN SARAI) - मध्य काल में यात्रियों के विश्राम के लिए मुख्य मार्गों पर कई इमारतें बनीं। इनमें व्यापारियों, सरकारी लोगों के रुकने और आराम करने की व्यवस्था की गई। इन्हें संक्षिप्त तौर पर सराय भी कहा गया।

विहार (CAVE DWELLINGS) - भिक्षुओं का आवास गृह 'विहार' कहलाता है। इनका निर्माण बड़ी चट्टानों को काट कर किया जाता था। कई विहार स्तंभ युक्त और दो-तीन मंजिलों वाले भी बनाये गये। सामान्य आकार से विस्तृत बने विहार को 'महाविहार' कहा गया।

स्मारक (CENOTAPH) - इस प्रकार की इमारत यादगार स्वरूप में बनाई जाती है। ये स्मारक प्रायः युद्ध में शहीद लोगों की याद में या किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की कब्र पर बनाये जाते हैं। इसमें असली कब्र थोड़ा नीचे जबकि एक उसके जैसी कब्र थोड़ा ऊपर बनाई जाती है। इसमें यह आवश्यक नहीं कि उक्त स्थल पर व्यक्ति या समूह शहीद ही हुआ हो। जैसे नई दिल्ली स्थित 'इंडिया गेट' की इमारत के मध्य में बना स्मारक। यह इमारत प्रथम विश्वयुद्ध और अफगान युद्ध में शहीद हुये सैनिकों को समर्पित थी लेकिन अब इसे सभी सैनिकों की शहादत के लिए समर्पित स्मारक बना दिया गया है।

चद्दर और चादर (CHADDAR) - मुगल वास्तुकाला में मकबरा निर्माण के साथ बाग परिसर में एक कोणीय दीवार खड़ी करके उसके पृष्ठ पर ऊपरी सिरे से पानी को बहाया जाता है। इस तरह पानी दीवार के पृष्ठ के सहारे कल-कल बहता हुआ नीचे बनी एक हौदी में एकत्र होता है और फिर वहाँ से नहरों में जाता है। 70 डिग्री से लेकर 30 डिग्री तक के कोण पर बनी आड़ी दीवार को चद्दर कहा गया।

दो चाल/चार चाल/अठ चाल (do chal/char chal/aat chal) - बंगाल की इमारतों पर बनाई गई ढलवां छतें जब दो ही किनारों वाली होती थीं तो उन्हें दो चाल और ये छत जब चार सिरे वाली बनाई गई तो उसे चार चाल या जोर चाल (Jor-Chal) कहा गया। इसमें एक विशिष्टता दोहरी ढलवां छत ही होती थी। जब छत के ऊपर एक और मगर आकार में छोटी छतरीनुमा ढलवां छत बनाई गई तो उस छत को अठ चाल कहा गया। दो चाल वाली छत का विशिष्ट उदाहरण गौड़ में बना फते खां का मकबरा, चार चाल वाली छत का नदिया जिले में राधेश्वर मंदिर और अठ चाल का उदाहरण मालंचा दक्षिण काली या आमृदपुर का शिव मंदिर है।

चैत्य (CHAITYA) - बौद्ध और जैन गुहा मंदिरों को चैत्य कहा गया है। यह शैल वास्तु के अंतर्गत आता है जिसके ऊपरी भाग को उपरिक तथा निचले भाग को अवर कहा जाता है। उपरिक में मेहराबदार गवाक्ष (वातायन, रोशनदान, खिड़की) तथा अवर के केंद्र में तोरणयुक्त (मेहराबदार) प्रवेशद्वार बनाया जाता था। बड़े आकार के चैत्य गृहों में एक से अधिक तीन तक प्रवेश द्वार बनाये गये। चैत्य गुफा के तीन प्रमुख भाग आयताकार मंडप, गलियारे और स्तूप भाग बनाये गये। आयताकार मंडप को हिन्दू मंदिरों और आधुनिक चर्चों में देखा जा सकता है। चर्च में इस मंडप को नेव (Nave) कहा जाता है। चैत्य के पार्श्व में स्थित गलियारों की तुलना हिन्दू मंदिरों के प्रदक्षिणा पथ या चर्चों के एसिल्स (Aisles) से की जा सकती है। स्तूप की तुलना मंदिरों के गर्भगृह और चर्चों के अर्धवृत्ताकार घेरे (apes) से की जा सकती है।

छतरी (CHATTRI) - यह संरचना बतौर अलंकरण बनाई जाती है। इसे भवनों के कोनों या चबूतरों पर चार या अधिक छोटे एवं पतले खंभों के ऊपर बनाया जाता है। इसकी आकृति के छतरी की तरह होने के इसे भी छतरी ही कहा जाता है। छतरी प्रायः लाल बलुआ या संगमरमर की बनाई गई। कहीं-कही इनके लिए लकड़ी का भी प्रयोग हुआ है। इनके लिए छोटे पैवेलियन (Small Pavillions) शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

चौमुखा या चतुर्मुख (CHAUMUKHA/CHATURMUKHA) - यह कुछ जैन मंदिरों की विशेषता है। इसमें जैन मंदिर में चार तीर्थंकारों की प्रतिमाएँ एक-दूसरे की पीठ से लगा कर निर्मित की जाती हैं। मंदिर के गर्भगृह में रखी इन चार प्रतिमाओं के सामने का मंडप एक समान रखते हुये चार प्रवेश द्वार युक्त भवन बनाया जाता है।

चोर्टेन (CHORTEN): तिब्बत और लद्दाख के क्षेत्र में बनाये जाने वाले बौद्ध स्तूपों के विशिष्ट प्रकार को चोर्टेन कहा जाता है। यह भवन प्रायः श्वेत रंग का बनाया जाता है जिसके ऊपरी सिरे पर सुनहरी शंक्वाकार संरचना होती है।

प्रदक्षिणा या परिक्रमा पथ (CIRCUMBULATORY) - किसी धार्मिक स्थल के महत्त्वपूर्ण भाग के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए बनाया गया गोलाकार मार्ग परिक्रमा या प्रदक्षिणा पथ कहलाता है।

दरगाह (DARGAH): सूफियों से जुड़ा वह भवन जहाँ पर वे ध्यान लगाते हैं और अपने शिष्यों में ईश्वर और साधना के बारे में बताते हैं। इन्हीं भवनों में प्रायः उनकी कब्र का निर्माण भी किया जाता है जिसे मजार कहते हैं।

देउल (DEUL): ओडिशा के मंदिरों के तीन प्रकार मिलते हैं। शिखर युक्त मंदिरों को 'देखा देउल' कहा जाता है। इसी तरह पिरामिड या पीढ़ा के आकार के मंदिरों को पीढ़ा देउल और आयताकार शिखर वाले मंदिर को खाखर देउल कहा गया है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

दीवान-ए-आम (DIWAN-I-AM) - मुगल स्थापत्य के अंतर्गत बनाया गया ऐसा भवन जिसमें बादशाह आम लोगों और निचले स्तर के अधिकारियों से मुलाकात और उनकी फरियाद सुनता था।

दीवान-ए-खास (DIWANI-I-KHAS) - मुगल स्थापत्य के अंतर्गत बनाया गया ऐसा भवन जिसमें बादशाह शाही लोगों और उच्च स्तर के अधिकारियों से मुलाकात करके महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार विमर्श करता था।

गुम्बद (DOME) : किसी भवन की छत पर पत्थर अथवा ईंटों से बनी अर्धगोलाकार संरचना को गुम्बद कहा गया है। स्थापत्यकारों ने इसकी आकृति में फेरबदल करके अनुपम प्रयोग भी किये हैं जैसे अंडाकार एवं दोहरा गुम्बद आदि।

दोहरा गुम्बद (Double Shell Dome): गुम्बदों की ऊँचाई बढ़ाने पर यह समस्या सामने आई कि उसके भीतरी परत पर की गयी नक्काशी का कार्य सामान्य तौर पर नहीं दिखता था। इस समस्या से पार पाने के लिए दोहरे गुम्बद की तकनीक का प्रयोग किया गया। इसमें गुम्बद पर दोहरी परत लगाई गई और निचली पर्त को नीचे रखा गया। इस निचली परत पर नक्काशी का काम किया गया जबकि ऊपरी परत का प्रयोग गुम्बद की भीतरी संरचना के लिए किया गया।

दुखांग (DUKHANG) : बौद्ध मठ का केंद्रीय कक्ष जिसमें सभी लोग एकत्र होते हैं। इस कक्ष के मध्य में भिक्षु और उसके समक्ष अन्य शिष्य एक दूसरे के आमने-सामने पंक्तिबद्ध होकर बैठते हैं। इसकी ऊँचाई अधिक होती है और ऊपर रोशनदान बने होते हैं।

द्वारपाल (DVARAPALA): भवनों के मुख्य द्वार पर मनुष्य, देव या भीमकाय असुर जैसी प्रस्तर की प्रतिमाओं को द्वारपाल कहा गया है।

एक रत्न (EKA-RATNA): बंगाल में बने ऐसे मंदिर जिनकी ढलवां छत पर केवल एक ही छोटा शिखर बनाया गया हो, उन्हें एक रत्न मंदिर कहा गया है। मल्ल राजाओं ने विष्णुपुर में ऐसे मंदिरों का निर्माण किया। इस कला का एक उदाहरण विष्णुपुर का 'मदन-मोहन' मंदिर है।

पंच-रत्न (Panch Ratna): बंगाल में बने ऐसे मंदिर जिनकी ढलवां छत पर पाँच शिखर बनाये गये हों, उन्हें पंच-रत्न मंदिर कहा गया है। इनमें एक शिखर मध्य में थोड़ा बड़े आकार का तथा शेष चार उसके इर्द-गिर्द बनाये जाते थे। मेदिनीपुर में गोपीनाथ मंदिर, राधा गोविंद मंदिर, बांकुड़ा में राधाकांत मंदिर इस शैली के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

नौ-रत्न (Nav Ratna) : बंगाल में बने ऐसे मंदिर जिनकी ढलवां छत पर नौ शिखर बने हों। उन्हें नौ-रत्न मंदिरन कहा गया है। यह पंच रत्न का ही विस्तार माने जाते हैं। इनमें पंच-रत्न जैसे स्थापत्य को और विस्तार देकर चारों कोनों में चार शिखर बनाये गये। कोलकाता में दक्षिणेश्वर और तलपुकुर, बीरभूम में राधा-विनोद, बांकुड़ा में जोयपुर मंदिर आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

जामा मस्जिद (Friday Mosque): इस्लाम धर्म के तहत शुक्रवार के दिन सामूहिक नमाज पढ़ने के लिए बनाई गई विशाल इमारतें जामा मस्जिद कहलाता है। इन्हें जामी, जामे या जुमा मस्जिद भी कहा गया है। दिल्ली की जामा मस्जिद अपने विशाल प्रांगण के लिए बहुत प्रसिद्ध है।

ईदगाह (Edgah) : इस्लाम धर्म के तहत शहर के बाहरी इलाके में बने बड़े मैदान में खुली मस्जिद ईदगाह कही जाती है। इसमें ईद-उल-फितर और ईद-उल-अजहा की सामूहिक नमाज पढ़ी जाती है।

गर्भगृह (SACTUM SANCTORUM) : किसी मंदिर का वह हिस्सा जहाँ देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं। इसे मंदिर का सर्वाधिक पवित्र हिस्सा समझा जाता है।

घाट (Ghat): नदी अथवा झीलों या तालाबों के किनारे बनाई गयी पक्की सीढ़ीनुमा संरचना घाट कहलाती है। घाट का प्रयोग पानी भरने और धार्मिक अनुष्ठानों को पूरा करने में होता है।

गोमतेश्वर या भगवान बाहुबली (GOMMATESHWARA or BHAGWAN BAHUBALI): धार्मिक मान्यताओं के अनुसार गोमतेश्वर जैन धर्म के पहले तीर्थंकर ऋषभ देव के पुत्र थे। उन्हें अरिहंत भी कहा गया है। गंग शासकों के मंत्री चामुण्डराय ने कर्नाटक के हासन जिले के निकट श्रवणबेला गोला में उनकी करीब 60 फीट (18 मीटर) ऊँची एकाश्म मूर्ति का निर्माण करवाया। इसी स्थान पर प्रत्येक 12 साल बाद महामस्तकाभिषेक नामक पर्व का आयोजन होता है। श्रवणबेलगोला के अलावा मैसूर, उडुपी, दक्षिण कन्नड आदि जिलों में भी गोमतेश्वर की मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं।

गोम्पा (GOMPA) - सिक्किम और लद्दाख में बौद्ध मठों या मंदिरों को गोम्पा कहा जाता है। इन इमारतों में भिक्षु आदि धार्मिक कार्यों से जुड़े लोग रहते हैं।

गोपुरम (GOPURAM) - दक्षिण भारत में मंदिर परिसर की चहारदीवारी बना कर उसके प्रवेश द्वार को विशालकाय बनाये जाने की परंपरा रही है। इन विशाल द्वारों को गोपुरम कहा गया है। कई बार गोपुरमों का आकार मंदिर के आकार से भी बड़ा बनाया गया। विशाल गोपुरम को मंदिर की प्रतिष्ठा से जोड़ कर देखा गया है।

हर्मिका (HARMICA) - बौद्ध स्तूपों में बनी अंड आकृति के ऊपरी सिरे पर बना छोटा चबूतरा हर्मिका कहलाता है। इस हर्मिका के चारों ओर रेलिंग भी बनाये जाने की परंपरा रही है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

हम्माम (HAMMAM) - मुगल स्थापत्य में बने स्नानघर को हम्माम या तुर्की स्नानघर (Turkish Bath) कहा गया है। यह एक विशिष्ट कमरा होता था जिसमें गर्म पानी और भाप के जरिए नहाया जाता था। आधुनिक समय में इसकी तुलना सोना बाथ से की जा सकती है।

हवेली (HAVELI or MANSION) - मुगल शैली में महलनुमा तरीके से बने विशालकाय भवन जिनका प्रयोग धनवान लोगों के रहने के लिए किया गया। बड़े दरवाजो, सैकड़ों खिड़कियाँ, विस्तृत दालान और उसमें फव्वारा आदि हवेली की विशेषताएँ मानी गई हैं।

इमामबाड़ा (IMAMBARA) - इस्लाम धर्म के पर्व मुहर्रम को मनाने के लिये लोगों के एकत्र होने के लिए बनाये गये भवन को इमामबाड़ा कहा गया है। लखनऊ में ऐसे बने दो इमामबाड़े, बडा इमामबाड़ा और छोटा इमामबाड़ा अपनी वास्तुकला के लिए प्रसिद्ध हैं।

जाली (LATTICEWORK or TRACERY) - दीवारों और प्रवेशद्वारों पर लगाई जाने वाली खिड़की के आकार की छिद्रित संरचना जिसके माध्यम से प्रकाश और वायु प्रवेश कर सके, जाली कहलाती है। मुगल स्थापत्य में बहुत प्रयोग हुआ है। इसमें ज्यामितिक आकार और अरेबस्क कला शैली का प्रयोग हुआ है।

झरोखा (JHAROKHA, WINDOW or PROJECTING BALCONY) - इमारतों के ऊँचे हिस्से पर बनी अत्यंत अलंकृत खिड़कीनुमा संरचना को झरोखा कहा गया है। इसमें पीछे की तरफ एक चबूतरा बना होता है जिस पर बैठ कर झरोखे से नीचे हो रही गतिविधियों को सहज ही देखा जा सकता है। ऐसे झरोखे को कई बार जाली से ढंका भी गया। यह तरीका राजपूत स्थापत्य शैली में अधिक प्रयोग हुआ और मुगलों ने भी इसे अपनाया।

कोविल या कोइल (KOVIL or KOIL) - तमिलनाडु और केरल में मंदिरों को कोविल या कोइल भी कहा गया है। कोविल को आलयम भी कहते हैं। मंदिर के गर्भगृह को श्रीकोविल कहा गया है। यह आयताकार या चौकोर होता है।

कल्याण मंडप (KALYANA MANDAPA) - दक्षिण भारत में मंदिरों में बना ऐसा कक्ष जहाँ पर देवताओं का विवाह संपन्न किया जाता है।

महामंडप (MAHA MANDAPA) - किसी मंदिर परिसर में कई मंडपों के साथ बनाया गया विस्तृत आकार का मंडप महामंडप या रंगमंडप कहा गया।

कुंड (KUND) - पश्चिमी भारत और दक्षिण कर्नाटक के जल संबंधी अनुष्ठान को पूरा करने के लिए बनाये गये पक्की सीढ़ियां युक्त तालाबों को कुंड या जलकुंड कहा गया है। ये जलकुंड मंदिर के भीतर भी बनाये गये।

कुट्टमबलम (KUTTAMBALAM) - केरल के मंदिरों में बने विस्तृत प्रांगण जिनमें संगीत और अन्य धार्मिक समारोहों का आयोजन होता है।

लखांग (LHAKANG) - लद्दाख के बौद्ध मठों के प्रांगण में बने बड़े कक्ष को लखांग कहा गया है।

मदरसा (MADRASSA) - मदरसा अरबी शब्द है जिसका आशय 'विद्यालय' से है। इनमें धार्मिक शिक्षा (मजहबी तालीम) और अन्य प्रकार की आधुनिक शिक्षाएँ दी जाती हैं।

मंडप (MANDAPA) - दक्षिण भारत के मंदिरों और अन्य सार्वजनिक महत्त्व की इमारतों में बनाया जाने वाला विशाल कक्ष जिनमें पूजा और अन्य सामूहिक कार्यक्रम संपन्न होते हैं। दक्षिण भारत के मंदिरों में यह एक अनिवार्य स्थापत्य है। बड़े मंदिरों में मंडपों की संख्या बढ़ जाती है। ओडिसा में मंडप को जगमोहन कहा गया है। जैन धर्म में इसे मेघनाद मंडप कहा गया है।

मकबरा (MAQBARA) - यह फारसी शब्द है जिसका आशय किसी धार्मिक या उच्च सामंत की कब्र के ढांचे से है। मुगल काल में ऐसी कब्रें प्रायः बगीचे में बनाई गई।

गुरुद्वारा (Gurudwara): सिखों के पूजा स्थल को गुरुद्वारा कहा जाता है। इस धार्मिक महत्त्व की इमारत का रंग श्वेत रखा जाता है और एक बड़े कक्ष में धार्मिक ग्रंथ 'गुरु ग्रंथ साहिब' को बहुत श्रद्धा के साथ रखा जाता है। इस कक्ष की चारों दिशाओं में दरवाजे रखे जाते हैं। इमारत की छत पर अलंकृत शिखर से युक्त धारीदार गुम्बद और छतरियां बनाई जाती हैं। इमारत में झरोखे भी बनाये जाने का चलन है। गुरुद्वारा प्रांगण में भगवा रंग के कपड़े में लिपटी बहुत ऊँची पताका फहराने का भी चलन है। इन पूजागृहों की वास्तुकला पर इंडो-पर्शियन और सिख वास्तुकला का प्रभाव देखा जा सकता है।

मानस्तंभ (MANASTAMBHA) - दक्षिण भारत में बने जैन मंदिरों के प्रांगण में पर्याप्त ऊँचाई वाला स्तंभ मानस्तंभ कहलाता है। इसके शिखर पर चार जैन तीर्थंकरों की चारों दिशाओं में मुँह तथा परस्पर पीठ से जुड़ी मूर्तियाँ लगाई जाती हैं।

मठ (MATHA) - मठ का अर्थ ऐसे संस्थानों से है जहाँ इसके गुरु अपने शिष्यों को धार्मिक शिक्षा और उपदेश देता है। ये मठ सामाजिक कार्यों में भी संलग्न रहते हैं। बौद्ध मठों को विहार कहते हैं। ईसाई धर्म में इन्हें मॉनेट्री, प्रायरी, चार्टरहाउस, एब्बे इत्यादि नामों से जाना जाता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

समाधि (SAMADHI) - हिन्दू शासकों और उच्च पदस्थ लागों का अंत्येष्टि स्थल समाधि कहलाता है। यहाँ पर शव का ...तिम संस्कार करके उस स्थल पर एक चबूतरा बना दिया जाता है राजस्थान में ऐसी समाधि स्थल पर छतरी भी बनाई गई।

मेहराब (MIHRAB) - मध्ययुग में भवन निर्माण की क्रांतिकारी तकनीक जिसने बडे भवन बनाना आसान कर दिया। भारत ... इसका प्रयोग तुर्कों ने किया। यह विशेषता मध्ययुग में बनी मस्जिदों में देखी जा सकती है।

मीनार (MINARET) - मस्जिद की इमारत से संलग्न एक स्तंभनुमा संरचना को मीनार कहा गया। इसका प्रयोग 'अज़ान' के ...ए होता है। कभी बार मीनार को अलग से भी बनाया गया। मुगल काल में बने मकबरों में मीनारें भी बनाई गईं। ये मीनारें मकबरे ... चारों कोने में बनीं। ये परस्पर जुड़ी भी हो सकती थीं और अलग भी।

मिथुन (MITHUNA) - कामरत स्त्री-पुरुष की मंदिर की दीवारों और स्तंभों पर उकेरी गई मूर्तियों को मिथुन कहा गया है। ...नी मूर्तियों को शुभ समझा जाता था। ऐसी मूर्तियाँ बौद्ध एवं जैन मंदिरों में मिलती हैं।

एकाश्म (MONOLITH) - एक ही पत्थर को काट पर बनायी गई संरचना को एकाश्म कहा गया है। प्राचीन बौद्ध विहार, ...त्य, जैन और हिन्दू मंदिर एक ही पत्थर (Rock Cut Temples) को काटकर बनाये जाते थे। कई स्तंभों का निर्माण भी इसी प्रकार ...िया गया है।

मस्जिद (MOSQUE) - इस्लाम धर्म के अनुयायियों का पूजा या इबादत स्थल मस्जिद कहलाता है। इसमें वजू (हाथ-पैर ...ना), मीनार और मेहराब वाली इमारत के साथ किबला दीवार (Quibla Wall) भी बनाई जाती है। किबला का आशय उस दिशा ... है जहाँ मुँह पश्चिम की ओर करके नमाज अदा की जाती है।

आला या ताख (NICHE) - दीवार में बनाया गया खाली स्थान ताकि उसमें कुछ सामान रखा जा सके। मेहराब भी एक ...ृष्टिकोण से ताख ही है।

नटराज (NATARAJA) - नृत्य सम्राट या भगवान शिव का एक अन्य नाम। भगवान शिव की नृत्य करती हुई मूर्तियों को नटराज कहा गया है। दक्षिण में बने चिदम्बरम मंदिर को नटराज मंदिर कहा गया है।

पैगोडा (PAGODA) - बौद्ध स्तूपों और परतदार आकृति में बने स्तंभों के स्थापत्य के लिए यूरोपीय लोगों ने पैगोडा शब्द का प्रयोग किया।

पोल (POL) - पोल का आशय दरवाजे से है। जैसे हाथी पोल का आशय ऐसे दरवाजों से है।

पोर्च (PORCH) - किसी भवन का प्रवेशद्वार। इसकी छत एक तरफ दीवार पर टिकी होती है और दूसरा सिरा खंभों पर।

पोर्टिको (PORTICO) - खंभों के बने हुये गलियारे को पोर्टिको कहा गया है।

रंगमहल (RANG MAHAL) - रंगों से सुसज्जित महल। इस इमारत का प्रयोग मनोरंजक कार्यक्रमों के आयोजन के लिए होता था।

रौजा (RAUJA) - किसी धार्मिक व्यक्तित्व या सामंत का मकबरा। आगरा में बना शाहजहाँ के प्रधानमंत्री मौलाना अफजल खाँ मुल्ला का मकबरा 'चीनी का रौजा' के नाम से मशहूर है। यह इमारत स्थापत्य की दृष्टि से इसलिए महत्त्वपूर्ण मानी जाती है कि यह पहली इमारत है जिसमें सजावट के लिए चमकदार टाइलों का प्रयोग हुआ।

स्तूप (STUPA) - स्तूप का शाब्दिक अर्थ है- किसी वस्तु का ढेर। स्तूप का प्रयोग किसी महान व्यक्ति की चुनी हुई अस्थियों के रखने के लिए किया जाता था। स्तूप एक गुम्बदाकार भवन होता था, जो बुद्ध से संबंधित सामग्री या स्मारक के रूप में स्थापित किया जाता था। महात्मा बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं, जन्म, सम्बोधि, धर्मचक्र प्रवर्तन तथा निर्वाण से सम्बन्धित स्थानों पर भी स्तूपों का निर्माण हुआ। स्तूप के 4 भेद-शारीरिक स्तूप, पारिभोगिक स्तूप, उद्देशिका स्तूप और पूजार्थक स्तूप बताये गये हैं। इसमें मुख्य रूप से छह हिस्से होते हैं पहली वेदिका या रेलिंग - स्तूप की रक्षा के लिए, मेधि या कुर्सी - इस पर स्तूप का मुख्य भाग आधारित होता है, अंड - स्तूप का अर्द्धगोलाकार भाग, हर्मिका - शिखर के अस्थि पात्र की रक्षा के लिए, छत्र या छत्रावली - धार्मिक चिन्ह का प्रतीक, यष्टि का उद्देश्य छत्र को सहारा देने के लिए होता है।

सूर्य मंदिर (Surya Temple) - सूर्य देवता को समर्पित मंदिर। ऐसे मंदिर भारत में कम संख्या में हैं।

कोणार्क (ओडिशा) और गुजरात में मोढेरा में बना सूर्य मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। इनके अलावा गया (बिहार) का दक्षिणेश्वर मंदिर, कुंभकोणम (तमिलनाडु) का सूर्यान्नार कोविल, बंगलुरू में श्री सूर्यनारायण स्वामी मंदिर, असम में सूर्य पहाड़ (गोलपाड़ा) और मध्य प्रदेश में उनाव में बना ब्राह्मणदेव मंदिर भी प्रसिद्ध हैं।

तोरण (TORANA) - किसी नगर या दुर्ग या विशाल भवन का बाहरी फाटक, प्रमुख द्वार को तोरण द्वार कहा जाता है। बौद्ध स्तूपों में भी तोरण बनाये गये हैं।

विहार (VIHARA) - बौद्ध भिक्षुओं और जैन साधुओं के ठहरने के स्थान को विहार कहते हैं।

विमान (VIMANA) - दक्षिण भारत के मंदिरों के गर्भगृह के ठीक ऊपर बने शिखर को विमान कहा गया है। इसकी बाहरी दीवार का बहुत ज्यादा अलंकरण किया गया है। इसका आकार पिरामिड के जैसा होता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation